Printed by
RAMZAN ALI SHAH
At the National Press, Allahabad.

महात्मा सूरदास जी

सूर-साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के प्रवर्त्तक

डा० धीरेन्द्र वर्मा, एम्० ए०, डी० लिट् (पेरिस),

के

कर-कमलों में

भाव नहीं जान पड़ता। परुष रस उनकी रचना में बहुत गौण स्थान रखते हैं।

सम्भव है इसका एक और कारण भी हो। तुलसी और सूर दोनों ने राम-कथा को भी पद-बद्ध किया है। तुलसी की इस प्रकार की रचना में परुष-रसों का उद्‌घाटन नहीं हो सका यद्यपि उनकी प्रवृत्ति इस प्रकार के रस-निरूपण में भी उनका साथ देती थी। उन्हें भी राम के बाल-जीवन के कोमल प्रसंगों की ओर झुकना पड़ा। इससे अनुमान यह होता है कि कदाचित् सूरदास ने जिन विशेष छंदों (पदों) का प्रयोग अपने चरित्र-नायक की कथा कहने के लिये किया उनमें प्राकृतिक रूप से परुष रसों का उद्‌घाटन नहीं हो सकता था। इसके अतिरिक्त सारी कथा एक सूत्र में बँधी भी थी तथा उसकी उत्पत्ति कीर्तन के प्रसंग में हुई। यह गीतात्मकता भी परुष रसों की उपेक्षा में सहायक रही हो तो भी कोई आश्चर्य नहीं।

परन्तु जिन भी रसों का उद्‌घाटन सूरदास ने किया है उनमें उन्होंने अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन पूर्ण रूप से किया है। उसमें उनकी मौलिकता का समावेश हो गया है। वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं, जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यतः हो सकता है वे सब सूर के विप्रलंभ में उपस्थित हैं[1]। शास्त्र में वर्णित इन दशाओं के अतिरिक्त भी अनेक दशायें सूर ने उपस्थित की हैं जिनको खोजकर श्रेणी-बद्ध करने से विप्रलंभ की दशाओं की संख्या-वृद्धि की जा सकती है। मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित करने में सूरदास तुलसीदास से किसी प्रकार कम नहीं हैं यद्यपि उनका क्षेत्र केवल शृङ्गारिक जीवन तक ही सीमित है[2]। बाल-मनोविज्ञान के

---

१. पं० रामचंद्र शुक्ल—भ्रमरगीत सार की भूमिका।
२. डा० रामकुमार वर्मा।

के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं मिलता। यह पद स्पष्टतया भोग-समर्पण के समय पर लिखे गये हैं।

२ नैमित्तिक आचार—नित्य आचारों के अतिरिक्त पूजा-विधि में कुछ नैमित्तिक आचारों की भी व्यवस्था थी। इन नैमित्तिक आचारों का संबंध लोक जीवन के उत्सवों तथा कृष्ण-लीला के उन प्रसंगों से था जो राधा और गोपियों से संबंधित थे। हिंडोला, चाचर, फाग, वसंत इस प्रकार के नैमित्तिक आचार थे। इनके प्रसंग में भी कीर्तन होता था। सूरसागर के संयोग शृङ्गार को परिपुष्ट करने में इन नैमित्तिक आचार संबंधी पदों ने भी महत्वपूर्ण भाग लिया है। इन्हीं से कृष्ण के उस रूप का प्रदर्शन होना सम्भव हुआ है जो उन्हें केवल आनन्दमय है।

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में सूरदास और उनके साहित्य के संबंध में उपस्थित सारी सामग्री से सहारा लिया गया है। डा० जनार्दन मिश्र, पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी, डा० धीरेन्द्र वर्मा तथा पं० रामचंद्र शुक्ल की पुस्तकों तथा लेखों से विशेष सहायता मिली है। इन सभी अग्रजों का आभार मैं हृदय से स्वीकार करता हूँ। सच तो यह है की समालोचना के क्षेत्र में उतरते ही प्रत्येक लेखक को अपने पूर्व के लेखकों के कार्य को अपनी आधार-भूमि बनाना पड़ता है।

सूर-साहित्य के कुछ अङ्गों पर मैंने पहली बार प्रकाश डाला है। अनेक स्थलों पर उसके संबंध में मैंने ऐसे सिद्धान्त उपस्थित किये हैं जो कम से कम उस रूप में सामने नहीं रखे गये है जो रूप मैंने उन्हें दिया है। पता नहीं, यह आलोचकों एवं हिंदी साहित्य के पंडितों को कहाँ तक मान्य हो सकेंगे?

इस पुस्तक को लिखने में मुझे श्री वाचस्पति त्रिपाठी एम्० ए० से अनेक प्रकार की सहायता मिली है, अतः मैं सहयोगी के रूप में उनका नाम दे रहा हूँ।

रामरतन भटनागर

सूरदास की जीवनी

जीवन की छोटी-मोटी बातों को सम्हाल कर रखने और उन्हें आत्म-कथा का रूप देकर काल की गाँठ में बाँधने की परिपाटी हमारे यहाँ प्रचलित नहीं हुई। इसके कई कारण हैं। अन्य देशों के मनीषियों की भाँति ऊपर की चमक-दमक और ऐहिक ऐश्वर्य से भारतीय विचारक प्रसन्न नहीं हुए। वे उन वस्तुओं पर अधिक बल देते रहे जिनका संबंध मनुष्य की देह से कम, उसकी मनश्चेतना और आत्मा से अधिक था। क्षण क्षण की बातों का हिसाब देना उन्हें नहीं आया। दूसरे, वे अत्यन्त नम्र थे। वे सभी ऊँचे दर्जे के तत्त्वदर्शी थे जो अपने को महत्व देना जानते ही नहीं थे। हमारे कवियों ने अवतारों की कथा गाई, लोक-जीवन संबंधी महान आदर्शों को सब के सामने रक्खा। वे जिन चरित्रों की कथायें गाया करते थे वे इतने उच्च थे कि उनके निर्माताओं को उनके सामने अपने जीवन की विज्ञप्ति की बात सूझी ही नहीं।

यदि हम सूरदास की जीवनी के लिए कुछ खोज करते हैं तो हमें इन आधारों की शरण लेनी पड़ती है :—

१—आत्मनिवेदन संबंधी पद।

२—सूरदास के कूट पद।

३—किंवदंतियाँ।

४—इतिहासकारों और अन्य समकालीन लेखकों की रचनाओं के उल्लेख।

५—उनके काव्य में सन्निहित अन्तर्वृत्तियाँ।

आत्मनिवेदन और कूट के रूप में जीवन पर प्रकाश डालने वाली सामग्री बहुत कम है। किवदंतियों पर पूर्ण-रूपेण विश्वास नहीं किया जा सकता है। इतिहासकारों तथा समकालीन लेखकों की रचनाओं पर विश्वास अवश्य किया जा सकता है किन्तु इस प्रकार की सामग्री का भी अभाव ही है। काव्य मे सन्निहित अंतर्वृत्तियों के रूप में मिलने वाली सामग्री जीवन पर प्रकाश डालने के बजाय मनोविज्ञान का विषय हो सकती है, अतः उससे ऐतिहासिक जीवन-वृत्त के निर्माण में अधिक सहायता नहीं मिलती। कवि-चरित्र के संबंध में मनोवैज्ञानिक अध्ययन के लिए सामग्री अवश्य मिलती है।

अब हम इन आधारों को ध्यान में रखते हुये सूरदास की जीवनी के संबंध में विचार करेंगे।

१—आत्मनिवेदन आदि के रूप में स्वलिखित उल्लेख (अंतर्साक्ष्य)—

(क) 'साहित्य लहरी' के एक पद में सूरदास जी की वंशावली के संबंध में इस प्रकार उल्लेख है :—

प्रथम ही प्रथ जगात मे प्राग अद्‌भुत रूप।
ब्रह्म राव विचार ब्रह्मा नाम राखि अनूप॥

पान पय देवी दयो शिव आदि सुर सुख पाय।
कह्यो दुर्गा पुत्र तेरो भयो अति सुख पाय॥

शुभ पार पायन सुरन पितु के सहित अस्तुति कीन।
तासु वंश प्रशंस शुभ में चन्द चारु नवीन॥

भूप पृथ्वीराज दीन्ह्यो तिन्हैं ज्वाला देश।
तनय ताके चार कीन्ह्यो प्रथम आप नरेश॥

दूसरे गुणचन्द्र ता सुत शीलचन्द्र स्वरूप।
वीर चन्द्र प्रताप पूरण भयो अद्‌भुत रूप॥

रन्तभार हमीर भूपत संग सुख अवदात।
तासु वंश अनूप भो हरचन्द्र अति विख्यात॥
आगरे रहि गोपचल में रहो ता सुत वीर।
पुत्र जनमें सात ताके महाभट गम्भीर॥
कृष्ण चन्द्र उदार चन्द्र जो रुप चन्द्र सुभाइ।
बुध चन्द्र प्रकाश चौथो चन्द्र भे सुखदाइ॥
देव चन्द्र प्रबोध षष्टम चन्द्र ताको नाम।
भयो सातो नाम सूरज चन्द मन्द निकाम॥
सो समर कर साहि से सब गये विधि के लोक।
रहो सूरज चन्द्र दृग से हीन भर वर शोक॥
परो कूप पुकार काहू सुनी ना संसार।
सातवें दिन आइ यदुपति कियो आप उधार॥
दिव्य चख दै कही शिशु सुन योगवर जो चाइ।
है कही प्रभु भगति चाहत शत्रु नाश स्वभाइ॥
दूसरो ना रुप देखे देख राधा श्याम।
सुनत करुणासिंधु भाखी एवमस्तु सुधाम॥
प्रबल दच्छिन विप्रकुल तें शत्रु हू है नास।
अखिल बुद्धि विचारि विद्यामान मानै मास॥
नाम राखे है सु सूरज दास, सूर, सुश्याम।
भये अंतरधान बीते पाछली निशि याम॥
मोहि मनसा इहै ब्रज की बसौ सुख चित छाप।
श्री गुसाई करी मेरी आठ मध्ये छाप॥
विप्र प्रथ ते जगा के है भाव सूर निकाम।
सूर है नंदनंद जू के लियो मोल गुलाम॥

उपरोक्त पद से सूरदास की वंश-वृक्ष इस प्रकार है :—

ब्रह्म राव जगात अथवा प्रथा जगात
:
चन्द (पृथ्वीराज के समय में)
|
× | गुणचन्द | × | ×

गुणचन्द
|
शीलचन्द
|
वीरचन्द (हम्मीर के समय में)
:
हरचन्द (आगरा निवासी)
|
* × (गोपचल निवासी)
|
कृष्णचन्द | उदारचन्द | रूपचन्द | बुद्धिचन्द (बुधचन्द) | देवचन्द | प्रकाशचन्द या प्रबोधचन्द† | सूरजचंद (सूरदास)

(ख) सूरदास ने गुरु के संबंध में इस प्रकार लिखा है—

(*i*) श्री गुरु वल्लभ तत्त्व सुनायो लीला भेद बताओ।

---

* इन्हें कुछ लोग रामचंद्र या रामदास कहते हैं। इस पद में नाम नहीं है।

† राधा कृष्णदास ने इन्हें संस्तचंद्र लिखा है। डा० जनार्दन मिश्र ने भी यही नाम माना है।

(*ii*) भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो ।

श्री वल्लभ नख चंद छटा बिनु सब जग मांझ अँधेरो ॥

(ग) सूरदास के समस्त पदों में केवल एक तिथि का एक स्थान पर निर्देश है जो ' साहित्य लहरी ' के निर्माण काल के संबंध में है ।

(*i*) मुनि पुनि रसन के रस लेखं ।

दसन गौरीनंद को लिखि सुवल संवत् पेख ॥
नंद नंदन मास छय ते हीन तृतिया बार ।
नंद नंदन जनम ते है बाण सुख आगार ॥
तृतिय ऋच्छ सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन ।
नंद नंदन दरस हित साहित्यलहरी कीन ॥

मुनि = ७ , रसन = ० , रस = ६ , दसन गौरी नंद नंदन = १ इस प्रकार इस पद से सं० १६०७ निकलता है ।

(*ii*) ' सूर-सारावली ' के समय कवि की आयु ६७ वर्ष की थी जो इस पद से प्रकट होता है ।

गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठि बरस प्रवीन ।

सूर सारावली छंद १००३

(घ) अपनी वृद्धावस्था के सम्बन्ध में कवि ने इस प्रकार कहा है—

बौर मन समुझि समुझि कछु चेत ।

इतनो जन्म अकारथ खोयो श्याम चिकुर भयो सेत ।

स्कं० १ पद २०२

(२) ' वार्ता कारों और समकालीन इतिहासकारों और लेखकों की रचनाओं में सूरदास के सम्बन्ध में इस प्रकार के उल्लेख मिलते हैं—

(क) नाभादास भक्तमाल[१] में सूर संबंधी छप्पय इस प्रकार है :—

सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहिं सिर चालन करै ।

उक्ति चोज अनुप्रास बरन अस्थिति अतिभारी ॥

---

१. इस ग्रंथ का निर्माण सं० १७०० के लगभग हुआ ।

वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुक धारी।
प्रतिबिम्बित दिवि दिष्टि हृदय हरि लीला भासी॥
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।
बिमल बुद्धि गुन और की जो वह गुन श्रवननि करै॥
सूर कवित सुनि कौन कवि जो नहि सिर चालन करै।

भक्तमाल छंद ७२

(ख) 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता[1]' में अष्टछाप के समस्त कवियों के साथ सूरदास की भी कथा है जो इस प्रकार है—

"सो एक समय श्री आचार्य्य महाप्रभू अड़ेल से ब्रज को पांव धारे.........सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हुतौ सो सूरदास जी स्वामी हैं आप सेवक करते सूरदास जी भगवदीय है गान बहुत आछो करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते सो श्री आचार्य्य जी महाप्रभू गऊघाट ऊपर उतरे सो सूरदास जी के सेवक देख के सूरदास जी सों जाय कही सो आज श्री आचार्य्य जी महाप्रभू आय पधारे हैं जिन्ने दक्षिण में दिग्विजय कियो है सब परिडतन को जीते हैं....... तब सूरदास जी अपने स्थल तें आयके श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के दर्शन को आये तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर आवौ बैठो तब सूरदास जी श्री आचार्य्य जी महाप्रभून को दर्शन करिके आगे आइ बैठे तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर कछु भगवद् यश वर्णन करो तब सूरदास जी ने कही जो आज्ञा तब सूरदास जी ने श्री आचार्य्य महाप्रभून के आगे एक पद गायो..........सो सुनिके श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर ह्वैके ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवत्लीला वर्णन करि तब सूरदास जी ने कह्यौ जो महाराज हौं तो समुझत नाहीं तब श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ कि जाय स्नान करि आवौ हम तो को समुझावेंगे तब

---

१. इस ग्रंथ के रचियता गोकुलनाथ (विट्ठलनाथ के पुत्र और महाप्रभु वल्लभाचार्य के पौत्र हैं) जिनका जन्म-संवत् १६०८ है।

सूरदास जी स्नान करि आये तब श्री महाप्रभु जी ने प्रथम सूरदास जी को नाम सुनायो पाछे समर्पण करवाई और दशम स्कंध की अनुक्रमणिका कही सो ताते सब दोष दूर भये तातो सूरदास जी को नवधा भक्ति सिद्धि भई तब सूरदास जी ने भगवत लीला वर्णन करि अनुक्रमणिका ते सम्पूर्ण लीला फुरी सो क्यों जानिये········पाछे सूरदास जी ने बहुत पद किये पाछे श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने सूरदास जी को पुरुषोत्तम सहस्रनाम सुनायो तब सूरदास जी को सम्पूर्ण भागवत स्फूर्तना भई पाछे जो पद किये सो भागवत प्रथम स्कंध ते द्वादश स्कंध पर्य्यात किये·········श्री आचार्य्य जी महाप्रभून गऊघाट ऊपर तीन दिन विराजे पाछे फिर व्रज को पाँव धारे तब सूरदास जी हू श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के साथ व्रज को आये तब श्री महाप्रभू जी अपने श्री मुख सो कह्यौ जो सूरदास जी श्री गोकुल को दर्शन करौ सो सूरदास जी श्री गोकुल को दण्डवत करी सो दण्डवत करत मात्र श्री गोकुल की बाल लीला सूरदास जी के हृदय में फुरी और सूरदास जी के हृदय में प्रथम श्री महाप्रभू ने सकल लीला श्री भागवत की स्थापी है ताते दर्शन करत मात्र सूरदास जी को श्री गोकुल की बाललीला स्फूर्तना भई तब सूरदास जी ने मन में विचार्यो जो श्री गोकुल की बाललीला को वर्णन करि के श्री आचार्य्य जी महाप्रभून के आगे सुनाइये··········तब श्री महाप्रभू जी अपने मन में विचारे जो श्री नाथ जी के यहाँ और तो सब सेवा को मंडान भयो है पर कीर्तन को मण्डान नहीं कियो है ताते अब सूरदास जी को दीजिये·········और सूरदास जी ने सहस्रावधि पद किये हैं ताको सागर कहियै·········सो सूरदास के पद देशाधिपति ने सुने········सो भगवत इच्छाते सूरदास जी मिले सो सूरदास जी सों कह्यौ देशाधिपति ने········ सब गुनीजन मेरो यश गावत हैं ताते तुमहूँ कछु गावो········सो सुनिके देशाधिपति अकबर बादशाह अपने मन में विचार्यो जो ये मेरो यश काहे को गावेंगे·········सो देशाधिपति ने पूंछ्यो जो सूरदास जी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं·········एक समय सूरदास जी मार्ग में जात हुते सो कोई

चौपड़ खेलते हुते ·······सो देख के सूरदास जी के संग भगवदीय हुते तिनसो सूरदास जी ने कह्यौ.........ता उपरांत भगवद् इच्छा जानि जो प्रभुन की इच्छा बुलायवे की है.........जो पारसोली तहाँ सूरदास जी आये.........सो राजभोग आरती करि के श्री गोसाईं जी गिरिराज ते नीचे उतरे सो आप पारसोली पधारे भीतर के सेवक रामदास जी प्रभृति और कुंभनदास जी और गोसाईं जी के सेवक गोविंद स्वामी चतुर्भुजदास प्रभृति और सब श्री गोसाईं जी के साथ आये.........तब सूरदास जी ने एक पद और कह्यौ सो पद :—

खंजन नैन रूप रस माते।

अतिशय चारु चपल अनियारे पल पिंजरा न समाते।
चल चल जात निकट श्रवनन के उलट पलट ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुण अटके नातर अब उड़ि जाते।

इतनो कहते ही सूरदास जी ने या शरीर को त्याग कियो।

(ग) शेख़ अबुलफ़जल के 'आईने अकबरी' नामक ग्रंथ में मुग़ल सम्राट् अकबर के दरबार के प्रसिद्ध संगीतज्ञों के नाम हैं जिनमे दूसरे स्थान पर ग्वालियर-निवासी बाबा रामदास गायक का उल्लेख है और १६ वें स्थान पर बाबा रामदास के पुत्र सूरदास का उल्लेख मिलता है[१]।

(घ) 'मुन्तखावुल तवारीख' का लेखक अलबदाऊनी जिल्द दो पृष्ठ ४२ पर लिखता है :—

व खानखाना हमीं तौर बावजूद आँकि दरखज़ीना हेच न दाश्त एक लक तनका व रामदास लखनवी क अज़ कलावन्तान असलीम शाही दरवादी सरोद औरा सानी मियाँ तानसेन तवान गुफ़ व दर खिलवात व जलवात वा

१. आइने अकबरी पृ० ६१२। इस ग्रंथ का निर्माण-काल संवत् १६५२-५४ है।

खान हमदम व मुहरिम बूद व अज़हुस्न सौत ओद पेवस्ता आब दरदीदा मेगरदानीद दर एक मजलिस अज नग़दो जिन्स बख़शीदा[१]।

(ङ) 'मुंशियात अबुलफज़ल' में अबुलफज़ल का सूरदास के नाम लिखा हुआ एक पत्र है जिसका एक अंश इस प्रकार है।

"हज़रत बादशाह शीघ्र ही इलाहाबाद को पधारेंगे। आशा है कि आप भी सेवा में उपस्थित होकर सच्चे शिष्य होवें। और ईश्वर को धन्यवाद दें कि हज़रत भी आपको परम धर्मज्ञ जानकर मित्र मानते हैं और जब हज़रत मित्र मानते हैं तो इस दरगाह के चेलों और भक्तों का उत्तम बर्ताव मित्रता के अतिरिक्त और क्या होगा। ईश्वर शीघ्र ही आपके दर्शन करावे कि जिसमें हम भी आपकी सत्संगति और चित्ताकर्षक वचनों से लाभ उठावें।

यह सुनकर कि वहाँ का करोड़ी आपके साथ अच्छा बर्ताव नहीं करता हज़रत को भी बुरा लगा है और इस विषय में उसके नाम कोपमय फर्मान भी जा चुका है और इस तुच्छ शिष्य अबुलफ़ज़ल को भी आज्ञा हुई है कि आपको दो चार अक्षर लिखे, वह करोड़ी यदि आपकी शिक्षा नहीं मानता हो तो हम उसका काम उतार लें और जिसको आप उचित समझें, जो दीन दुखी और सम्पूर्ण प्रजा की पूरी संभाल कर सके उसका नाम लिख भेजें तो अर्ज़ करके नियत करा दूँ। हज़रत बादशाह आपको जुदा नहीं समझते, इसलिये उस जगह के काम की व्यवस्था आपकी इच्छा पर छोड़ी हुई है। वहाँ ऐसा हाकिम चाहिये जो आपके आधीन रहे और जिस प्रकार से आप स्थिर करें काम करे आपसे यह पूछना है सत्य कहना है और सत्य करना है। खत्रियों वगैरह में से जिस किसी को आप ठीक समझें कि वह ईश्वर

---

१. खानखाना के पास उस समय अधिक कोष नहीं था परन्तु फिर भी उन्होंने रामदास लखनवी को जो सलीमशाही कलावंतों में से एक था और जो संगीत कला में द्वितीय मियाँ तानसेन था······एक लाख (सिक्के) बख़शीश दिये।

के पहचान कर प्रतिपाल करेगा उसी का नाम लिख भेजें तो प्रार्थना करके भेजूं। ईश्वर के भक्तों के ईश्वर सम्बन्धी कामों में अज्ञानियों के तिरस्कार करने का संशय नहीं होता है से ईश्वर-कृपा से आपका शरीर ऐसा ही है। परमेश्वर आपके सत्कर्मों की श्रद्धा देवे और सत्कर्म के ऊपर स्थिर रक्खे और ज़्यादा सलाम[1]।

(च) बाबा वेनीमाधव दास के 'मूल गोसांई चरित' में सूरदास और तुलसीदास के मिलन का वर्णन इस प्रकार है—

सोरह सै सोरह लगे, कादम गिरिढ़िग बास।
सुचि एकान्त प्रदेश महँ, आए सूर सुदासा ॥ २९ ॥
पठए गोकुल नाथ जी, कृष्ण रंग में बोरि।
दृग फेरत चित्त चातुरी लीन्ह गोसांई छोरि ॥ ३० ॥

कवि सूर दिखाएउ सागर को। सुचि प्रेम कथा नट नागर के।
पद द्वय पुनि गाय सुनाय रहे। पदपंकज पै सिर नाय कहे।
अस आसिस देइय स्याम ढरैं। यह कीरति मोरि दिगंत चरैं।
सुनि कोमल बैन सुदादि दिए। पद पोथि उठाइ लगाय हिए।
कहे स्याम सदा रस चाखत हैं। रुचि सेवक की हरि राखत हैं।
तिनके नहिं संसय है यहिमां। स्रुति सेप बखानत हैं महिमा।
दिन सात रहे सत' सङ्ग पगे। पद कंज गहे जब जान लगे।
गहि बाँह गोसांई प्रबोध किए। पुनि गोकुल नाथ के पत्र दिये।
लै पाति गये जब सूर कवी। उर में पधराय के स्याम छवी[2]।

गोस्वामी तुलसीदास परिशिष्ट पृ० २२९-२३०

---

१. सूरदास जी का जीवन चरित—ले० मु० देवी प्रसाद पृ० ३०-३१

२. डा० माताप्रसाद गुप्त की खोजों ने इस ग्रंथ के अप्रामाणिक सिद्ध कर दिया है। अतः, हम इस उद्धरण पर आगे चलकर विचार नहीं करेंगे।

सूरदास के संबंध में तीन किंवदंतियाँ प्रचलित हैं—

(क) वे अंधे थे।

सूर सागर का वह पद जो गुरुवंदना में लिखा गया है इस किंवदंती की पुष्टि करता है।[१]

(ख) उन्होंने सवालाख पद बनाए।

"सूरदास के सवालक्ष पद बनाने की किंवदंती जो प्रसिद्ध है ठीक विदित होती है क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य्य के शिष्य होने के उपरान्त और सारावली के समाप्त होने तक बनाए। इसके आगे पीछे अलग ही रहे[२]"।

(ग) सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे।

अब हम ऊपर दी गई सामग्री पर आलोचनात्मक विचार करेंगे। 'साहित्य लहरी' के जिस पद से सूर के वंश-वृक्ष का निर्माण होता है मिश्र बंधु के अनुसार वह प्रक्षिप्त है[३]। इस पद में एक पंक्ति इस प्रकार है "प्रबल दच्छिन विप्रकुलतें शत्रु ह्वै है नास!" इससे मुग़लों के पतन और पेशवाओं के अभ्युदय का निर्देश मिलता है किन्तु यह घटना सूरदास से लगभग दो सौ वर्ष पीछे की है। इसके अतिरिक्त जहाँ इस पद में सूरदास को भाट सिद्ध किया गया है वहाँ 'चौरासी वार्ता' में उन्हें स्पष्टतः ब्राह्मण कहा है। 'चौरासी वार्ता' की प्रामाणिकता में संदेह नहीं है। अतएव इस पद के उल्लेख पर विश्वास नहीं किया जा सकता।

वल्लभाचार्य्य उनके गुरु थे, यह अन्तर्साक्ष्य और 'चौरासी वर्ता' से भली भाँति प्रगट है। 'चौरासी वार्ता' से यह भी प्रगट होता है कि

---

१. सूर कहा कहि दुविध आंधरो बना मोल को चेरो।

२. सूरसागर की भूमिका पृ० २ (खेमराज श्री कृष्णदास का संस्करण)।

३. हिन्दी नवरत्न २३६ पृ०।

वल्लभाचार्य्य की भेंट से पहिले भी सूरदास भगवद्भक्त समझे जाते थे और वे शिष्य बनाया करते थे।

सूरदास ने दो ग्रंथ बनाए हैं। इनमें साहित्य लहरी की रचना सं० १६०७ में हुई। इस समय के लगभग ६७ वर्ष की आयु में सूर सारावली का निर्माण किया। इस गणना से सूरदास का जन्म सं० १५४० के लगभग सिद्ध होता है। सूरदास बहुत वृद्धावस्था तक जीवित रहे। ६७ वर्ष की अवस्था का उल्लेख तो उनके पद में ही मिलता है, सम्भव है कि वे इसके बाद भी बहुत दिनों तक जीवित रहे।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता से सूरदास के संबंध में बहुत सी बातों का पता चलता है। महाप्रभु वल्लभाचार्य्य से भेंट होने के पहिले सूरदास आगरे के पास गऊघाट पर रहते थे। उनकी कीर्ति भी इधर उधर फैल गई थी। उस समय वे दासभाव से भगवान की उपासना करते थे और विनय, दीनता आदि के पद बनाया करते थे। वल्लभाचार्य ने उन्हें पुष्टि मार्ग में दीक्षित किया। उनके अनुरोध पर भागवत के दशमस्कंध की कृष्ण लीला उन्हें सुनाई और उस लीला के अर्थ उन्हें बताये। इस समय के बाद से सूरदास ने विनय के पद गाना छोड़ दिया और कृष्ण लीला को ही एक मात्र अपना विषय बनाया। तीन दिन बाद जब आचार्य्य ब्रज गये तो इन्हें भी साथ लेते गए। वहाँ श्री गोकुल का दर्शन करने के उपरान्त सूरदास ने बाल लीला के संबंध में पद बनाना आरम्भ किए। इन बाल लीला के पदों से प्रसन्न होकर महाप्रभु ने श्री नाथ जी के कीर्तन पर इन्हें नियुक्त किया। कीर्तन के संबंध में सूरदास ने 'सहस्रावधि' पद गाये। ये ही पद सूरसागर नाम से प्रसिद्ध हुये। चौरासी वार्ता में सूरदास और अकबर की भेंट का उल्लेख है। जिस प्रकार से इस भेंट की कथा कही गई है उससे यह प्रगट होता है कि इसका उद्देश्य सम्प्रदाय की महत्ता भी दिखाना था। सम्राट ने उनसे विनती की कि वे उसकी प्रशस्ति में कुछ पद कहें। किन्तु सूरदास ने अस्वीकार कर दिया। सम्भव है अकबर सूरदास से उनके स्थान पर ही

मिला हो क्योंकि अकबर धार्मिक प्रवृत्ति का था और संतों और भक्तों से मिला करता था।

'चौरासी वार्ता' से यह स्पष्ट नहीं होता कि सूरदास अंधे थे या नहीं। अकबर वाले प्रसंग से उनका अंधा होना सिद्ध है[१] उनके अंतिम पद " भरोसो दृढ़ इन चरणन केरो " में उन्होंने अपने को ' द्विविधि आँधरो ' कहा है[२]। इससे भी सूरदास की नेत्रहीनता प्रमाणित होती है। परन्तु वार्ता प्रसंग ३ में सूरदास जी के चौपड़ खेलते लोगों के देखने का भी उल्लेख है। अतः इस विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। किंवदंतियों से उनका अंधा होना ही सिद्ध होता है। परन्तु अकबर के हृदय में जो बात उठी थी वही सूर साहित्य के समालोचक के हृदय में भी उठती है। अकबर ने पूँछा था " बिन देखे तुम उपमा को देत हौ सो तुम कैसे देत हौ।" सूरदास ने अनेक प्राकृतिक दृश्यों और रंगरूप के संबंध में उपमायें और उत्प्रेक्षायें कही हैं जो इतनी स्वाभाविक एवं वास्तविक हैं कि पूर्वानुभव के बिना उन्हें उपस्थित करना असम्भव था। उन्होंने प्रत्येक वस्तु का विशद और सूक्ष्म चित्रण किया है। जन्मांध कवि के लिये यह बात असम्भव प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त जहाँ जहाँ कवि ने नेत्रहीनता का उल्लेख अपने पदों में किया है वहाँ वहाँ अपनी वृद्धावस्था का भी उल्लेख किया है। इन सब बातों पर विचार करते हुये यह अनुमान किया जा सकता है कि सूरदास जन्मांध नहीं थे। परन्तु प्रौढ़ावस्था पार करते करते वे नेत्र विहीन हो गये। अकबर से भेंट होने के पहिले वे प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके होंगे। उस समय वे नेत्र हीन थे। इस प्रकार अनुमान करने से उन सब लेखों का सामंजस्य हो जाता है जो सूरदास की नेत्रहीनता के संबंध में पाये जाते हैं।

---

१. " देशाधिपति ने पूँछो जो सूरदास जी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाहीं "।

२. नेत्रांध. हृदयांध।

वार्ता से यह भी पता लगता है कि सूरदास की मृत्यु पारसोली में हुई। सूरदास जी की अचेतावस्था की सूचना पाकर विट्ठलनाथ जी स्वयं पारसोली पहुँचे। उनके साथ रामदास, कुम्भनदास, गोविंदस्वामी और चतुर्भुजदास के जाने का उल्लेख मिलता है। इन्हीं सबों के सम्मुख सूरदास जी ने शरीर त्याग किया।

समसामयिक फ़ारसी इतिहास-ग्रंथों के सूरदास संबंधी उल्लेखों में सामंजस्य बैठाना कठिन है। इनमें दो उल्लेख अबुलफ़ज़ल के हैं और एक अलबदाउनी का। अबुलफ़ज़ल और अलबदाउनी दोनों ने किसी रामदास का ज़िक्र किया है परन्तु उसके जन्म-स्थान के संबंध में दोनों में मतभेद है। अबुलफ़ज़ल के अनुसार रामदास ग्वालियर का निवासी था परन्तु अलबदाउनी ने स्पष्ट लिखा है कि वह लखनऊ से आया था। रामदास के संबंध में इसके अतिरिक्त और कुछ विशेष पता नहीं लगता। यह स्पष्ट है कि दोनों इतिहासकारों ने एक ही व्यक्ति का उल्लेख किया है। जनश्रुति के अनुसार प्रसिद्ध गवैया रामदास ग्वालियर निवासी था। अलबदाउनी के लेख में जो भ्रान्ति मिलती है उसका कारण ठीक ठीक बताया नहीं जा सकता।

रामदास को सूरदास का पिता मानने का कारण आइने-अकबरी वाला उल्लेख ही है। परन्तु उससे वह सिद्ध नहीं होता कि वास्तव में आइने अकबरी में उल्लिखित सूरदास गवैया सूरसागर का रचयिता सूरदास था। रामदास को सूरदास का पिता मानने का भी कोई अन्य प्रमाण नहीं मिलता। प्रक्षिप्त पद में से डा० ग्रियर्सन ने सूरदास के पिता का नाम रामचंद्र निकाल लिया है। उनका कथन है कि कदाचित् सूरदास के पिता रामदास का नाम अकबर के दरबार में जाने से पहिले रामचंद्र ही रहा हो। किन्तु प्रक्षिप्त पद से इस प्रकार के अर्थ नहीं निकलते। उसमें सूरजदास के पिता का नाम दिया हुआ नहीं है। केवल सूरदास के नाम साम्य के कारण रामदास को सूरदास का पिता मान लेना अनुचित है। बहुत सम्भव है कि आइने अकबरी के रामदास

और सूरदास पिता पुत्र सूरसागर के रचयिता सूरदास और उनके पिता से भिन्न व्यक्ति हों।

अलबदाउनी के उल्लेख से यह स्पष्ट होता है कि सूरदास स्थिर रूप से बनारस में रहते थे, यद्यपि वे ईश्वर के भक्त माने जाते थे परन्तु वे इतनी उच्चश्रेणी के संत नहीं समझे जाते थे कि दीनइलाही मत का प्रवर्त्तक अकबर उन्हें अपने से बहुत ऊँचा मानता। पत्र में आशा प्रगट की गई है कि सूरदास बादशाह की सेवा में उपस्थित होकर सच्चे शिष्य होंगे। पत्र में कोई तिथि नहीं दी गई है। परन्तु अकबर सं० १६५२ ई० में इलाहाबाद गया था अतः ये पत्र उसी समय के लगभग लिखा गया होगा। इस समय सूरदास की आयु १०२ वर्ष रही होगी। इस अवस्था प्राप्त भक्त के लिए एक कोड़ी के व्यवहार की शिकायता मुग़ल सम्राट् तक पहुँचाना उपहासास्पद जान पड़ता है—और न उससे यह आशा की जा सकती है कि वह बनारस से इलाहाबाद चलकर हज़रत बादशाह से मिलेगा। यदि सूरदास अकबर के दरबार में न भी हों तब भी उस समय के हिन्दू गायकों में उनकी अत्यन्त प्रसिद्धि रही होगी। अकबर के दरबार के अधिकांश गवैये स्वयं कुछ पद-रचना करते थे और अन्य कवियों और भक्तों के पद भी गाया करते थे। ऐसी दशा में अबुलफ़ज़ल सूरदास से अपरिचित न रहे होंगे। पत्र में इस तरह की कोई ध्वनि नहीं मिलती। अनुमान यह होता है कि यह पत्र किसी अन्य सूरदास को ही लिखा गया। इस पत्र की तिथि से सूरदास के सबंध में किसी तिथि का निश्चित कर लेना दूर की कल्पना है।

सम्भव है जिस रामदास के पुत्र सूरदास का उल्लेख आइने अकबरी में किया है वह मदन मोहन सूरदास नाम के कवि हों जिनका उल्लेख भक्तमाल छप्पय १२६ में मिलता है। इस छप्पय की टीका करते हुये प्रियादास ने लिखा है कि ये अकबर के प्रिय थे और उसने उन्हें संडीला ज़िले का अधिपति बना दिया था। परन्तु निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं

जा सकता। अकबर के दरबार के कवियों के नाम एक पद में इस प्रकार मिलते हैं—

पाइ प्रसिद्धि पुरन्दर ब्रह्म सुधारस अमृत अमृत बानी।
गोकुल गोप गोपाल गनेस गुनी गुन सागर गंग सुज्ञानी॥
जोध जगन्नज भे जगदीस जगामग जैत जगत्त है जानी।
को अकब्बर सैन कथीं इतनै मिलि कै कविता जु बखानी॥

इस पद में सूरदास का नाम नहीं आया है। परन्तु इसे फिर भी तर्क के रूप में उपस्थित नहीं किया जा सकता क्योंकि नरहरी करन, बीरबल, खानखाना, गंग आदि कुछ प्रमुख दरबारी कवियो का नाम इसमें नहीं आया है। जो हो, सूरसागर के रचयिता सूरदास का अकबर के दरबार से संबंधित होना अब तक प्राप्त प्रमाणों से किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता।

वास्तव में सूर एक प्रचलित नाम अथवा उपनाम था और जहाँ तक संभव है सूरसागर के रचयिता सूरदास पहिले सूर नहीं थे। हो सकता है कि उनके समय में कुछ अन्य भक्त कवि इस नाम अथवा उपनाम से कविता करते हों और दरबार से उनका संबंध रहा हो। इन अनेक सूरदास के कारण इतिहासकारों और कथा-लेखकों में अनेक भ्रान्तियाँ फैल गई हैं और जनश्रुति ने इनके जीवन-चरित्रों को कुछ इस प्रकार मिला दिया है कि उनको अलग अलग करना कठिन हो गया है। इन सब में केवल एक ही बात एक समान मिलती है - इनके नायक नेत्र हीन थे। भक्तमाल, छप्पय ४६ में एक बिल्वमंगल सूर की कथा है। इस कथा का नायक एक युवती से प्रेम करने लगा था। जब उसे पश्चाताप हुआ तो उसने उस स्त्री से प्रार्थना की कि वह उसकी आँखें निकाल ले। स्त्री के ऐसा करने पर वह नेत्रहीन हो गया इसी प्रकार की एक जनश्रुति सूरदास के संबंध में भी मिलती है परन्तु सूरदास की रचना के अध्ययन से इस विषय में कुछ पुष्टि नहीं होती। यह जान पड़ता है कि जनश्रुति ने सूरसागर के सूरदास और बिल्वमंगल सूर को एक मान लिया है। सम्भव है इसी प्रकार अन्य नेत्र विहीन भक्त-कवियों के जीवन चरित्र की कुछ बातें भी सूर के जीवन चरित्र में मिल चुकी हैं जिन्हें निश्चित

रूप से अलग अलग करना कठिन है¹—जनश्रुति के अनुसार सूर का अंधा होना सिद्ध है इस पर हम पहिले विचार कर चुके हैं। दूसरी जनश्रुति का कहना है कि सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे। कुछ लोग सूरदास को चंद्रवंशीय भाट मानते हैं परन्तु अब वे पद जिसमें उनके चंद्रवंशीय होने का उल्लेख हैं प्रक्षिप्त सिद्ध हो गये हैं। चौरासी वार्ता में सूरदास को ब्राह्मण कहा गया है। भक्त विनोद में मियांसिंह ने भी सूरदास को ब्राह्मण कहा है। इस दशा में उन्हें ब्राह्मण मानना ही अधिक उचित है। एक जनश्रुति के अनुसार सूर का जन्म-स्थान दिल्ली के निकट सिही ग्राम है, परन्तु चौरासी वार्ता की टीका में उनका जन्म-स्थान रुनकता ग्राम बताया गया है जिसकी स्थिति

---

१. राधाकृष्ण दास के अनुसार इतने सूरदासों का वर्णन ग्रंथों में मिलता है—

(१) सूरदास-मदन मोहन-सूरध्वजी ब्राह्मण; अकबर के समय में संडीले के चकलेदार

(२) वृंदावनस्थ संकेत वट-निवासी सूरदास। ध्रुवदास जी ने इनका उल्लेख इस प्रकार किया है—

"सेयो नीको भाँति सों श्री संकेत स्थान।
रह्यो बधाई छाँडि कै सूरज द्विज कल्यान॥"

(३) विल्वमंगल सूरदास।

(४) वह सूरदास जिनका उल्लेख महाराज रघुराज सिंह ने अपनी "राम रसिकावली भक्तिमाला" में किया है।

डा० ग्रियर्सन ने सूदन का हवाला देते हुए इनके अतिरिक्त एक अन्य सूरदास का उल्लेख किया है।

राधास्वामी सम्प्रदाय में भी एक सूर साहब (सूरदास) प्रसिद्ध हैं। इनके पद संतों के जैसे हैं।

नागरी प्रचारिणी पत्रिका भाग ४

मथुरा और आगरे के बीच में है। परन्तु सम्भव है कि इस पिछले अनुमान का कारण 'चौरासी वार्ता' हो जिसमें सूरदास का यह स्थान गऊघाट बताया गया है[1]।

जनश्रुति सूर के जन्म-स्थान के विषय में अधिक सहायता नहीं देती। परन्तु सूर की ब्रजभाषा का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका जन्म ब्रज प्रदेश में हुआ होगा। किसी निश्चित स्थान को उनका जन्म-स्थान बताना कठिन अवश्य है। इस प्रकार सूरदास के जीवन-वृत्त के संबंध में अनेक आधारों को लेकर तर्क-वितर्क करते हुये हम केवल कुछ थोड़े से निश्चित सिद्धान्तों पर पहुँच सकते हैं जिनमें से अधिकांश का आधार चौरासी वार्ता होगी।

सूर का जन्म सं० १५४० में ब्रज प्रदेश में हुआ। वे जन्मांध नहीं थे। कदाचित् तरुणावस्था में वे विरक्त हो गए और गऊघाट पर स्थान बनाकर रहने लगे। उस समय वे एक साधारण वैष्णव भक्त थे। किन्तु धीरे धीरे वे प्रसिद्ध हो गये और उनके अनेक शिष्य बन गए। सं० १५७६ वि० में महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने पूर्णमल के मन्दिर में श्रीनाथ जी की पुनः स्थापना की। कदाचित् उसी समय के लगभग ब्रज प्रदेश का परिभ्रमण करते हुये वे गऊघाट पर आ निकले। सूरदास जी ने आचार्य्य जी से भेंट की और उनके आज्ञानुसार अपने विनय के पद सुनाये। आचार्य्य ने उन्हें पुष्टि मत में दीक्षित किया। उन्हें भागवत की कथा सुनाकर भगवत् लीला गाने को कहा। अपनी मृत्यु तक सूरदास जी ने 'सहस्रावधि' पद गा लिये थे। जिनमें कृष्ण-लीला के साथ भगवान् के अन्य अवतारों की कथा भी कही थी। सम्भव है कि कृष्ण-चरित्र को छोड़कर अन्य अवतारों की कथा भागवत के उन अंशों का स्वतंत्र उल्था हो। उन्होंने ६७ वर्ष की आयु में (सं १६०७ वि०) अपनी रचनाओं का अधिकांश भाग पूरा कर लिया था। वृद्धावस्था के साथ वे कदाचित् नेत्र-हीन भी हो गए। उस समय उनकी प्रसिद्धि चतुर्दिक

---

१. सो गऊघाट आगरे और मथुरा के बीचो बीच है।

फैली हुई थी और कदाचित् सम्राट ने उनसे भेंट की[1]। पुष्टिमार्ग के अन्य भक्त उनको बड़ी श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उन्होंने उन्हें पुष्टिमार्ग का जहाज़ कहा है। पारसोली ग्राम में महाप्रभु वल्लभाचार्य्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ के सम्मुख उनकी मृत्यु हुई। विट्ठलनाथ राजभोग का नित्य-कर्म समाप्त करके सूरदास की मृत्युशय्या पर पहुँचे थे[2]। राजभोग का समय सबेरे प्रायः दस-ग्यारह बजे तक है। अतः सूर का निधन दोपहर को हुआ होगा।

---

१. देखो 'वार्ता'।

२. अणुभाष्य की भूमिका में लिखा है कि अकबर सं० १६२८ के लगभग वृन्दावन आया तथा वहाँ श्री गुँसाईं जी को बुलाकर धर्मवार्ता की। 'वार्ता' के टीकाकार हरिराय ने लिखा है कि अकबर का भेंट का आग्रह तानसेन के मुख से सूरदास के पद सुनकर हुआ। तानसेन अकबर के दरबार के सं० १६२१ (१५६४ ई०) में आये, ऐसा प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ का मत है। परन्तु यह घटना वल्लभाचार्य के प्रत्यक्ष में घटी, इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। अनुमान यह हो सकता है कि अकबर सूरदास की भेंट सं० १६२१ के पश्चात् परन्तु वल्लभाचार्य के निधन के बाद हुई क्योंकि तब तक सूर इतने प्रसिद्ध नहीं हुए होंगे। कई कारणों से हमारा मत है कि इस भेंट के समय सूरदास वयोवृद्ध हो चुके थे और कदाचित् सूरसागर की रचना कर चुके थे। १६४० या १६५२ की प्रयाग वाली भेंट हमें स्वीकार नहीं।

यह भेंट कहाँ हुई, यह भी निश्चित नहीं। हरिराय भेंट का स्थान मथुरा बतलाते हैं, रघुराजसिंह दिल्ली, देवी प्रसाद फ़तहपुर सीकरी, अबुल-फ़जल प्रयाग। बहुत संभव है कि यह भेंट मथुरा में ही हुई हो। प्रयाग को हम अस्वीकार कर चुके हैं। फ़तहपुर सीकरी १६३१—१६४० वि० तक राजधानी रही। हमने भेंट-काल के संबंध में जो मत बनाया, उससे यह स्थान भी उपयुक्त नहीं जान पड़ता। दिल्ली को हम न स्वीकार कर सकते हैं, न अस्वीकार।

सूरदास के ग्रंथ

नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट में सूरदास के १६ ग्रंथों का उल्लेख किया गया है[1]। ये सब ग्रंथ सूरदास के नहीं हो सकते क्योंकि इनमें से कुछ में सूरदास की प्रिय शैली और विषय की भिन्नता है। इनमें से कई तो सूरसागर के ही कुछ पदों के संग्रह मात्र हैं। भक्तों ने अपनी सुविधा के अनुसार उन्हें अलग-अलग कर लिया है। गोवर्धन लीला बड़ी, दशम स्कंध का टीका, नाग-लीला, भागवत आदि तो सूरसागर के भाग अवश्य ही हैं क्योंकि यह सम्भव नहीं सूरदास सूरसागर में आने वाले इन्हीं विषयों का अलग से पुनः वर्णन करते। वास्तव में इनके छंद सूरदास के ही छंद हैं। डा० जनार्दन मिश्र ने अपनी पुस्तक में सूरसागर के उन पदों को प्रक्षिप्त माना है जो सूरजदास और सूरश्याम के नाम से आये हैं। यदि यह ठीक मान लिया जाय तो जो ग्रंथ सूरजदास के नाम से मिलते हैं उन्हें सूरदास का नहीं कहा जा सकता। सूरजदास के नाम से दो ग्रंथ पाये जाते हैं—एकादशी महात्म्य और राम-जन्म।

इसके अतिरिक्त नल-दमयंती और ब्याहलो नाम के दो ग्रंथ भी सूरदास के ही कहे जाते हैं परन्तु डा० मोतीचंद की खोज से नल-दमयंती वास्तव में नल-दमन नाम का सूफ़ी प्रेमाख्यानक काव्य सिद्ध हुआ है जिसे सं० १६८५ में किसी सूरदास ने लिखा। 'ब्याहलो' के संबंध में अभी कोई मत निश्चित नहीं है।

---

१. गोवर्धन लीला बड़ी, दशम स्कंध टीका, नाग-लीला, पद-संग्रह, प्राणप्यारी (श्याम सगाई), ब्याहलो, भागवत, सूरपचीसी, सूरदास जी का पद, सूरसागर, सूरसागर सार, एकादशी माहात्म्य, राम-जनम, सूरसारावली, साहित्य लहरी और नल-दमयन्ती।

अब सूरदास के तीन ग्रंथ रह जाते हैं। सूरसागर, सूरसारावली और साहित्य लहरी। इन तीन ग्रंथों के तुलनात्म अध्ययन करने से पता लगता है कि वे वास्तव में तीन ग्रंथ नहीं हैं। सूरसारावली, जैसा कि उसके नाम से ज्ञात होता है, स्वतंत्र ग्रंथ होने के बजाय सूरसागर की अनुक्रमणिका समझी जा सकती है। सम्भव है कि स्वयं सूरदास ने इन पदों की रचना की हो और इन्हें सूरसागर की भूमिका स्वरूप रख दिया हो। ग्रंथ के पहिले उसके विषय के परिचय देने की प्रणाली हमारी साहित्य-परम्परा में चली आती है। तुलसीदास ने भी अपने मानस में राम-कथा का परिचय बाल-काण्ड में ही दे दिया है। कदाचित् सूरदास ने भी यही बात की हो। परन्तु इससे कहीं अधिक सम्भव यह है कि सारावली का निर्माण किसी अन्य व्यक्ति ने किया हो क्योंकि उसमें कथा को जिस क्रम और विस्तार से उपस्थित किया गया है वह क्रम और विषयों का उसी अनुपात में विस्तार सूरसागर में नहीं मिलता। उसके अन्तिम पद तो अवश्य प्रक्षिप्त हैं। सूरदास के एक लक्ष[1] पद गाने की बात इस स्थल के सिवाय और कहीं लिखी नहीं मिलती। वार्ताकार ने अधिक सतर्कता से काम लिया है उनके अनुसार सूर ने 'सहस्रावधि' पद लिखे हैं। एक लक्ष पद लिखने का कोई अन्य प्रमाण न मिलने के कारण तथा सारावली के क्रम, अनुपात और विषय में भेद होने से इस धारणा की पुष्टि होती है। यदि सारावली और सूरसागर की तुलना सूक्ष्म रूप से और विस्तारपूर्वक की जाय तो उसमें अनेक स्थल ऐसे मिलेंगे जो सूरसागर में नहीं हैं। सारावली में कृष्ण की संयोग लीला, वसंत, हिंडोला और होली आदि के प्रसंग कृष्ण के कुरुक्षेत्र से लौटाने की कथा के बाद लिखे गये हैं। जान पड़ता है कि सारावली के लेखक का दृष्टिकोण ही दूसरा है। कृष्ण-कथा को इस रूप में उपस्थित करके वह राधाकृष्ण की लीला के नित्य और चिरानंदमय रूप को प्रतिष्ठित करना चाहता है[2]। परन्तु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता।

---

१. ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।

२. वृंदावन हरि यहि विधि क्रीड़त सदा राधिका संग।

हम यह नहीं कह सकते कि सारावली सूरसागर की अनुक्रमणिका है अथवा पृथक् स्वतंत्र ग्रंथ[१]।

अब रही साहित्य लहरी की बात। यह ग्रंथ भी सूरसागर से ही निकाला गया है। इसमें सूरसागर के वे पद हैं जिनमें अपेक्षाकृत पाण्डित्य अधिक है और जो नायिका भेद, अलंकार एवं रसनिरूपण आदि के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते थे। इसमें अनेक पद दृष्टिकूट के हैं। इनमें से कुछ पद सूरसागर में भी हैं। कुछ ऐसे पद भी हैं जो सूरसागर में नहीं मिलते[२]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल सूरसागर ही प्रामाणिक ग्रंथ है। अन्य ग्रंथ या तो उन्होंने लिखे ही नहीं या ये सूरसागर के ही

भोर निशा कबहूँ जानत हैं सदा रहत इकरंग। पद नं० १०६६
सघन कुंज में खेलत गिरिधर मथुरा की सुधि आई।
राखे ब्रज राधिका रानी अन न सकोगे जाई। पद नं १०६७

१. वास्तव में सूरसारावली के क्रमबद्ध नहीं किया गया है। राधाकृष्ण दास ने जिस ग्रंथ से सहारा लिया है उनमें सूरसारावली का प्रथम पद इस प्रकार है—" खेलत एहि विधि हरि होरी हो होरी हो वेद विदित यह बात !! " और उनके कथनानुसार होली में ही ग्रंथ की समाप्ति की है। उनका कहना है कि सूरदास ने संसार के होली के रूपक में हमारे सामने रक्खा है। सारावली की सृष्टि की कल्पना और सूरसागर की सृष्टि विषयक कल्पना में भी मेल ठीक नहीं बैठता। यदि सूरसारावली के पदों के सूरसागर के पदों के विषय के क्रम के अनुसार क्रमबद्ध किया जाय, तो यह पता चल सकता है कि यह ग्रंथ कहाँ तक सूरसागर की अनुक्रमणिका कहा जा सकता है। संभव है उस समय इसके रचयिता के विषय में भी प्रकाश पड़े। हमने बंबई के संस्करण का उपयोग किया है।

२. ' साहित्य लहरी ' के संबंध में विशेष विचार हम आगे चल कर उपस्थित करेंगे।

अंग हैं। जो हो, इसी एक ग्रंथ[1] के आधार पर हमें सूर की महानता का पता लग जाता है।

सूर के ग्रंथ का कितना भाग प्रक्षिप्त है, यह नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है उनके बाद "सूरदास" और "सूरश्याम" नाम से लीला के पद बनाने की शैली ही चल पड़ी थी वास्तव में "सूरश्याम" और 'सूर' अथवा 'सूरदास' के विभिन्न उपनामों के प्रयोग ने जनता का ध्यान पहले ही आकर्षित कर लिया था। इसलिए यह कथा प्रचलित हो गई कि 'सूरश्याम' नाम के पद स्वयम् कृष्ण (श्याम) ने बनाये और इस प्रकार सवालक्ष पद की पूर्ति की। अभी तक इन दो उपनामों के प्रयोग के रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ है, परन्तु संभव है सूरदास कई उपनाम प्रयोग में लाते थे। वास्तव में नामों पर मोह अधिक नहीं था। तुलसी ने अपने पात्रों के नामों के अर्थ लगा कर अनुवाद तक कर डाला है। डा० जनार्दन मिश्र का कहना है कि सूरश्याम नाम के पद प्रक्षिप्त हैं परन्तु ऐसे पदों में भी अत्यंत उच्चकोटि की काव्य प्रतिभा मिलती है। अतएव उनका कथन प्रमाण सिद्ध न होने तक हम इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।

१- वास्तव में सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है, वरन कई ग्रंथों का संग्रह है। इस दृष्टिकोण से हम उसका विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) विनय, वैराग्य, सतसंग, गुरु-महिमा संबंधी मौलिक पद (२) बाल लीला (३) प्रेम लीला (४) दान लीला (५) छोटी मान लीला (६) बड़ी मान लीला (७) विरह लीला (८) दो भ्रमर गीत (९) सारे ग्रंथ में फैला हुआ छंदों में समस्त श्रीमद्भागवत की कथा का उल्था (इनमें छंदोबद्ध तीसरा भ्रमर गीत भी सम्मिलित है)। यह विभाजन दशम स्कंध पूर्वार्द्ध का है। उत्तरार्द्ध में भी नन्द-यशोदा और राधा-माधव मिलन संबंधी मौलिक पद मिलते हैं। सच तो यह यह है कि सूर-साहित्य में ये अनेक छोटे-बड़े ग्रंथ है यद्यपि सुविधा के लिये इस अध्याय में हमने सूरसागर को एक ग्रंथ लिखा है।

हम यह नहीं कह सकते कि सारावली सूरसागर की अनुक्रमणिका है अथवा पृथक् स्वतंत्र ग्रंथ[1]।

अब रही साहित्य लहरी की बात। यह ग्रंथ भी सूरसागर से ही निकाला गया है। इसमें सूरसागर के वे पद हैं जिनमें अपेक्षाकृत पाण्डित्य अधिक है और जो नायिका भेद, अलंकार एवं रसनिरूपण आदि के उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते थे। इसमें अनेक पद दृष्टिकूट के हैं। इनमें से कुछ पद सूरसागर में भी हैं। कुछ ऐसे पद भी हैं जो सूरसागर में नहीं मिलते[2]।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल सूरसागर ही प्रामाणिक ग्रंथ है। अन्य ग्रंथ या तो उन्होंने लिखे ही नहीं या ये सूरसागर के ही

भोर निशा कबहूँ जानत हैं सदा रहत इकरंग। पद नं० १०६६
सघन कुंज में खेलत गिरिधर मथुरा की सुधि आई।
राखे व्रज राधिका रानी अन न सकोगे जाई। पद नं १०६७

१. वास्तव में सूरसारावली को क्रमबद्ध नहीं किया गया है। राधाकृष्ण दास ने जिस ग्रंथ से सहारा लिया है उनमें सूरसारावली का प्रथम पद इस प्रकार है—"खेलत एहि विधि हरि होरी हो होरी हो वेद विदित यह बात !!" और उनके कथनानुसार होली में ही ग्रंथ की समाप्ति की है। उनका कहना है कि सूरदास ने संसार को होली के रूपक में हमारे सामने रक्खा है। सारावली की सृष्टि की कल्पना और सूरसागर की सृष्टि विषयक कल्पना में भी मेल ठीक नहीं बैठता। यदि सूरसारावली के पदों को सूरसागर के पदों के विषय के क्रम के अनुसार क्रमबद्ध किया जाय, तो यह पता चल सकता है कि यह ग्रंथ कहाँ तक सूरसागर की अनुक्रमणिका कहा जा सकता है। संभव है उस समय इसके रचयिता के विषय में भी प्रकाश पड़े। हमने बंबई के संस्करण का उपयोग किया है।

२. 'साहित्य लहरी' के संबंध में विशेष विचार हम आगे चल कर उपस्थित करेंगे।

अंग हैं। जो हो, इसी एक ग्रंथ[1] के आधार पर हमें सूर की महानता का पता लग जाता है।

सूर के ग्रंथ का कितना भाग प्रक्षिप्त है, यह नहीं कहा जा सकता। जान पड़ता है उनके बाद " सूरदास " और " सूरश्याम " नाम से लीला के पद बनाने की शैली ही चल पड़ी थी वास्तव में " सूरश्याम " और 'सूर' अथवा ' सूरदास ' के विभिन्न उपनामों के प्रयोग ने जनता का ध्यान पहले ही आकर्षित कर लिया था। इसलिए यह कथा प्रचलित हो गई कि 'सूरश्याम' नाम के पद स्वयम् कृष्ण (श्याम) ने बनाये और इस प्रकार सवालक्ष पद की पूर्ति की। अभी तक इन दो उपनामों के प्रयोग के रहस्य का उद्घाटन नहीं हुआ है, परन्तु संभव है सूरदास कई उपनाम प्रयोग में लाते थे। वास्तव में नामों पर मोह अधिक नहीं था। तुलसी ने अपने पात्रों के नामों के अर्थ लगा कर अनुवाद तक कर डाला है। डा० जनार्दन मिश्र का कहना है कि सूरश्याम नाम के पद प्रक्षिप्त हैं परन्तु ऐसे पदों में भी अत्यंत उच्चकोटि की काव्य प्रतिभा मिलती है। अतएव उनका कथन प्रमाण सिद्ध न होने तक हम इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कह सकते।

१- वास्तव में सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है, वरन कई ग्रंथों का संग्रह है। इस दृष्टिकोण से हम उसका विश्लेषण इस प्रकार कर सकते हैं—

(१) विनय, वैराग्य, सतसंग, गुरु-महिमा संबंधी मौलिक पद (२) बाल लीला (३) प्रेम लीला (४) दान लीला (५) छोटी मान लीला (६) बड़ी मान लीला (७) विरह लीला (८) दो भ्रमर गीत (९) सारे ग्रंथ में फैला हुआ छंदों में समस्त श्रीमद्भागवत की कथा का उल्था (इनमें छंदोबद्ध तीसरा भ्रमर गीत भी सम्मिलित है)। यह विभाजन दशम स्कंध पूर्वार्द्ध का है। उत्तरार्द्ध में भी नन्द-यशोदा और राधा-माधव मिलन संबंधी मौलिक पद मिलते हैं। सच तो यह यह है कि सूर-साहित्य में ये अनेक छोटे-बड़े ग्रंथ हैं यद्यपि सुविधा के लिये इस अध्याय में हमने सूरसागर को एक ग्रंथ लिखा है।

२

सूरसागर

भूमिका

सूरसागर को देखने से यह स्पष्ट पता चल जाता है कि वह प्रबन्ध काव्य नहीं है उसमें कृष्णलीला संबंधी भिन्न भिन्न प्रसंगानुसार अनेक पद हैं।

सब से पहली बात जो साहित्य-समालोचक के मन में उठती है वह यह है कि सूरदास ने तुलसीदास की तरह कृष्ण-चरित्र पर प्रबंध-काव्य क्यों नहीं लिखा ? वास्तव में कृष्ण-कथा राम-कथा से कम सुन्दर नहीं है। यह कथा महाकाव्य का विषय बन सकती थी परन्तु हमें यह ध्यान रखना चाहिये कि राम-कथा के समान कृष्ण-कथा क्रमबद्धरूप में सूरदास के सामने नहीं आ सकी थी। महाभारत में कृष्ण की कथा का पहिले पहल परिचय मिलता है परन्तु वहाँ कृष्ण प्रधान होते हुये भी प्रासंगिक है उनके दर्शन केवल प्रौढ़ रूप में होते हैं। भागवत में कृष्ण के जिस अंग पर विचार किया गया है उसका महाभारत में उल्लेख भी नहीं है। भागवत में कृष्ण के बाल-चरित्र और तरुण प्रेमी जीवन का ही वर्णन है। महाभारत की कुरुक्षेत्र की घटना का सिर्फ निर्देश मात्र किया गया है। यदि सूरदास ने महाभारत और भागवत के कृष्ण को एक स्थान पर रखकर देखने की चेष्टा की होती तो उन्हें कृष्ण का उतना ही क्रमबद्ध चरित्र मिल जाता जितना वाल्मीकि के राम का था जिसके आधार पर तुलसी ने मानस का ढाँचा खड़ा किया।

साहित्यिक रचना के समय प्रत्येक कवि अपने पूर्ववर्ती कवियों का सहारा अवश्य लेता है। तुलसीदास को वाल्मीकि और अाध्यात्म में राम-कथा जिस पूर्णरूप में मिली उस पूर्णरूप में सूरदास को कृष्ण-कथा के दर्शन नहीं हुये। दूसरे वल्लभाचार्य की उपासना पद्धति में भागवत का महत्व बहुत अधिक था। उसका अध्ययन-अध्यापन प्रत्येक भक्त के लिये आवश्यक था। स्वयं महाप्रभु वल्लभाचार्य उसकी कथा कहा करते थे। इसलिये भक्त कवियों ने जब अपनी दृष्टि कृष्ण-कथा की ओर की तो उन्हें भागवत के कृष्ण के दर्शन हुये और महाभारत के कृष्ण उनकी आँखों से ओझल हो गये।

भागवत और महाभारत के कृष्ण में मूलतः अन्तर है। भागवत के कृष्ण सौन्दर्य्य, प्रेम और लीला के कृष्ण हैं। महाभारत के कृष्ण राज-नीतिज्ञ हैं उनमें शक्ति और बुद्धि की पूर्णता है। तुलसीदास ने जिन तत्वों को लेकर राम को गढ़ा है वे तत्त्व महाभारत के कृष्ण में पूर्णतः मिलते हैं। परन्तु ये तत्त्व पुष्टि मार्गी भक्त को इतने प्रिय नहीं हो सकते जितने प्रेम और लीला के तत्त्व जो भागवत के प्राण हैं।

भागवत के साथ भक्तों में जयदेव के गीत गोविंद की चर्चा अवश्य थी। वल्लभाचार्य के समय में ही कुछ बंगाली वैष्णव गोकुल में रहने लगे थे। विट्ठलदास के समय में तो उनका वहाँ प्राधान्य हो गया था। इससे यह अनुमान भी ग़लत नहीं हो सकता कि राधाकृष्ण-संबंधी विद्यापति की रचनाएँ भी ब्रज तक पहुँच गई थी। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास से पूर्व के कृष्ण-साहित्य में पद लिखने की शैली प्रतिष्ठित हो गई थी। पद-रचना के समय सूरदास अपने पूर्ववर्ती साहित्यिकों की शैली का अनुकरण कर रहे थे। पद-साहित्य में प्रबंधात्मकता नहीं रह जाती, यह स्पष्ट है।

परन्तु प्रबंध-काव्य की ओर न जाकर पद-काव्य लिखने के और भी कारण हैं। यह अवश्य है कि पूर्व-परम्परा इस ओर इंगित करती थी तथा कृष्ण के जीवन के जिस अंग को कवि छूना चाहता था वह भी प्रबंध

काव्य की अपेक्षा फुटकर काव्य में ही अधिक अच्छा बँध सकता था। किन्तु कदाचित् सबसे प्रधान कारण स्वयं सम्प्रदाय की नीति और भक्तों की अपनी प्रवृत्ति थी।

सूरसागर निर्माण-काल

सूरसागर के किसी भी पद में उसका निर्माणकाल नहीं मिलता इसलिए अन्तर्साक्ष्य के आधार पर निश्चय रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। परन्तु सूरसारावली और साहित्य लहरी का रचना काल इन ग्रन्थों में दिया हुआ है जिससे सूरसागर के रचना काल के सम्बन्ध में भी अनुमान किया जा सकता है।

सूरसारावली की रचना सूरसागर के बाद सिद्ध होती है। इसके एक पद में कवि लिखता है।

'गुरु प्रसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन'

इससे यह अनुमान होता है कि सूरदास सरसठ वर्ष की आयु में सूरसागर समाप्त कर चुके थे।

साहित्य लहरी की रचना सं० १६०७ में सिद्ध होती है।

मुनि पुनि रसन के रस लेख
दसन गौरीनन्द को लिखी सुवल संबत् पेख[1]।

साहित्य लहरी पद १०६

साहित्य लहरी की रचना भी सूरसागर के बाद हुई क्योंकि उसके लगभग समस्त पद सूरसागर से ही निकाल कर संगृहीत किये गये हैं। इससे यह पता लगता है कि १६०७ तक सूरसागर का निर्माण हो चुका था। साहित्य लहरी और सूरसारावली का रचना काल लगभग एक ही समझना चाहिये क्योंकि दोनों सूरसागर का उनसे पहिले पुस्तक रूप में प्रणीत हो जाना सिद्ध करती है। दोनों की आधार वस्तु भी सूरसागर है। अत: यह कहा

---

१ मुनि ७; रसन ०; रस ६; दसन गौरीनन्द, १ = १६०७

जा सकता है कि सं० १६०७ सूरदास की सरसठ वर्ष की आयु में सूरसागर की समाप्ति हो गई।

परन्तु सूरसागर की रचना का आरम्भ कब हुआ यह निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों की खोज से पता चलता है कि उसमें सूरदास के भिन्न भिन्न समय के रचे पद हैं। कुछ पद ऐसे अवश्य हैं जो महाप्रभु वल्लभाचार्य के परिचय के पहिले के हैं। महाप्रभु का सूरदास से परिचय किस संवत् में हुआ यह भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता। "श्रीनाथ जी की प्राकट्य वार्ता" (गोस्वामी श्री हरि राय जी महाराज कृत) से पता चलता है कि महाप्रभु का निधन सं० १५८७ में हो गया था। महाप्रभु सं० १५४९ में अड़ैल से वृन्दावन गये और उन्होंने वहाँ श्रीनाथ जी की स्थापना करके अपने सम्प्रदाय की नीव डाली अतःसूरदास का परिचय महाप्रभु से इन्हीं दोनों तिथियों के बीच में हो सकता है। परन्तु इस प्रकार साधारण तौर पर सूरसागर का रचना काल सं० १५८७ से पहिले और १६०७ तक सिद्ध होता है[1]।

किस संवत् में सूरसागर का प्रारम्भ किया यह ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता; किन्तु इसके कुछ पद अवश्य महाप्रभु के परिचय के पहिले के लिखे हैं। चौरासी वैष्णवों की वार्ता के अनुसार सूरदास गऊघाट पर रहते थे। भगवतभक्त थे और गान करते थे, बहुत से लोग उनके शिष्य भी हो गये थे। इस गान शब्द का तात्पर्य पद-रचना से ही होगा क्योंकि सूरदास की कविप्रतिभा उन्हें दूसरों के पद गाने से अवश्य रोकती रही

---

१. पूर्णमल्ल के मन्दिर में श्री नाथ जी की स्थापना सं० १५७६ (१५१९ ई०) में हुई। 'प्राकट्य वार्ता' से पता चलता है कि उस समय वल्लभाचार्य ने कुंभनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी। जान पड़ता है कि इसके पश्चात् महाप्रभु और सूरदास में गऊघाट पर भेंट हुई और उनके पुष्टिमत में दीक्षित हो जाने पर कीर्तन का काम उन्हें दे दिया गया। अतः सूरसागर के मुख्य भाग का रचनाकाल १५७६—१६०७ होगा।

होगी। वियोगी हरि का कहना है कि सूरसागर के प्रथम स्कंध के विनय के पद उसी समय के लिखे हैं, जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे। सूरसागर का ढाँचा भागवत के आधार पर खड़ा किया गया है और पहिले स्कंध से बारहवें स्कंध तक की सारी कथा कम-अधिक उसी क्रम से सूरसागर में मिलती है। भागवत में विनय के पद नहीं हैं, यह कवि की बिलकुल मौलिक रचना है। इनमें दास्य भाव से की गई है। इन सब बातों का ध्यान रख कर यह कहना पड़ता है कि यह पद अवश्य ही सूरसागर के प्रधान भाग की रचना से पहले छन्द बद्ध हो कर गाये जा चुके थे। अतः सूरसागर का यह भाग तो महाप्रभु के परिचय से भी पहले का है। सूरसागर का प्रधान भाग अवश्य इस परिचय के बाद का है, जैसा चौरासी वार्ता की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

महाप्रभून ने कही जो सूर कछू भगवद् यश वर्णन करौ तब सूरदास ने कही जो आज्ञा·········सो सुनि के श्री आचार्य्य जी महाप्रभून ने कह्यौ जो सूर हैं के ऐसो घिघियात काहे को है कछू भगवत्लीला वर्णन करि तब सूरदास ने कहो जो महाराज हौं तो समझत नाहीं तब श्री आचार्य्य श्री महाप्रभून ने कह्यो जो जा स्नान करि आवौ हम ताकों समझावेंगे तब सूरदास जी स्नान करि आये तब श्री महाप्रभून ने प्रथम सूरदास जी को नाम सुनायो पाछे समर्पण करवायो।'

पदों की संख्या

सूरसागर के पदों की संख्या कितनी है यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ किंवदंतियों के अनुसार पदों की संख्या एक लाख तथा अन्य किंवदंतियों के अनुसार सवा-लाख है।

सूरसारावली में—यदि यह पद प्रक्षिप्त नहीं है—सूरदास ने स्वयं कहा है—

श्री वल्लभ गुरु-तत्त्व सुनायो लीला भेद बतायो।
ता दिन ते हरि लीला गाई एक लक्ष पद बंद।

ताको सार सूर सारावलि गावत परमानंद।

इस पद से तो केवल यही तात्पर्य्य निकलता है कि सूरदास ने कृष्ण लीला संबंधी एक लाख पद बनाये। इससे यह प्रतीत होता है कि शेष पचीस हज़ार पद किंवदंतियों का सृजन है; किन्तु इसमें भी संदेह का स्थान रह जाता है कि सूरदास ने एक लाख पदों की रचना की। बाबू श्याम सुन्दर दास का कहना है "सूरसागर के संबंध में कहा जाता है कि उसमें सवालाख पदों का संग्रह है पर अब तक सूर सागर की जो प्रतियाँ मिली हैं उनमें छः हजार से अधिक नहीं मिलते[1]"। राधाकृष्ण दास जी लिखते हैं कि "सूरदास जी के सवालक्ष पद बनाने की जो किंवदंती प्रसिद्ध है वह ठीक विदित होती है क्योंकि एक लाख पद तो श्री वल्लभाचार्य के शिष्य होने के उपरान्त और सारावली के समाप्त होने तक बनाये इसके आगे पीछे अलग ही रहे[2]"। केवल किंवदंतियों के ही आधार पर सवा-लाख पदों का निर्मित किया जाना मान लिया है। यद्यपि वे निराधार हैं।

चौरासी वैष्णवों की वार्ता में भी एतद्विषयक लेख मिलता है। वह इस प्रकार है।

"सूरदास जी ने सहस्रावधि पद कीये हैं ताको सागर कहियै सो सब जगत में प्रसिद्ध भये"।

इस उद्धरण से भी यह बात प्रमाणित नहीं होती कि उन्होंने सवालाख पदों की रचना की। वार्ताकार को यदि इस बात का दृढ़ विश्वास होता तो 'सहस्रावधि' के स्थान पर 'लक्षावधि' लिख देता। यहाँ पर 'सहस्रावधि' से केवल यही तात्पर्य्य हो सकता है कि उन्होंने हज़ारों की संख्या में पद बनाये। यह शब्द केवल संख्या की अधिकता मात्र का बोधक है। संख्या-निर्धारण में फिर भी संदेह ही रह जाता है।

---

१. श्याम सुन्दरदास—हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० ३२३ सं० १६६४ का संस्करण।

२. राधाकृष्णदास—सूरसागर की भूमिका पृ० २।

'शिवसिंह सरोज' के लेखक ने साठ हज़ार पद देखे थे[१]। कहाँ देखा था। इसका कुछ भी उल्लेख उस पुस्तक में नहीं है। अतः पदों की संख्या के बारे में निश्चय पूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता। अब तक जितने पद पाये जाते हैं उनकी संख्या ४ हज़ार से कुछ अधिक है। सम्भव है, बहुत से पद काल के ग्रास में नष्ट हो गये हों। अतः यह धारणा होती है कि 'सवालाख' शब्द सम्भवतः बहुत अधिक संख्या के लिये प्रयोग किया गया हो।

सूरसागर का विस्तृत विवेचन करने से पहिले उसके विषय पर एक

सूरसागर का विहगंम दृष्टि डाल लेना चाहिये। इस अध्याय में हम

विषय यही करेंगे।

सूरसागर की कथा स्कंधों में बँटी है। कुल मिलाकर बारह स्कंध हैं परन्तु दशम स्कंध को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध में विभाजित किया गया है।

प्रथम स्कंध में २१६ पद हैं। इन पदों में अधिकांश पद विनय संबंधी हैं। इसमें का कथा भाग अनेक विषयों से संबंध रखता है और वह क्रमबद्ध भी नहीं है। यह कथा नाग वर्णन और संवाद के रूप में है। संवाद ज्ञान, वैराग्य और भक्ति की महत्ता स्पष्ट करते हैं।

इस स्कन्ध का सबसे महत्व पूर्ण भाग विनय संबंधी पद ही हैं। ये पद तुलसीदास की विनय पत्रिका के समान ही हैं। तुलसी की विनय पत्रिका के समान ही इनमें भी दास्यभाव की प्रधानता है। कदाचित् इसी साम्य को ध्यान में रखकर लोगों ने इस भाग को सूरदास की विनय-पत्रिका का ही नाम दिया है और इस नाम से जो संग्रह प्रकाशित हुए हैं उनमें कथा भाग को हटाकर शेष भाग संग्रहीत किये गये हैं। जैसा कि वियोगी हरि ने कहा है इस स्कंध का कथा भाग कदाचित् सूर ने सूरसागर को समाप्त करने के बाद वृद्धावस्था में लिखा। परन्तु इसके विनयपद उन्होंने महाप्रभु

---

१. शिवसिंह सरोज पृ० ५०५ नवलकिशोर प्रेस लखनऊ सन् १९२६ ई०।

वल्लभाचार्य से दीक्षित होने से पहिले बनाये थे। ये वही पद हैं जिनके लिये महाप्रभु ने कहा था "जो सूर हैं तो ऐसो घिघियात काहे को"। इस स्कंध के पद दास्य-भक्ति के उज्ज्वलतम उदाहरण हैं। विनय के पद अन्य स्कंधों में भी मिलते हैं किन्तु इन पदों की सी मार्मिकता, सहृदयता और भक्त की आकुलभावना के दर्शन उनमें नहीं होते।

द्वितीय स्कंध में ३८ पद हैं। इस स्कंध में कुछ अत्यन्त सरस भाव पूर्ण साहित्यिक पद हैं। परन्तु अधिकांश भाग भक्ति, आत्मज्ञान संबंधी वादविवादों और ब्रह्मा और चौबीस अवतारों की उत्पत्ति से भरा हुआ है जिनमें न वह सरसता है न भाव-प्रवणता।

तृतीय स्कंध में केवल १८ पद हैं। इनमें उद्धव-विदुर संवाद, मैत्रेय को कृष्ण का ज्ञान संदेश सनकादि अवतार, रुद्र उत्पत्ति, सप्तचरनि एवं चार मनु की उत्पत्ति की कथा, सुर-असुर उत्पत्ति, कपिलदेव का जन्म, भक्ति और हरमाया संबंधी प्रश्न और इसी प्रकार की कुछ अन्य कथाओं का संक्षेप में वर्णन है।

चतुर्थ स्कंध में १२ पद हैं। इसमें शुकवचन, यज्ञ पुरुष अवतार, पार्वती विवाह, ध्रुव पृथु और पुरंजन की कथाओं का वर्णन है।

पंचम स्कंध में केवल चार पद हैं। इस स्कंध में ऋषभदेव अवतार और जड़ भरत की कथायें हैं।

षष्ठम स्कंध में भी केवल चार पद हैं। इसमें अजामिल उद्धार की कथा, इन्द्र द्वारा बृहस्पति का अनादर, वृत्रासुर का वध, इन्द्र का सिंहासन च्युत होना एवं उसे पुनः प्राप्त करना आख्यानकों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त गुरु-महिमा संबंधी भी कुछ पद हैं।

सप्तम स्कंध में ८ पद हैं। इसमें नृसिंहावतार की कथा प्रधान है। इसके सिवा भगवान् की शिव को सहायता तथा नारद जी की उत्पत्ति का वर्णन है।

अष्टम स्कंध में १४ पद हैं। इनमें गजमोचन की कथा, कूर्म अवतार, समुद्रमंथन, मोहनीरूप धारण, वामन और मत्स्य अवतार की कथायें हैं।

नवम स्कंध में १७२ पद हैं। इनमें राजा पुरुरवा का वैराग्य, च्यवन ऋषि की कथा, हलधर का विवाह, राजा अंबरीष की कथा, सौभरि ऋषि की कथा, गंगावतरण, परशुराम अवतार की कथा, रामावतार का कारण तथा राम-कथा कही गई है। राम की कथा अधिक विस्तार पूर्वक है। इस कथा के बाद भी अनेक कथायें हैं। इनमें प्रधान ये हैं, अहिल्या श्राप, राजा नहुप की कथा, ब्रह्मा का श्राप, शुक और ययाति की कथा।

दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में ३४६४ पद हैं। यह स्कंध सूरसागर का प्राण है। इसी के कारण यह ग्रंथ इतना बृहत्काय और महत्त्वपूर्ण हो गया है। इसके पदों की संख्या अन्य स्कंधों के पदों के पचगुनी है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर मथुरा गमन तक की कथा है।

दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में १३८ पद हैं। इसमें कृष्ण कथा का उत्तरार्द्ध है।

एकादश स्कंध में केवल ६ पद हैं। इसमें बौद्धावतार, कल्कि अवतार, राजा परीक्षित और जनमेजय की कथायें हैं।

सूरसागर के स्कंधों के विषयों का विश्लेषण कर चुके; परन्तु इस विश्लेषण से हमें मुख्य विषय के संबंध में अधिक नहीं मालूम होता। यह मुख्य विषय निःसंदेह कृष्ण की कथा है। उत्तरार्द्ध की कृष्ण-कथा में बहुत थोड़े पद हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कथा का यह भाग घटना-पूर्ण अधिक होने पर भक्त-हृदय कवि को उतना नहीं रुचा जितना बाल और किशोर लीला वाला भाग जिसका कवि ने २५ गुने अधिक पदों में वर्णन किया है।

दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में भगवान् कृष्ण का जन्म, उनका मथुरा से गोकुल आना, पूतना, कागासुर शकटासुर तृणावर्त का वध, छटी व्यवहार, नाम-करण, कनछेदन आदि संस्कारों का वर्णन, घुटने चलना, बाल वेष, चंद्र प्रस्ताव, कलेवा, भोजन, माखन चोरी आदि लीलाएँ प्रारम्भ में दी गई हैं।

फिर राधा के प्रवेश से कथा में शृङ्गार रस और नाटकीयता की उत्पत्ति होती है। अ राधा-कृष्ण का प्रथम मिलाप, मुख-विलास, यशोदा गृह-गवन आदि प्रसंगों में कवि की उच्च प्रतिभा के दर्शन होते हैं। फिर गोचारन, काली - दहन, वस्त्र - हरण, मुरली - लीला, गोवर्धन - लीला, दान - लीला का वर्णन है। अब कृष्ण किशोर हो चुके हैं। वह बाल रूप छोड़ कर प्रेमी के रूप में अधिक स्पष्ट होकर आते हैं। इसके पश्चात् श्रीकृष्ण की वंशीध्वनि, श्रीकृष्ण का विरह, उनका अंतर्ध्यान होना और गोपियों का विरह, रास - लीला, जल - क्रीड़ा, राधिका - मान, हिंडोला आदि के प्रसंग आते हैं।

इस स्थल से कृष्ण और गोपियों के संबंध में परिवर्तन हो जाता है। श्री कृष्ण अक्रूर के प्रस्ताव से मथुरा जाते हैं। मथुरा की लीला का वर्णन अधिक विस्तार से नहीं किया गया है। मथुरा में कृष्ण कुब्जा के सत्कार पर मोहित हो जाते हैं और मथुरा में ही निवास करने लगते हैं। इधर गोपियाँ उनके विरह में व्याकुल रहती हैं। गोपियों की व्याकुलता का वर्णन विस्तारपूर्वक बड़ी मार्मिकता से किया है। वे कुब्जा को उलाहना देती हैं, उनके आँसू व्रजभूमि को धो देते हैं, स्वप्न में उन्हें कृष्ण के दर्शन होते हैं। पावस ऋतु तथा शरद ऋतु का चंद्रमा उनकी आकुलता को बढ़ा देता है। गोपियों का यह हाल कृष्ण को सुनाई पड़ता है। वे सान्त्वना देने के लिये उद्धव को भेजते हैं। वे अपने ज्ञान का संदेश देकर कृष्ण के पास मथुरा लौट जाते हैं। इसी स्थल पर उद्धव-गोपी संवाद में भ्रमर-गीत की अवतारणा की गई है।

यदि दशम स्कंध पूर्वार्द्ध का विश्लेषण किया जाय तो कथा भाग को छोड़कर काव्य की दृष्टि से उसके तीन भाग किये जा सकते हैं। पहले भाग में कृष्ण की बाल लीला का वर्णन है। वात्सल्य रस का बाहुल्य है। इस भाग में यशोदा और नंद के चरित्रों की पुष्टि होती है। दूसरे भाग का प्रारम्भ श्री राधिका-कृष्ण के मिलन से होता है। इस समय दोनों बालक हैं इसीलिये कवि केवल शृङ्गार रस की ओर इंगित करके ही रह

जाता है। कृष्ण धीरे धीरे किशोर हो जाते हैं और इस भाग के उत्तरार्द्ध में शृङ्गारिक कृष्ण के दर्शन होते हैं। राधा-कृष्ण और गोपियों की अनेक लीलाओं और क्रीड़ाओं का वर्णन मिलता है। अधिकांश अंश शृङ्गार रस के संयोग अंग की पुष्टि करता है, वियोग का केवल आभास मिलता है। वह भी जब कृष्ण लीला करते हुये अंतर्ध्यान हो जाते हैं। दूसरे और तीसरे भाग के बीच में व्रज की अनेक-लीलाएँ तथा मथुरा की कथायें हैं। तीसरे भाग का अधिक अंश भ्रमरगीत ने ले लिया है।

दशम स्कंध का उत्तरार्द्ध हमारी दृष्टि से केवल कृष्ण और राधिका के चरित्रों के विकास के लिये ही महत्वपूर्ण है, इसमें कवि ने अधिक मौलिकता से काम नहीं लिया है।

सूरदास और भागवत

बहुत प्राचीनकाल से लोगों ने सूरसागर को भागवत का अनुवाद समझ रक्खा है। इस धारणा की पुष्टि वाह्यसाक्ष्य से पूर्णतः हो जाती है। सूरसागर और भागवत दोनों में ही बारह स्कंध हैं। भिन्न-भिन्न स्कंधों की कथाओं में भी समानता है। सूरसागर के जो संस्करण प्रकाशित हुये हैं और हस्तलिखित लिपियाँ प्राप्त हुई हैं उनमें कथा भागवत के ढंग पर स्कंधों में बँटी है। अन्तर्साक्ष्य से भी यही धारणा बनती है। स्कंध १ पद ११३ में सूरदास ने स्वयं लिखा है—

श्री मुख चारि श्लोक दिए, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ।
व्यास कहे शुकदेव सो द्वादश कंघ बनाइ।
सूरदास सोई कहैं पद भाषा करि गाइ।

अब यदि सूर सागर और भागवत का तुलनात्मक अध्ययन करें तो रोचक होगा।

डा० धीरेन्द्र वर्मा ने भागवत और सूरसागर की तुलना में एक तालिका इस प्रकार उपस्थित की है[1]।

१, हिन्दुस्तानी अप्रैल १६२४ पृ० १२२-१२३

	भागवत				सूरसागर		
स्कंध	अध्याय		श्लोक संख्या		स्कंध	पद संख्या	
१	१९		(१६६२)		१	२१६	
२	१०		(३६२)		२	३८	
३	३३		(१५०२)		३	१८	
४	३१		(१४७७)		४	१२	
५	२६		(६६६)		५	४	
६	१६		(८५१)		६	४	
७	१५		(७५०)		७	८	
८	२४		(६३१)		८	१४	
६	२४		(६६३)		६	१७२	
१० पूर्वार्ध	४६	(६०)	(१६३५)	(३४५१)	१० (पू०)	३४६४	३६३२
१० उत्तरार्ध	४१		(१५१६)		१० (उ०)	१३८	
११	३१		(१३७४)		११	६	
१२	१३		(५६६)		१२	५	
	३३५		(१४६१५)			४०३२	

इस तालिका से यह स्पष्ट हो जायगा कि दशम स्कंध पूर्वार्द्ध की कथा तो भागवत और सूरसागर दोनों में विस्तारपूर्वक कही गई है। परन्तु जहाँ भागवत में अन्य स्कंधों की कथाएँ भी विस्तारपूर्वक हैं वहाँ सूरसागर में इन कथाओं को बहुत थोड़े पदों में समाप्त कर दिया गया है। भागवत के श्लोकों और सूरसागर के पदों को सामने रखने से यह बात स्पष्ट हो जायगी। सूरसागर में दशम स्कंध के बाद संख्या में प्रथम व नवम स्कंध ही बड़े हैं। शेष स्कंधों की पद-संख्या कुल मिलाकर १०६ हैं जो नवम स्कंध की संख्या से भी कम है। भागवत के स्कंधों के श्लोकों की संख्यायों में इतनी विषमता नहीं है। इस तुलना से यह अनुमान किया जा सका है कि यदि

तालिका में कोष्ठकों में दी हुई संख्यायें हमारी हैं। वे प्रत्येक अध्याय के श्लोकों की संख्यायें हैं।

वास्तव में सूरसागर भागवत का अनुवाद है तो सूरदास ने दशम स्कंध की कथा को छोड़ कर अन्य स्कंधों की कथाओं को भागवत की तुलना में बहुत संक्षेप में लिखा है अथवा उन कथाओं के कितने ही प्रसंग छोड़ दिए हैं। भागवत और सूरसागर के स्कंधों की कथाओं की तुलना से हम इस अनुमान की सत्यता की जाँच करेंगे।

प्रथम स्कंध

भागवत के इस स्कंध की कथा भूमिका स्वरूप है। इसमें पहले श्रीमद्-भागवत का कल्पवृक्ष का रूपक है। फिर मंगलाचरण और प्रस्तावना के बाद कथा का प्रारम्भ होता है। पहले, दूसरे, तीसरे और चौथे अध्यायों में सूत द्वारा शौनकादि ऋषियों के प्रश्नों का समाधान और वेदव्यास की असंतुष्टि का वर्णन है। चौथे अध्याय में नारद जी का आगमन है। पाँचवें तथा छठवें अध्याय में नारद जी व्यास जी को ज्ञानोपदेश देते हैं और अपने पूर्व जन्म की कथा सुनाते हैं। सातवें अध्याय से महाभारत की कथा का प्रारम्भ होता है। कथा महाभारत के उत्तर भाग से प्रारम्भ होती है और १६ वें अध्याय में हम परीक्षित को मुनि-मण्डली से घिरा हुआ पाते हैं। उसी समय शुकदेव जी का आगमन होता है।

सूरसागर के प्रथम स्कंध में मंगलाचरण और प्रस्तावना नहीं हैं। सूरदास साधारण वन्दना से प्रणाम करते हैं। इसके बाद सूरसागर में भक्त-वत्सलता, भक्त-महिमा, माया, अविधा, तृष्णा और विनती आदि के वर्णन हैं। सूरसागर की कथा भागवत की कथा से पहिले से (श्रीकृष्ण के दूत कर्म से) प्रारम्भ की गई है। महाभारत के युद्ध का सांकेतिक वर्णन करते हुये कवि भीष्मदेहत्याग, परीक्षित-जन्म और उनके वैराग पर पहुँच जाता है। भागवत प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ, पंचम, सप्तम और अष्टम अध्यायों की कथाएँ सूरसागर में बिलकुल नहीं है।

द्वितीय स्कंध

भागवत का द्वितीय स्कंध भी भूमिका रूप है। इसमें यह बताया गया है कि परीक्षित ने भागवत की कथा को शुकदेव से कैसे सुना। शुकदेव जी ने सृष्टि की उत्पत्ति,

विराट पुरुष की विभूतियों और भगवान् की लीला का हेतु वर्णन करने के बाद परीक्षित के प्रश्न पर भागवत की कथा प्रारम्भ की। सूरसागर में द्वितीय स्कंध की कथा के अतिरिक्त अनन्य भक्ति-महिमा, नाम महिमा, हरि विमुख-निंदा, भक्ति-साधन, आत्म-ज्ञान, आरती के प्रसंग सूरदास की मौलिक कल्पना है।

इस स्कंध की कथाएँ भागवत और सूरसागर में लगभग मिलती चलती

तृतीय स्कंध

है। सूरसागर में विदुर-जन्म, सनकादि अवतार, रुद्र उत्पत्ति, हरि-माया-प्रश्न-वर्णन आदि प्रसंग अधिक हैं। भागवत के अध्याय ८, ९, १०, १४, १५, १६, २० की कथा और सांख्य, योग, पुरुष, प्रकृति आदि का वर्णन सूरसागर में नहीं हैं। इसी स्कंध से अवतारों का वर्णन प्रारम्भ होता है। इस स्कंध में वाराह अवतार मुख्य है।

सूरसागर के चतुर्थ स्कंध में भागवत के चतुर्थ स्कंध के केवल सातवें

चतुर्थ स्कंध

आठवें, नवें, पन्द्रहवें, और पचीसवें—उनतीसवें अध्यायों की कथा का ही वर्णन है। शेष कथाओं का इस स्कंध में अभाव है।

पाँचवें स्कंध में ऋषभदेव और जड़ भरत की कथाएँ हैं जो भागवत के

पंचम स्कंध

चौथे, पाचवें, छठवें, सातवें, आठवें नौवें तथा दसवें स्कंधों में मिलती हैं। ये कथाएँ सूरसागर में बहुत ही सक्षेप में लिखी गई है।

छठवें स्कंध में अजामिल उद्धार और वृत्रासुर की कथाएँ हैं जो

षष्ठ स्कंध

क्रमशः भागवत के पहिले, दूसरे और नवें-तेरहवें अध्याय में मिलती हैं। भागवत की शेष कथाएँ सूरसागर में नहीं हैं किन्तु गुरु-महिमा का वर्णन जिसका प्रसंग किसी प्रकार वृत्रासुर की ब्राह्मण-हत्या से जोड़ दिया गया है अधिक है।

भागवत और सूरसागर दोनों के सातवें स्कंधों में श्री नरसिंहावतार का वर्णन है। ये कथायें भागवत में दो से लेकर दस अध्याय तक दी गई हैं। सूरसागर के श्री भगवान शिव सहाय वर्णन तथा नारद उत्पत्ति की कथायें भागवत में नहीं मिलती।

सप्तम स्कंध

इस स्कंध में दोनों में गजेंद्र-मोक्ष, कूर्मावतार, समुद्र-मंथन, वामनावतार तथा मत्स्यावतार की कथाएँ हैं। सूरसागर के इस स्कंध में भागवत के लगभग सभी अध्यायों की कथा आजाती है। यद्यपि संक्षेप के कारण एक ही कथा की बहुत सी कड़ियाँ नहीं मिलतीं।

अष्टम स्कंध

सूरसागर और भागवत दोनों में पुरु की कथा, परशुरामावतार, अम्बरीष की कथा, गंगावतरण और रामावतार की कथाएँ समान रूप से मिलती हैं। सूरसागर में इन्द्र के शाप की कथा, राजा नहुष की कथा तथा कच और देवयानी की कथायें अधिक हैं। रामावतार की कथा भागवत के अध्याय १० और ११ का विषय है किन्तु सूरसागर में इस कथा का बहुत अधिक विस्तार है।

नवम स्कंध

ऊपर भागवत और सूरसागर के स्कंधों की कथाओं की जो तुलना की गई है। उससे निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं। भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों का वर्णन है। इसके द्वारा भागवतकार भगवान की अपरिमित शक्ति दिखाना चाहता है। दशम स्कंध के अपेक्षाकृत अधिक विस्तार से यह पता चलता है कि कृष्णावतार पर उनका विशेष मोह है। भागवतकार ने विष्णु के समस्त अवतारों में राम और कृष्ण अवतार को प्रमुख माना है। अन्य अवतारों की कथा भी कम अधिक विस्तार के साथ कही गई है। यद्यपि सूरसागर में भी अवतारों के उपस्थित करने का वही क्रम है जो भागवत में है, तथापि राम और कृष्ण के अवतारों के सिवाय अन्य अवतारों का उल्लेख नाम मात्र के लिए ही किया गया है।

रामावतार की कथा सूरसागर में भागवत की अपेक्षा अधिक विशद रूप से वर्णन की गई है। दशम स्कंध के उत्तरार्द्ध की कथायें दोनों में बहुत कुछ मिल जाती हैं। किन्तु सूरसागर में यह कथा केवल १३८ पदों में बहुत संक्षेप में कह दी गई है। भागवत में यही कथा ४१ अध्यायों में कही गई है। यद्यपि भागवत और सूरसागर दोनों के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध की कथा ब्रजवासी कृष्ण लीला से संबंधित है। भागवत में ऐसे अनेक मनोहारी स्थल नहीं हैं जो सूरदास की मौलिक कल्पना है। सूरसागर का लगभग सारा विस्तार दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में समाप्त हो जाता है। यद्यपि भागवत में यह कथा जितने अध्यायों में कही गई है वे समस्त अध्यायों की संख्या का लगभग छठवाँ भाग है। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में द्वारिकावासी राजनैतिक योगिराज कृष्ण का वर्णन किया गया है। जान पड़ता है सूर को कृष्ण का यह रूप प्रिय नहीं था। वे कृष्ण चरित के केवल उस भाग से अधिक प्रेम करते थे जो व्रज अर्थात् गोकुल, वृंदावन तथा मथुरा में प्रकाशित हुआ था।

प्रत्येक स्कंधों के कथा-प्रसंगों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरसागर भागवत का केवल आंशिक अनुवाद है; यदि उसे अनुवाद कहा जा सकता है। वास्तव में जहाँ इस प्रकार का अनुवाद दिखाई पड़ता है वहाँ भी भागवत की कथा को बहुत संक्षेप में और कभी क्रमहीन रूप से उपस्थित करता है।

यद्यपि सूरसागर की भी अनेक बाल-लीलाएँ असुरों के संहार से संबंध रखती हैं परन्तु उसमें उनका बहुत संक्षेप में उल्लेख मात्र है।

सूरसागर के दशम स्कंध के मौलिक भाग को हम तीन शीर्षकों में विभाजित कर सकते हैं—

(१) बाललीला।

(२) राधाकृष्ण, गोपी कृष्ण लीला।

(३) गोपिका विरह या भ्रमरगीत[1]।

नीचे हम इनमें से पहले दो शीर्षकों के अन्तर्गत सूरदास के मौलिक प्रयत्नों का निर्देश करेंगे और उनपर एक विहंगम दृष्टि डालेंगे।

(१) यह दशम स्कंध का वात्सल्य रसप्रधान बाललीला अंश है। भागवत में कृष्ण की बाल-लीला विशेषकर अष्टम अध्याय में है। परन्तु उसमें भी वात्सल्य रस का पूर्णरूपेण परिपाक नहीं हो सका है। भागवत-कार का ध्येय इस लीला से भी अद्भुत रस की सृष्टि करना तथा कृष्ण का गौरव प्रदर्शित करना ही रहा है। कृष्ण जब मिट्टी से भरा मुख खोलते हैं तो माता को उनके मुख में त्रैलोक्य के दर्शन होते हैं। सूरसागर में इस भाग के अन्तर्गत ये मौलिक प्रसंग हैं—छठी व्यवहार-वर्णन, अन्न-प्राशन लीला, वर्षगांठ लीला, कनछेदन लीला, घुटुरुवनि चलनि, पायनि चलनि, बालवेश, चंद्र प्रस्ताव, कलेवा भोजन, खेलन, माखन-चोरी, चकई-भौंरा खेलन। इसके अतिरिक्त माटी का प्रसंग, हरिदावरी बन्धन आदि जो प्रसंग भागवत में उपस्थित हैं उन्हें भी सूरदास ने कहीं अधिक विस्तार के साथ लिखा है।

(२) यह अंश संयोग शृङ्गार प्रधान है। भागवत में केवल गोपियों और कृष्ण के प्रेम का वर्णन मिलता है। भागवत में राधा का कोई उल्लेख नहीं। यद्यपि एक प्रधान गोपी का परिचय मिलता है जो कुछ समय के लिए कृष्ण

राधाकृष्ण और गोपी कृष्ण

---

1. 'भ्रमरगीत' की कथा के अन्दर सूरदास कहाँ तक मौलिक हो सके हैं। इसका विवेचन इस पुस्तक के इसी शीर्षक वाले अध्याय का विषय है।

की विशेष प्रेमपात्री है। सूरसागर में गोपियों के प्रेम के विशद वर्णन मिलते ही हैं। उसमें हमें प्रथमवार राधा का परिचय मिलता है। सूरसागर में राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी के प्रेम संबंध को बहुत विस्तारपूर्वक लिखा गया है। उनके प्रेम का आरम्भ, विकाश तथा परिणाम हिन्दी साहित्य की अद्वितीय वस्तु है।

भागवत और सूरसागर का तुलनात्मक अध्ययन करते हुये डा० धीरेन्द्र वर्मा इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि 'वर्तमान सूरसागर एक ग्रन्थ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है और इसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारह स्कंधों का अत्यंत संक्षिप्त छंदोबद्ध अनुवाद मात्र है[1]'। वस्तुत: सूरसागर का वर्तमान स्वरूप दो ही ढंग से उपस्थित हो सकता है। सूरसागर की जाँच से यह पता चलता है कि उसके कुछ अंश छंदोबद्ध हैं परन्तु एक बहुत बड़ा भाग पदों के रूप में है। सूरसागर का छंदोबद्ध अंश मूल कथा को लेकर आगे चलता है और कृष्ण-कथा के अतिरिक्त अन्य कथाएँ भी इसमें मिलती हैं। सम्भव है कि मूल ग्रंथ भागवत का अनुवाद छंदों के रूप में हुआ हो और इस अत्यन्त संक्षिप्त छंदोबद्ध अनुवाद में संग्रहकर्ता ने तद्विषयक पद उसी जगह प्रसंगानुसार जोड़ दिए हों। अथवा यह भी सम्भव है कि सूरदास ने पहिले दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के ही पद गाये हों और जब ये पद काफ़ी अधिक संख्या में बन चुके तो विट्ठलदास अथवा अन्य किसी की प्रेरणा से इन पदों को भागवत के एक स्कंध का भाग मानकर शेष स्कंधों की कथाओं की पूर्ति की गई हो। जहाँ जहाँ कथा की लड़ियाँ इसपर भी न मिली वहां कदाचित् छंदोबद्ध कविता के रूप में कुछ लिखकर शृङ्खला मिला दी गई। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अतिरिक्त सारे सूरसागर में जो संक्षेप में कहने की भावना है और कहने के ढंग में

---

१. डा० धीरेन्द्र वर्मा—भागवत और सूरदास (हिन्दुस्तानी अप्रैल १९३४)।

कथा-वाचक की शैली और नीरसता है, वह कुछ दूसरे ही कारण की ओर अधिक इंगित करती है।

जो हो, हम यह सिद्ध कर चुके श्रीमद्भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है। उसे स्वतंत्र अनुवाद भी नहीं कहा जा सकता। द्वादश स्कंध के १३ अध्यायों में केवल एक ही अध्याय की कथा सूरसागर में दी गई है और वह भी एक ही पद में है[1]। यद्यपि तीन अन्य कथा-प्रसंग स्वतंत्र रूप से जोड़ दिये गए हैं। भागवत के एकादश स्कंध के ३१ अध्यायों में से केवल दो अध्यायों की सामग्री सूरसागर में रक्खी मिलती है। इसी प्रकार अन्य स्कंधों की बहुत सी कथाओं में से केवल कुछ की कथायें सूरसागर में उपस्थित हैं। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि प्रत्येक स्कंध में से केवल इतनी सूक्ष्म सामग्री क्यों ली गई और भागवत से अनुवाद-योग्य स्थल चुनने में कवि का क्या आधार रहा है।

सूरसागर के कुछ स्कंधों विशेष कर पहिले और दूसरे में सूरदास ने माया, भक्ति, गुरु महिमा आदि प्रसंग अपनी ओर से जोड़ दिये हैं। इसके अतिरिक्त सूरसागर में मङ्गलाचरण और प्रस्तावना को कोई स्थान नहीं मिला। इन सब बातों से यह पता चलता है कि एक तो सूरसागर को स्वतंत्र ग्रंथ के रूप में रचने का विचार ही न रहा होगा और दूसरे उसके वर्तमान रूप में हमें सूरदास की समस्त कृतियाँ उपलब्ध हो जाती हैं। यहाँ तक कि इसमें वे पद भी हैं जो सूरदास ने वल्लभाचार्य्य के सम्पर्क में आने से पहिले बनाये थे। ये पद विनय संबंधी हैं। इनमें दास्यभाव की प्रधानता है जिसको वल्लभाचार्य्य की उपासना-पद्धति में विशेष स्थान नहीं मिला है। सूरसागर में अनेक स्थानों पर एक ही कथा की पुनरुक्ति है। इससे जहाँ एक ओर यह प्रगट हो सकता है कि यह भिन्न भिन्न छोटे छोटे मौलिक पद समूह हैं वहाँ इसका तात्पर्य्य यह भी निकल सकता है कि सारी कथा एक निश्चित ढाँचे पर सूत्रबद्ध नहीं की गई है और एक ही प्रसंगानुसार कई समय पर पद रचना करने से इस प्रकार के आने में पूर्ण, मौलिक

1. सूरसागर स्कं० १२ पद ३।

पदों की सृष्टि हुई जो एक ही कथा को अनेक रूपों में हमारे सामने रखते हैं।

अंत में हमें यह कहना है कि सूरसागर के मौलिक और महत्वपूर्ण भाग प्रथम स्कंध के वे पद हैं जो विनय के नाम से प्रसिद्ध हैं तथा सम्पूर्ण दशम स्कंध पूर्वार्द्ध और अन्य स्कंधों में बिखरे हुये भक्ति, गुरु-महिमा आदि विषयों के पद हैं। वास्तव में ये ही अंश सूरसागर के प्रधान अंग कहे जा सकते हैं जो मौलिकता, रसात्मकता और भक्ति-भावना के विकाश की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं।

४

सूरदास के प्रतिकार्थ

भागवत में श्री कृष्ण की लीलाओं का वर्णन है और यों साधारण दृष्टि से देखने पर उसके दार्शनिक पक्ष का पता नहीं चलता, परन्तु इस ग्रन्थ का अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका दार्शनिक पक्ष बहुत पुष्ट है। वास्तव में वेदव्यास ने श्रीकृष्ण के लीला संबंधी श्लोकों में स्थान स्थान पर आध्यात्म पक्ष की ओर संकेत किया है। आचार्य्य और विद्वान भागवत के लीला संबंधी पदों को प्रतीकार्थ में ही लेते रहते हैं।

सूरसागर में कृष्ण के लीला संबंधी पदों में प्रतीकार्थ पर स्पष्टतः बल नहीं दिया गया है परन्तु कृष्ण की लीला का भक्त और भगवान के पारस्परिक संबंध के प्रतीक के रूप में प्रयोग अवश्य किया गया है, अनेक स्थानो में यह व्यजना प्रगट हो जाती है। इन स्थानों की ओर हम आगे संकेत करेंगे परन्तु यहाँ पर कृष्ण के लीला के प्रतीकार्थ और प्रतीकों पर विचार किया जायगा।

लीला

अणुभाष्य में लीला का अर्थ स्पष्ट करते हुये वल्लभाचार्य्य कहते हैं "लीलावस्तु लीला कैवल्यम्"[1] (लीला कैवल्य अर्थात् मोक्ष है)। इसका तात्पर्य्य यह है कि भक्त भगवान की लीला में भाग लेने से मोक्ष को प्राप्त होता है। भगवान के लिये जो लीलामात्र है वह भक्त के लिये मोक्ष का साधन है। लीला स्वयं अपने में पूर्ण है। उसका रंगस्थल यद्यपि

---

१ अणुभाष्य २—१—३३

हमारा संसार है परन्तु संसार व सांसारिकता से उसका कोई संबंध नहीं[1]। कदाचित् यही कारण है कि कृष्ण की लीला भूमि व्रज की एतलौकिकता दिखाने के लिये वल्लभाचार्य्य और पुष्टिमार्गी भक्तों ने व्रज को संसार से अलग माना और उसे गोलोक की प्रतिच्छाया अथवा गोलोक ही समझा। भागवत की कृष्ण-लीला का सीधा-सादा अर्थ यह है कि अनेक भक्त एक भगवान की उपासना करते हैं और आसक्ति की अनेक दशाओं को प्राप्त होते हुये उन्हीं की अनुकम्पा से मुक्ति पाते हैं और गोलोक प्राप्त करते हैं। गोपी और गोप जीवात्मा के प्रतीक हैं। कृष्ण ब्रह्म हैं। वेणु उनकी माया है, पीताम्बर उनकी माया है। ब्रह्म के अनुग्रह को प्राप्त कर लेने के बाद जीवात्मा राधा का प्रतीक हो जाती है और अन्त में वह ब्रह्म का स्वरूप हो जाती है।

गोपी-गोप

सूरसागर स्कंध १० पद ८३ के अनुसार गोपी-गोप वास्तव में देवता थे, जब कृष्ण-अवतार लेने लगे तो उन्होंने उन देवताओं को व्रजभूमि में जन्म लेने तथा विहार करने की आज्ञा दी[2]। परन्तु दूसरे ही पद में सूरदास और आगे बढ़कर कहते हैं कि कृष्ण गोपी तथा ग्वाल एक ही हैं। केवल लीला के लिये कृष्ण ने अपने देह से गोपी और ग्वालों की रचना की। कृष्ण का यह कौतुक देखकर देवता और उनकी पत्नियाँ चकित रह गईं[3]। ऊपर के दोनों पदों में विचार-वैभिन्य स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

---

१. लीलाया एवं प्रयोजनत्वात्। ईश्वरत्ववादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या।

२. यह बानी कहि सूर सुरन को, अब कृष्णा अवतार।
कह्यो सबनि व्रज जन्म लेहु संग, हमरे करहु विहार॥

३. ब्रह्म जिन्हहिं यह आयसु दीन्हो
तिन तिन संग जन्म लियो व्रज में सखी सखा करि परगट कीन्हों।
गोपी ग्वाल कान्ह दुइ नाहीं ये कहुँ नेक न न्यारे।

कदाचित् पहला पद भागवत के स्कंध १० अध्याय १८ श्लोक ११ से[1] प्रभावित है और दूसरा पद सूरदास का मौलिक मत प्रगट करता है। सूरदास ने स्थान स्थान पर "गोपी पद रज महिमा" गाई है। भृगु के प्रश्न करने पर ब्रह्मा ऋषि से कहते हैं कि गोपियाँ ब्रज बालाएँ नहीं हैं चरन श्रुति हैं। जब ब्रह्मा अवतार लेने लगा तो श्रुतियों ने कहा हम गोपी बनकर लीला में भाग लेना चाहती हैं। ब्रह्मा ने कहा 'एवमस्तु'। सुबोधिनी टीका में वल्लभाचार्य ने भी गोपियों को श्रुति माना है (श्रुत्यन्तर-रूपाणाम् गोपिकानां) परन्तु एक दूसरे स्थान पर उन्होंने गोपियों को लक्ष्मी का ही बहुरूप बताया है (समुदायरूपी लक्ष्मी)।

सच तो यह है कि आचार्य्य और सूरदास दोनों की गोपियाँ किसी एक निश्चित वस्तु की प्रतीक नहीं हैं। परन्तु जिन संदर्भों में उनका प्रयोग किया गया है उनसे उन्हें ब्रह्म की शक्ति समझा जा सकता है जो लीला के लिये बहुरूप हो गई है। इसी शक्ति को वल्लभाचार्य ने श्रुति और लक्ष्मी, और सूरदास ने श्रुति और देवी देवता माना है। भगवान और उनकी शक्ति में कोई भेद नहीं अतः कृष्ण और गोपियाँ अभिन्न हैं। वे ब्रह्म के ही अंग हैं। इसी कारण सूरदास ने उन्हें भी कृष्ण की तरह उपास्य माना है[2]।

इसी प्रतीकार्थ की रक्षा के लिए सूरदास ने गोपियों को गौड़ीय वैष्णवों की तरह अलङ्कारों का उदाहरण नहीं बनाया और न नंददास की तरह जड़-तार्किक मूर्तियों की स्थापना की। सूरसागर पढ़ने के बाद गोपियों का

जहाँ जहाँ अवतार धरत हरि ये नहिं नेक बिसारे।
एकै देह विहार करि राखे गोपी ग्वाल मुरारि।
यह सुख देखि सूर के प्रभु को थकित अमर संग नारि। स्कं० १० पद ८४

१. गोप जाति प्रतिच्छन्ना देवा गोपाल रूपिणः।

२. सूर की स्वामिनी नारि ब्रज भामिनी। सूरसागर। पृ० ३३४ पद २८

एक सामूहिक चित्र हमारे सामने आता है। प्रतीकार्थ को स्पष्ट करने के लिए यह आवश्यक था।

सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करते समय यह बतलाया गया है कि राधा भगवान की शक्ति, प्रकृति अथवा माया की प्रतीक है परन्तु काव्य के भक्ति पक्ष को देखते हुये राधा का दूसरा प्रतीकार्थ भी निकाला जा सकता है। राधा अनुग्रह प्राप्त भक्त का प्रतीक है जो आसक्ति की अनेक दशाओं को प्राप्त होता हुआ परम विरहासक्त हो जाता है। उस समय वह इन्द्रियों के विषयों के ऊपर उठ जाता है और उसका अस्तित्व केवल 'विरह की पीर' मात्र रह जाता है इसीलिये सूरदास ने कहा है :—

राधा

सोरह सहस पीर तन एकै
राधा जिव सब देह।

सूरसागर स्कंध १० पद २६

एक प्रकार से यही बात संत और सूफी कवियों ने भी कही थी। सूरदास ने जिसे राधा के प्रतीक से स्पष्ट किया है उसी भाव को स्पष्ट करने के लिये जायसी ने नागमती की कल्पना की थी और सन्त कवियों ने स्वयं अपने को राम की बहुरिया बनाकर विरह की उच्चतम अवस्था प्राप्त करने की चेष्टा की थी। वैष्णव कृष्ण-भक्त का चरमलक्ष्य यह था कि वह कृष्ण की अन्यतम गोपी बन जाय। भागवत में हम इस अन्यतम गोपी का परिचय पाते हैं। वहाँ उसके प्रतीकार्थ स्पष्ट हैं। जयदेव ने भी अन्यतम गोपी का वर्णन किया है जो विशेष रूप से कृष्ण की कृपापात्री है परन्तु भक्त की सारी अवस्थाओं की व्यंजना तब भी नहीं हो सकी थी। सूरदास ने राधा को इस अन्यतम गोपी का स्थान दिया और उसी में भक्ति की पूर्णता की कल्पना की। इस राधा की देह में सोलह हज़ार देहों की पीर थी तभी उसने कृष्ण की प्राप्ति की। भक्त भी विरहासक्ति की इसी उच्च दशा को प्राप्त करना चाहता था।

श्रीकृष्ण की मुरली उनपर शासन करती है। गोपियों ने इस विषय को लेकर अनेक उपालम्भ दिये हैं। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि मुरली कृष्ण की अन्यतम शक्ति है जो स्वयं उन्हें प्रेरित कर सकती है। दर्शन-संबंधी सिद्धान्तों के अध्ययन में मुरली को भगवान की माया कहा गया है। यहाँ इतना और कह देना चाहते हैं कि माया से हमारा तात्पर्य भगवान की शक्ति से ही था। इस शक्ति के दो पक्ष कल्पित किये गये हैं। एक पक्ष श्रेय की उत्पत्ति करता है दूसरा प्रेय की। श्रेय को उपनिषदों ने 'परा विद्या' और प्रेय को 'अपरा विद्या' कहा है। आधुनिक परिभाषा में हम इन्हें विद्या और अविद्या कह सकते हैं। इन्द्रियाँ और संसार तथा इनसे संबंध रखने वाली वस्तुओं का ज्ञान अविद्या है। ब्रह्म का ज्ञान विद्या है। जो माया अविद्या को उत्पन्न करती है वही ईश्वर का अनुग्रह होने पर विद्या को उत्पन्न करती है और इस प्रकार भक्त को भगवान से मिलाने का साधन बन जाती है। माया के इस रूप को दार्शनिक परिभाषा में योगमाया का नाम दिया गया है। संक्षेप में मुरली योगमाया है।

मुरली

मुरली की इस अतिप्राकृत विशेषता का वर्णन सूर के उन पदों में मिलता है जिनमें उन्होंने मुरली के प्रभावों का वर्णन किया है। सूरसागर में मुरली के संबंध में जो पहला पद है वह इस प्रकार है—

१—मेरे सांवरे जब मुरली अधर धरी।

सुनि ध्वनि सिद्ध समाधि टरी।
सुनि थके देव विमान। सुर वधू चित्र समान।
ग्रह नक्षत्र तजत न रास। याही बँधे ध्वनि पास।
सुनि आनँद उमगि भरे। जल थल के अचल टरे।
चराचर गति विपरीति। सुनि वेद कल्पित गीत।
झरना झरत पापान। गन्धर्व मोहे कलगान।
सुनि खग मृग मौन धरे। फल तृण सुधि बिसरे।
सुनि धेनु अति थकित रहीं। तृण दन्तहु नहीं गहीं।

बछरा न पीवे छीर। पंछी न मन, में धीर।
द्रुम वेलि चपल भये। सुनि पल्लव प्रगट नये।
जे विटप चंचल पात। ते निकट को अकुलात।
अकुलित जे पुलकित गात। अनुराग नैन चुचात।
सुनि चंचल पवन थके। सरिता जल चलि न सके।

सूरसागर पृ० १६८ पद ६

२—अंगिनि की सुधि भूलि गई।
स्याम अधर मृदु मधुर मुरलिका चकृति नारि भई।
जो जैसे तैसिहि रहि गई सुख-दुख कह्यो न जाई।
लिखी चित्र किसी सर्व है गईं एक टक पल विसराई।

३—मुरली सुनत अचल चले
थके चर जल झरत पाहन, विफल वृच्छु फले

× × × ×

पहले और तीसरे उद्धरण से मुरली की अलौकिकता स्पष्ट हो जाती है। दूसरे उद्धरण में आत्मा ब्रज नारी है, कृष्ण की अनुकम्पा मुरली की ध्वनि है। सूरदास में मुरली का प्रयोग काव्य-सौन्दर्य को भी पुष्ट करने के लिये किया है; किन्तु इस स्थल पर इस संबंध में कुछ न कहा जायगा।

यदि हम दर्शन पक्ष को अधिक स्पष्ट करना चाहें तो हम यह कह सकते हैं कि मुरली के रूपक द्वारा सूरदास ने शब्द ब्रह्म की महत्ता स्पष्ट की है। संत-साहित्य में शब्द और शब्द-ब्रह्म से परिचय देने वाले सद्‌गुरु का बड़ा महत्त्व है। सूरसागर में इन दोनों विषयों को कम महत्त्व नहीं है। निर्गुण मत की अनेक भावनाएँ सगुण उपासकों ने ग्रहण कर ली थीं और उन्हें अपने ढंग पर विकसित किया था। उनमें शब्द ब्रह्म की भावना भी थी। सम्भव है कि शब्द की महत्ता संत साहित्य से न ली जाकर उपनिषद् और टीका ग्रन्थों से ली गई हो। परन्तु यह अवश्य है कि आचार्य और सूरदास दोनों ने शब्द ब्रह्म को मुरली के रूपक द्वारा उपस्थित करने का प्रयत्न किया है। सूरदास में यह रूपक स्पष्ट नहीं हो पाता

रन्तु उन्होंने कई स्थान पर शब्द और सद्गुरु की महिमा गाई है[1]। परन्तु वल्लभाचार्य ने स्पष्टरूप से मुरली को श्रुति (शब्द) कहा है[2] वास्तव में शब्दब्रह्म ही परब्रह्म है[3]।

रास कृष्ण-लीला का प्रधान अंग है। वह अपने में ही पूर्ण है।

रास

सुबोधिनी में वल्लभाचार्य्य ने स्पष्ट कह दिया है .... 'लीला का कोई अर्थ नहीं। लीला स्वयं प्रयोजन है।' परन्तु भगवान के लिए लीला का कोई प्रयोजन नहीं भी हो भक्त के लिए उसका प्रयोजन अवश्य है। नदी के आवर्त्त उसके लिए कोई विशेष अर्थ नहीं रखते, केवल क्रीड़ा मात्र हैं। रास भी भगवान की क्रीड़ा है। दार्शनिक पक्ष में वह सृष्टि के आविर्भाव और तिरोभाव का रूपक है। उस चिदानंद सत्ता के लिए सृष्टि और प्रलय का कोई अर्थ नहीं; जिस प्रकार महान समुद्र में आवर्त्त अथवा बुद्बुद् उठा करते हैं और लोप हो जाया करते हैं उसी प्रकार उस चित् सत्ता से जड़ और चेतन का जन्म तथा विकास होता है और अंत में सब दृष्ट जगत उसी चित् सत्ता में लुप्त हो जाता है। वास्तव में यह सब लीला मात्र है। इसके पीछे न कोई प्रयोजन है, न कोई सत्य। रास-लीला में कृष्ण परब्रह्म हैं और गोपियाँ और राधा उन्हीं से विकसित जीवात्मा के रूपक हैं। लीला मात्र के लिए उनका जन्म होता है। तदनन्तर वे उसी में लय हो जाते हैं।

यह रास सारी सृष्टि में व्याप्त है और अनंत देश और अनंत काल में सदैव होता रहता है। ब्रह्म से जीवात्मा उत्पन्न होता है और अन्त में उसी में लय हो जाता है। साधारण मनुष्य इस भेद को नहीं समझ

---

१. आपुन पौ आपुन ही पायौ।

शब्द हि शब्द भयो उजियारो सद्गुरु भेद बतायो।

२. वेणुगीत।

३. शब्दब्रह्म परब्रह्म—स्कंध-पुराण।

पाते इसलिए भगवान गोपियों की उत्पत्ति करके रूपक के रूप में अपनी लीला भक्त के सामने रखते हैं। जो मनुष्य लीला के वास्तविक अर्थ को समझ लेता है वह उसमें भाग लेने लगता है और भगवान से भिन्न नहीं रह जाता। लीला के द्वारा भक्त भगवान को प्राप्त करता है। भक्त के दृष्टिकोण से लीला का यही प्रयोजन है। भगवान के लिए जो प्रयोजन हीन है वही बात भक्त के लिए अपार महत्त्व ग्रहण कर लेती है।

रास की यह लीला इतनी अलौकिक है कि संतों के शब्दों में गूंगे का गुड़ है। संतों ने भगवान के मिलन के जिस अलौकिक सुख का अनुभव अपने भीतर किया था वैसाही अनुभव कृष्ण-भक्त कवियों ने कृष्ण की लीला में पाया। यह सुख अनिर्वचनीय है। जो एक बार भगवान की क्रीड़ा में भाग लेते हैं वही उसको समझ पाते हैं[1]। भगवत-मिलन का सुख एतर-इन्द्रिय है उसका अनुभव भगवान की अनुकम्पा के बिना हो ही नहीं सकता[2]। इसीलिए भक्त रास की रंग-स्थली वृन्दावन, यमुनातट तमाल कुंज और उन गोपी-गोपिकाओं को धन्य कहते हुये नहीं थकता जो इस रास में भाग लेते हैं और जिन्हें भगवान का अनुग्रह प्राप्त हुआ है। उसका लक्ष्य यह है कि वह उन गोपियों से तादात्म्य स्थापित कर ले और रास में भाग ले।

संत-साहित्य में हम निर्गुणियों को होली, फाग व बसन्त खेलते हुये पाते हैं। संत हिंडोले के ऊपर झूलता रहता है। यह हिंडोला भगवान की भक्ति के साधन का प्रतीक है। इसी प्रकार कृष्ण-भक्त कवि रास, होली और फगुआ में मानसिक भाग लेकर भगवत-मिलन के आनंद की प्राप्ति करते थे।

---

१. यह महिमा आई पै जानैं कवि सों कहा वरनि यह जाई।
सूरश्याम रस रास रीतिसुख बिन देखे आवै क्यों गाई।

सूरसा० स्कं० १० पद ६

रास रस रीति बरनि नहिं आवै। स्कं० १० पद ६

२. कृपा बिनु न हियां रसहिं पखे। स्कं० १० पद ६

सृष्टि की उत्पत्ति और प्रलय को धर्म-ग्रन्थ इसी प्रकार के एक दूसरे रूपक से स्पष्ट करते आये हैं। यह रूपक शंकर का ताण्डव नृत्य है। कदाचित् यह रूपक रास के रूपक से प्राचीन है। सम्भव है इसकी कल्पना अनार्य्य हो। परन्तु रास के रूपक की कल्पना भागवतकार के मस्तिष्क की उपज है। सूरदास ने भागवत के रूपक को अधिक स्पष्ट, अधिक मधुर और अधिक विकसित करके हमारे सामने रक्खा है।

सृष्टि और प्रलय के क्रम को भगवान की नित्य लीला बताने और उसकी अलौकिकता को अधिक स्पष्ट करने के लिये सूरदास ने रास का इस प्रकार वर्णन किया है—

नित्य धाम वृन्दावन श्याम।
नित्यरूप राधा ब्रजवाम।
नित्य रास जल नित्य विहार।
नित्य मान खण्डिताभिसार।
ब्रह्म रूप एई करतार।
करणहार त्रिभुवन संसार।
नित्य कुंज सुख नित्यहि डोर।
नित्यहिं त्रिविधि समीर झकोर।
सदा वसन्त रहत तहँ वास।
सदा हर्ष जहँ नाहिं उदास।

सूरसागर स्कं० १० पद ७२

सूर गण चढ़ि विमान नभ देखत।
ललना सहित सुमनगन बरसत जन्म धन्य ब्रज ही को लेखत।

सूरसा० पृ० ३४४ पद ३७

सूरदास ने जिस वृन्दावन की कल्पना की है वह पार्थिव होते हुए भी अपार्थिव है। अलौकिक लीला का रंगस्थल लौकिक नहीं हो सकता। सुबोधिनी में वल्लभाचार्य्य ने स्पष्ट कहा है:—सर्वतत्वेषु यो विष्टः स

भूमावपि संगतः। स नित्यं क्वचिदेवास्ति तत्स्थानं मथुरा स्मृता[1]। इस वृन्दावन में कृष्ण की लीला सदैव चलती रहती है[2]। एक प्रकार से वृन्दावन स्वयं भक्त के भावुक हृदय का रूपक है।

---

१. सुबोधिनी—१०—१२—६।

"जो समस्त तत्त्वों में प्रविष्ट है, वही भूमि में भी प्रवेश किए हुए है। वह नित्य-प्रति कहीं न कहीं है। जिस स्थान पर वह है, उसे मथुरा कह कर स्मरण किया जाता है।"

२. वृंदावन हरि यहि विधि क्रीड़त सदा राधिका संग—सूरसारावली १०६६।

५

सूर के दार्शनिक सिद्धान्त

दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या सूरदास का लक्ष्य नहीं था। वे भक्त हृदय-कवि थे। उनका हृदय श्री कृष्ण के लीला-संबंधी पदों में पूर्णतया मिलता है। एक तो उन्हें धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचना की आवश्यकता ही नहीं थी। उनके गुरु महाप्रभु वल्लभाचार्य्य और उनके पुत्र विट्ठलदास जी धर्म और दर्शन की गुत्थियाँ सुलझाने के लिये उस समय उपस्थित ही थे। इसी से उन्होंने तुलसीदास की तरह किसी धार्मिक और दार्शनिक पद्धति को उपस्थित करने की चेष्टा नहीं की। चौरासी वार्ता की कथाओं से पता लगता है कि उनका संस्कृत का ज्ञान भी बहुत कम था। भागवत की कथा उन्होंने स्वयं पुस्तक से नहीं पढ़ी वरन् वल्लभाचार्य्य ने समर्पण के बाद भागवत की अनुकमणिका उन्हें सुनाई। पुष्टिमार्ग के धार्मिक सिद्धान्त भी उन्होंने महाप्रभु के ही मुख से सुने होंगे[1]। सूरसागर स्कन्ध १ पद २१७ इस संबंध में साक्षी है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास को न दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की आवश्यकता थी और न इस काम के लिये उपयुक्त पात्र ही थे।

---

१. माया काल कछू नहिं व्यापे
यह रस रीति जु जानी।
सूरदास यह सकल समग्री
गुरु प्रताप पहिचानी॥

परन्तु सम्प्रदाय की प्रत्येक बैठक में धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों की चर्चाएँ हुआ करती थीं और बृहत्त्रयी और भागवत के उद्धरण पद-पद पर प्रमाण-रूप उपस्थित किये जाते थे। धार्मिक और दार्शनिक विषयों पर वाद-विवाद भी बोलचाल की ब्रजभाषा में ही होते रहे होंगे और संस्कृत न जानने वाले शिष्यों के लिये महाप्रभु संस्कृत के उद्धरणों की व्याख्या उसी भाषा में करके समझाते रहे होंगे। अतः ऐसे वातावरण में सूरदास पुष्टिमार्ग के धार्मिक और दार्शनिक सिद्धान्तों से अपरिचित नहीं रह सके यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यही कारण है कि हम अनेक पदों में उच्चकोटि के दार्शनिक सिद्धान्त पाते हैं जिनमें माया, जीव, ब्रह्म आदि का वर्णन है।

महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने वैष्णव धर्म के पुष्टिमार्ग का प्रवर्तन किया। अन्य आचार्यों के समान उन्होंने भी बृहत्त्रयी को अपने मत की पुष्टि के प्रमाणरूप उपस्थित किया। परन्तु जहाँ दूसरे मत भागवत को ऊँचा स्थान नहीं देते थे वहाँ महाप्रभु ने उसको भी वही स्थान दिया जो बृहत्त्रयी को मिलता था। उसी श्रद्धा से भागवत के भी उद्धरण उपस्थित किये। सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना करने के पहिले महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तों से परिचित हो जाना आवश्यक है।

महाप्रभु के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन के लिये उनके तीन ग्रन्थ मिलते हैं। (१) बृहत्त्रयी का अणुभाष्य (२) भागवत की सुबोधिनी टीका (३) षोडश ग्रन्थ।

कृष्ण

वल्लभाचार्य्य के अनुसार कृष्ण परब्रह्म हैं। वही संसार का पालन, पोषण और संहार करते हैं। वही सृष्टि का उपादान कारण हैं। वे स्वयं सच्चिदानंद हैं। उन्हीं से जीव और प्रकृति की उत्पत्ति हुई। जीव में कृष्ण के सत् और चित् गुणों का प्रादुर्भाव हुआ परन्तु आनन्द-तत्त्व तिरोभूत रहा। इसी प्रकार जड़-प्रकृति में केवल सत-तत्त्व का प्रादुर्भाव हुआ और चित्

और आनन्द के विशेषण तिरोभूत रहे। इस प्रकार सत् चित् आनन्द ब्रह्म से सत्चित् आत्मा और चित् प्रकृति का जन्म हुआ। वास्तव में तीनों तत्त्व की यही भिन्नता जीव, प्रकृति और परमात्मा के भेदों का कारण है। यह त्रिगुणात्मक ब्रह्म (कृष्ण) अपने गुणों के आविर्भाव और तिरोभाव से इस संसार के रूप में प्रगट हुआ।

परन्तु जन साधारण के ग्रहण करने के लिये वल्लभाचार्य्य ने श्री कृष्ण के गोलोक की विस्तारपूर्वक कल्पना की। श्री कृष्ण राधिका के साथ गोलोक में निवास करते हैं। भक्त आत्माएँ उनके साथ रहती हैं। भक्तों को लीला का आनन्द देने के ही लिये वे पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। गोलोक पूर्ण रूप से व्रजस्थली पर अवतीर्ण हो जाता है। भक्त ही गोपी, ग्वाल, नंद-यशोदा का रूप ग्रहण कर लेते हैं और कृष्ण और राधा की लीला का आनंद उठाते हैं। यह वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों का ही धार्मिक पक्ष है।

आत्मा

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म की विशेषतायें ये हैं, ऐश्वर्य्य, वीर्य्य, यशस् श्री ज्ञान और वैराग्य। आत्मा का आविर्भाव परमात्मा के आनंद गुण के तिरोभूत होने से हुआ। उसकी विशेषतायें ये हैं—दीनत्व, सर्व-दुःख-सहन, सर्वहीनत्व जन्मादिसर्वविद्विपयत्व, देहादिस्वहंबुद्धि और विषयासक्ति। परमात्मा से आत्मा (जीव) का विकास उसी प्रकार हुआ जिस प्रकार अग्नि से चिनगारी प्रगट होती है। यह काम ब्रह्म की अपनी ही शक्ति से ही हुआ, इसमें माया का कोई हाथ नहीं। वल्लभाचार्य्य के मत में जीव भी उतना ही सत्य है जितना ब्रह्म। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही है क्योंकि ब्रह्म जीव का उपादान कारण भी है। जीवात्मा परमात्मा का प्रतिबिम्ब नहीं है वह उसका अंश है। आत्मा और परमात्मा (जीव और ब्रह्म) में अन्तर केवल यह है कि जीव की शक्तियाँ अपनी सत्ता के कारण सीमित है।

जीव के समान प्रकृति भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति मात्र है। आनंद और सत् के विशेषणों के तिरोभाव से उसका विकास सम्भव होता है। वास्तव में प्रकृति तत्त्व का विकास इसी प्रकार हुआ जिस प्रकार दूध से दही बनता है। गोलोक की अवतारणा ब्रज के रूप में पृथ्वी पर करके महाप्रभु ने प्रकृति को साधारण जड़-सत्ता से कहीं ऊपर उठा दिया है।

प्रकृति

वल्लभाचार्य्य के अनुसार आत्मा तीन प्रकार की है (१) मुक्तियोगिन् (२) नित्यसंसारिन् (३) तमोयोग। नित्य संसारिन् आत्मा की मुक्ति नहीं होती। वह अनंत काल तक आवागमन के चक्कर में पड़ी रहती है। तमोयोग आत्मायें इनसे भी निकृष्ट हैं। संसार में जीवन-यापन करने के पश्चात् इन्हें अनंत काल के लिये अंधकार में जाना पड़ता है। मुक्तियोगिन् आत्मायें ही ऐसी आत्मायें हैं। जो मुक्ति प्राप्त कर पाती हैं। कौन आत्मा किस प्रकार की है यह पहिले से ही निश्चित है।

मुक्ति

मुक्तियोगिन् आत्मायें भी बिना परब्रह्म के अनुग्रह के मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकतीं। मुक्ति के साधन के विषय में वल्लभाचार्य्य ने मौलिक कल्पना की है। आचार्य्य का मत है कि भक्ति से कृष्ण की अनुभूति होती है। यही कृष्ण परब्रह्म हैं। परन्तु इनकी भक्ति मनुष्य में किस प्रकार उत्पन्न हो? वास्तव में भक्त को भक्ति के उत्पन्न करने के लिये अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। वह भक्ति भगवान की कृपा और अनुग्रह से ही प्राप्त हो सकती है। इसी अनुग्रह का नाम वल्लभाचर्य्य ने पुष्टि रक्खा है। षोडशग्रन्थ में निरोध (अनुग्रह द्वारा मुक्ति) का वर्णन करते हुये महाप्रभु लिखते हैं।

हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भव सागरे।
ये निरुद्धास्तएवात्र मोदमायांत्यहर्निशं ॥[1]

---

१. षोडशग्रन्थ (निरोध लक्षणम्) पद ११

(जिन्हें भगवान ने छोड़ दिया है वे भवसागर में डूब गये हैं और जो निरुद्ध किये गये हैं वे अहर्निशि आनंद में लीन हैं)। इसी निरोध मार्ग (पुष्टिमार्ग) का वर्णन विस्तार रूप से "पुष्टि प्रवाह मर्य्यादा भेदा" में किया गया है। अणुभाष्य में भी उन्होंने अपने पुष्टिमत का विवेचन किया है।

कृति साध्यं साधनं ज्ञान भक्ति रूप शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा। तत् हितानामपि स्व स्वरूप बलेन स्वप्रापणं पुष्टिरित्युच्यते।

इससे यह पता चलता है कि महाप्रभु के मतानुसार मुक्ति के दो मार्ग हैं एक ज्ञान और साधना का जिसे उन्होंने मर्यादा का नाम दिया है और दूसरा भगवान के अनुग्रह (पुष्टि) का जिसे उन्होंने पुष्टि का नाम दिया है। ज्ञान-प्राप्ति के लिये ' कष्ट कृच्छ्र ' साधनाओं की आवश्यकता है और ये साधन सर्व सुगम नहीं हैं। इसी से जन साधारण के हित के लिये मर्यादा मार्ग के साथ पुष्टिमार्ग की अवतारणा की गई। परन्तु वल्लभाचार्य्य का यह भी कहना है कि पुष्टिमार्ग मर्य्यादा मार्ग से कहीं ऊँचा है। ज्ञान और योग द्वारा जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है वह भगवत अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति से निम्नश्रेणी की है। भक्ति और अनुग्रह द्वारा प्राप्त मुक्ति ही मनुष्य मात्र का लक्ष्य होना चाहिये। इसके लिये अधिक साधन की आवश्यकता नहीं। भक्त को परमेश्वर के प्रति आत्मसमर्पण करना चाहिये और उसके अनुग्रह की प्रतीक्षा करनी चाहिये। पुष्टि द्वारा मुक्ति प्राप्त करने के बाद जीवात्मा परमात्मा के सन्निकट गोलोक में पहुँच जाती है और उसकी लीला में भाग लेने लगती है।

वल्लभाचार्य ने पुष्टि चार प्रकार की बताई है—प्रवाह पुष्टि, मर्यादा पुष्टि, पुष्टि पुष्टि और शुद्ध पुष्टि। प्रवाह पुष्टि के अनुसार भक्त संसार में रहता हुआ भी श्रीकृष्ण की भक्ति करता है। मर्यादा पुष्टि के अनुसार भक्त संसार के समस्त सुखों से अपना हृदय खींच लेता है और श्रीकृष्ण के गुणगान और कीर्तन द्वारा भक्ति की साधना करता है। इस प्रकार

प्रभाव पुष्टि और मर्यादा पुष्टि, पुष्टि की निम्नश्रेणियाँ हैं जिनमें भक्त परमात्मा का अनुग्रह प्राप्त करने के लिये प्रयत्नशील होता है। पुष्टि में श्रीकृष्ण का अनुग्रह प्राप्त हो जाता है किन्तु साथ ही भक्त की साधना भी बनी रहती है इस प्रकार की पुष्टि में भक्त और भगवान दोनों क्रियाशील रहते हैं। वास्तव में सबसे ऊँची श्रेणी की पुष्टि शुद्ध पुष्टि है जो वल्लभाचार्य और उनके सम्प्रदाय का चरम उद्देश्य थी। भक्त अपने भगवान पर पूर्णतः आश्रित हो जाता है। भगवान भक्त पर अनुग्रह करते हैं। इस अनुग्रह के प्राप्त होने पर भक्त के हृदय में श्रीकृष्ण के प्रति इतनी अनुभूति हो जाती है कि वह भगवान की लीलाओं से अपना तादात्म्य स्थापित कर लेता है। उसका हृदय श्रीकृष्ण की लीला-भूमि बन जाता है। गो, गोप, यमुना, गोपी, कदम्ब और राधा-कृष्ण उसके आराध्य ही नहीं वरन् उसके अत्यन्त निकट की वस्तुयें हो जाते हैं। वह वात्सल्यासक्ति, संख्यासक्ति, कांतासक्ति, आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति और अंत में परम विरहासक्ति को प्राप्त होता है। शरीर छोड़ने पर वह गोलोक में निवास करता है और इस प्रकार उसका जीवन सार्थक हो जाता है।

यदि भागवत का अध्ययन पुष्टि के विकास के दृष्टिकोण से किया जाय तो यह स्पष्ट दिखाई पड़ता है कि उसमें श्रीकृष्ण के बाल वर्णन से लेकर भ्रमर गीत कथित गोपियों की परम विरहासक्ति तक पाठक क्रमशः वात्सल्यासक्ति, सख्यासक्ति, कांतासक्ति आत्मानिवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति और परम विरहासक्ति से परिचित हो जाता है। एक प्रकार से भागवत के गोप और गोपी भक्त के रूपक हैं और भक्त की तरह ही भगवान की प्राप्ति के लिये उन्हें आसक्ति की उन्हीं सभी दशाओं में से गुज़रना पड़ता है। यही कारण है कि पुष्टि मार्ग का भक्त यशोदा-नंद और गोपी-गोपों से अपना तादात्म्य स्थापित करना चाहता है, वे जैसे उसके लिये आदर्श-स्वरूप हों। निरोधलक्षणम् में महाप्रभु ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है।

यच्च दुःखं यशोदाया नंदादीनां च गोकुले।
गोपिकानां च यद्दुःखं तद्दुःखं स्यान्मम क्वचित्॥
गोकुले गोपिकानां च सर्वेषां व्रजवासिनाम्।
यत्सुखं सम्भूतन्मे भगवान् किं विधास्यति॥
उद्धवा गमने जात उत्सवः सुमहान् यथा।
वृन्दावने गोकुले वा तथा मे मनसि क्वचित्॥[1]

माया

वल्लभाचार्य्य के अनुसार परमात्मा से आत्मा और प्रकृति के विकास होने में माया का हाथ नहीं है। उनका मत है कि माया जिस प्रकार पारमार्थिक सत्ता को हमारी दृष्टि से छिपा देती है उसी प्रकार उससे मिलाने में भी सहायता करती है। इसीलिये भक्त कवियों ने श्रीकृष्ण की मुरली को माया का रूपक माना है और उसे योगमाया का नाम दिया है[2]।

अन्य आचार्यों के दार्शनिक सिद्धान्तों के साथ वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना करने से हमें उनके दार्शनिक सिद्धान्त अधिक स्पष्ट हो जाते हैं। शंकराचार्य के मत में जीवात्मा परमात्मा में भिन्नता माया के कारण दिखाई पड़ती है। वास्तव में यह नानात्व मिथ्या है परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार जीवात्मा की परमात्मा से भिन्नता सत्य है और इस भिन्नता का कारण भी परमात्मा ही है। इसके अतिरिक्त शंकराचार्य से इनका यह भी भेद है कि वे प्रकृति की सत्ता को भी सत्य स्वीकार कर लेते हैं। मध्व के अनुसार जीव और प्रकृति परमात्मा से भिन्न हैं और एक प्रकार से परतंत्र हैं। परन्तु वल्लभाचार्य के अनुसार जीव और प्रकृति वास्तव में परमात्मा की आंशिक अभिव्यक्ति हैं। परमात्मा से वे इसीलिये भिन्न हैं कि उनमें उनके सारे गुण प्रगट नहीं होते। उनका माया संबंधी मत भी शंकर और श्रीधर से भिन्न है।

---

१. षोडशग्रन्थ निरोधलक्षणम् १, २, ३, (पृ० २—४)

२ लीनी योग माया सी मुरली—नंद दास-रास पंचाध्यायी।

वल्लभाचार्य ने माया को ब्रह्म की शक्ति कहा है[१]। यही शक्ति परमात्मा को आवरण की भाँति ढके हुये है जिस प्रकार कृष्ण अपने शरीर को पीताम्बर से ढके रहते हैं[२]। वल्लभाचार्य ने दिक् और काल के संबंध में अधिक विस्तारपूर्वक अपने मत नहीं प्रगट किये। उन्होंने दिक् का तो उल्लेख ही नहीं किया है। किन्तु सुबोधिनी १०—३—२६ में उन्होंने काल का वर्णन इस प्रकार किया है।

'अपां तत्त्वं दरवरं भुवानात्मकं कमलं प्राणात्मको वायुर्गदा तेजस्तत्त्वं सुदर्शनम्। एवं शंखपद्मगदाचक्राणि क्रमेण निरूपितानि।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वल्लभाचार्य ने भागवत की कथा को लेकर उसके द्वारा साधना की एक पद्धति ही भक्तों के सामने उपस्थित कर दी। वास्तव में भागवत स्वयं एक आध्यात्मिक ग्रन्थ है जिसका आध्यात्मिक रूप कथाओं में छिप गया है। गोपी, रास, मुरली आदि सभी वस्तुओं का प्रयोग इस पुस्तक में प्रतीकार्थ में हुआ है। वल्लभाचार्य ने इन प्रतीकों को विकसित किया और सूरदास ने उनको रागात्मक रूप दिया। सच तो यह है कि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों को मध्ययुग की भक्त-प्राण जनता के लिये सुबोध बनाने का सारा श्रेय सूरदास को है। इसी बात को आगे चलकर स्पष्ट किया जायगा।

सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों को पूर्णतया रक्षा करने का कष्ट नहीं उठाया। उन्होंने उन सिद्धान्तों को मौलिक रूप से स्पष्ट किया। इन सिद्धान्तों की रूप-रेखा वल्लभाचार्य से ही उन्हें मिली परन्तु वह उनके सूक्ष्मतम रूपों की ओर नहीं बढ़े। बीज रूप से उन्होंने उसका पालन

---

१. या जगत्कारणभूता भगवच्छक्तिः सा योगमाया—सुबोधिनी १०—१—५

२. सुबोधिनी—कनककपिशं वासः

अवश्य किया। बहुत सम्भव यह है कि वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त अन्य आचार्यों और पुराणों के सिद्धान्तों से मिल गये हैं।

सूरसागर में पुष्टि या मर्यादा शब्द एक बार भी नहीं आता। सूरदास ने शुद्ध, सांसारिक, मुक्त, देव और मानवात्माओं जैसे आत्माओं के विभाग भी नहीं किये। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में आविर्भाव तिरोभाव जैसे पारिभाषिक शब्द स्थान-स्थान पर आते हैं परन्तु सूरदास के सूरसागर में ये शब्द एक बार भी नहीं आते यद्यपि इन शब्दों में सन्निहित भाव अनेक पदों में मिलते हैं। जहाँ महाप्रभु ने माया की तुलना "कनक कपिश वस्त्र" से की है वहाँ सूरदास ने उसे काली कमरी माना है[1]।

इस प्रकार अनेक स्थानों पर सूरदास के चिंतन की मौलिकता का पता लगता है। सबसे बड़ी मौलिकता राधा के संबंध में है। सूर ने राधा को कृष्ण की शक्ति का प्रतीक माना है। वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों में राधा का कोई स्थान नहीं है।

अब सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया जायगा।

सूरदास के कृष्ण

सूरदास के कृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं। भागवत के कृष्ण भी पूर्ण ब्रह्म हैं। वल्लभाचार्य ने अपनी बालाबोधिनी टीका में इस बात को स्पष्ट कर दिया है। 'चौरासी वार्ता' में लिखा है कि महाप्रभु ने भागवत और सुबोधिनी टीकाएँ सूरदास को समझाईं। 'जो सूरदास को सम्पूर्ण सुबोधिनी स्फुरी सो श्री आचार्य महाप्रभून ने जान्यो' आदि प्रसंग से पता चलता है कि बात सत्य है। इससे पता चलता है कि कृष्ण के पूर्ण ब्रह्म होने का सिद्धान्त सूरदास ने वल्लभाचार्य से ही लिया।

सूरसारावली १०९९—११०१ तक हम इस प्रकार पढ़ते हैं—

---

१. यह कमरी कमरी करि जानत—स्कंध १० पद ६६

२. धनि धनि यह कामरि री मोहन स्यामलाल को। स्कं० १० पद ६७

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहिं जानत बिहरत जुगल स्वरूप॥
सकल तत्त्व ब्रह्माण्ड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुस श्रीपति नारायण सब हैं अंश गोपाल॥

यह पूर्ण ब्रह्म वास्तव में निर्गुण है—

पिता मात इनके नहिं कोई
आपुहिं करता आपहिं हरता निरगुण गये ते रहत हैं जोई।

परन्तु सूरसागर में अनेक स्थलों पर विष्णु, हरि आदि अनेक शब्दों का प्रयोग हुआ है और इन देवताओं की वंदना भी की गई है। प्रत्येक स्कंध के प्रारम्भ में इस प्रकार का पद है। हरि हरि हरि सुमिरण करौं, हरि चरणार-विंद उर धरौं। उन्होंने राम को भी उतनी ही महत्ता दे रक्खी है जितनी कृष्ण को यद्यपि उनकी लीला इतने विस्तार से नहीं कही गई। इन सब से पाठक उलझन में पड़ जाता है।

वास्तव में विष्णु, हरि, राम कृष्ण के ही नाम हैं। सूरदास ने उनका प्रयोग इसी अर्थ में किया है। ये निर्गुण ब्रह्म के सगुण रूपों के नाम हैं। कोई नाम दूसरे नाम से प्रिय अधिक हो सकता है किन्तु कोई नाम दूसरे नाम से बड़ा नहीं है। ब्रह्म जब अवतार लेता है तो उसका नाम चाहिये ही। सूरदास ने उसके नाम रख दिये और उनका पर्य्यायवाची रूप में प्रयोग किया।

साधारणतया विष्णु त्रिदेवों में से एक देव समझे जाते हैं। परन्तु सूरदास के विष्णु परब्रह्म ही हैं जो वास्तव में कृष्ण हैं। यही कृष्ण सूर के 'एक पुरुष' हैं। यही उनके नारायण हैं। सूरसागर स्कंध ४ पद १ में अत्रि की कथा है—

अत्रि पुत्र हित बहु तप कियो।
तासु नारि हूँ यह व्रत लियो॥

तीनों देव तहाँ मिलि आयो।
तिन सों रिस यह वचन सुनायो॥
मैं तो एक पुरुष को ध्यायो।
और एकहिं सों मैं चित लायो॥
अपने आपन को कहो कारण।
तुमही सकल जगत निस्तारण॥
कह्यो जो तुम एक पुरुष जो ध्यायो।
ताको दर्शन काहू पायो॥
ताकी शक्ति पाइ हम करें।
प्रतिपाले बहुरो संहरे॥
हम तीनो हैं जग करतार।
नाम लेहु हमसो बरसार॥

इस उद्धरण से यह स्पष्ट होता है कि सूर का एक पुरुष ब्रह्मा विष्णु महेश से ऊँचा है। इसी स्कंध के चौथे पद में दक्ष प्रजापति के यज्ञ की कथा है जिसमें यज्ञ पुरुष के दर्शन होते हैं। यह यज्ञ पुरुष त्रिदेवों से स्वतंत्र सत्ता रखता है और इनसे बड़ा है। वह कहता है—

विष्णुरुद्र विधि एकहि रूप।
इनहिं जान मत ब्रह्म स्वरूप॥

और यह वास्तव में मेरे ही रूप हैं

विष्णु बिधि रुद्र ममरूप ये तीनिहुँ दच्छसों वचन यह कहि सुनायो ....स्कं० ४ पद ५

इसी प्रकार कृष्ण नारायण और हरि से भी बड़े हैं। कृष्ण की वंशी की ध्वनि सुनकर नारायण ललचाने लगते[1] हैं और रमाकांत विष्णु रास करते हुए कृष्ण का ध्यान करते हैं[2]। इसी परब्रह्मरूप कृष्ण को कभी

---

१. नारायण धुनि सुनि ललचाने स्याम अधर सुनि बैन। पद ५४
२. वृंदावन हरिरास उपायो, रमाकंत जासु को ध्यायो। पद ६०

जगदीश के नाम से कभी यदुराई के नाम से पुकारते हैं। वाणासुर प्रसंग में जगदीश शिव से कहते हैं जो तुम्हारी सेवा करे वह मेरा सेवक है। विष्णु ब्रह्मा और शिव मेरे ही रूप हैं[१]। सूरदास का एक प्रसिद्ध लोकप्रिय पद है "हरि सो ठाकुर और जन को" इस पद में उन्होंने पहिले अपने उपास्यदेव का स्थान हरि को दिया है और उन्हें विष्णु, ब्रह्मा और शिव से स्वतंत्र माना है। ब्रह्मा का स्वभाव राजस् है, और शिव का तामस् विष्णु इन दोनों से अधिक श्रेष्ठ हैं क्योंकि उनका स्वभाव सात्विक है। इन्हीं विष्णु ने ब्राह्मण भृगु की लात सीने पर धारण की थी। किन्तु अन्तिम पंक्ति तक पहुँचते पहुँचते सूरदास हरि (विष्णु) का तादात्म्य श्रीकृष्ण से स्थापित कर डालते हैं[२]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर ने कृष्ण को पूर्ण ब्रह्म और त्रिदेवों से बड़ा माना है। स्थान-स्थान पर यह लिख दिया है कि कृष्ण, विष्णु हरि में वास्तव में कोई विशेष अन्तर नहीं। सच बात तो यह है कि मध्य युग के अन्य वैष्णव कवियों की तरह सूरदास भी कैथोलिक थे और उनकी उपासना पद्धति में सभी वैष्णव उपास्य-देवों को स्थान मिला था। यद्यपि उन्होंने उन्हें स्थान देते समय श्रीकृष्ण की श्रेष्ठता बना रक्खी और उन्हें एक पुरुष 'यज्ञ-पुरुष' और परब्रह्म का नाम दिया।

अनेक देवताओं और अवतारों में सामंजस्य बैठाने की प्रवृत्ति उस युग की विशेषता है। रामोपासक तुलसी ने एक सम्पूर्ण कृष्ण गीतावली ही लिख डाली है और हरि हर वाले पद[३] में विष्णु और शिव की एक ही साथ वंदना की है। सूरदास ने भी यदि ऐसा किया तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। वास्तव में तुलसीदास राम और कृष्ण में इतना तादात्म्य

---

१. करै जो सेव तुम्हारी सो मम सेव है विष्णु शिव ब्रह्म मम रूप सारी—पृ० १३६३ पद ६०

२. भजो सब कोई सूर प्रभु यदुराई। पद ३७

३. देखो विनय पत्रिका

उपस्थित नहीं कर सके जितना सूरदास ने किया। इस दृष्टिकोण से सूर-सागर का अध्ययन करना रोचक होगा। श्री जनार्दन मिश्र ने अपनी पुस्तक के ७१ वें पृष्ठ पर इस ओर संकेत किया है। यशोदा कृष्ण को राम-कथा सुना रही हैं। जब वे सीताहरण प्रसंग पर आती हैं तो कृष्ण नींद से चौंक उठते हैं।

रावण हरण कर्यो सीता को सुनि करुणामय नींद बिसारी।
सूर श्याम कर उठे चाप को लछिमन देहु जननी भ्रम भारी[1] ॥

इस पद से यह प्रगट होता है कि सूरदास कृष्णावतार और रामावतार में कुछ भी अन्तर नहीं समझते थे। उन्होंने दोनों कहानियों को बड़े कथात्मक ढंग से एक सूत्र में गूँथ दिया है। सूरसारावली पद ११३ में सूरदास ने कहा भी है—रामकृष्ण अवतार मनोहर भक्तन हित काज इसके अतिरिक्त उन्होंने रामावतार और कृष्णावतार के कितने ही कथा प्रसंगों को एक ही स्थान पर रख दिया है जैसे वे एक ही अवतार के जीवन में घटी हों। स्कंध ९ पद १५८, १५९ के अनुसार रामचंद्र कृष्ण पुरुषोत्तम के अवतार हैं और संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरूद्ध क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न के अवतार हैं। इस प्रकार का सामंजस्य उपस्थित करना सूरदास की मौलिकता है।

जिस प्रकार हरिहर वाले पद में तुलसीदास ने दोनों देवों के सामंजस्य की चेष्टा की है उसी प्रकार की चेष्टा सूरसागर में भी मिलती है। सूरसागर पृ० १२१ पद ४८ 'बरनौ बाल वेष मुरारी' वाले पद में सूरदास ने हरि को हर वेष में उपस्थित किया है। उसी प्रकार की झलक इसके बाद के भी पद में मिलती है।

यह स्पष्ट है कि सूरदास के कृष्ण मूल रूप में निर्गुण हैं परन्तु साधारण जनों के लिये अगम अगोचर ब्रह्म-रूप कृष्ण की कल्पना करना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। इसी से सूरदास ने सगुण उपासना को ही अपना

१. सूरसागर स्कं० १० पद ७२

लक्ष्य रक्खा यद्यपि स्थान-स्थान पर उन्होंने सगुण कृष्ण में निर्गुण कृष्ण का आभास दिया है।

अविगत गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूंगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै॥
परमस्वाद सबही जु निरंतर अमित तोष उपजावे।
मन वाणी को अगम अगोचर सो जानै जो पावे॥
रूप रेख गुण जाति जुगति बिनु निरालंब मन चकित धावे।
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुण लीला पद गावे॥

स्कं० १—पद २

वेद उपनिषद यश कहै निर्गुणहिं बतावै।
सोई सगुण होइ नन्द की दाँवरी बधावै॥

स्कं० १—पद ४

यदि हम ब्रह्म और कृष्ण के संबंध में सूरदास के दार्शनिक सिद्धान्तों को एक स्थान पर रक्खें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि उन्होंने कृष्ण के दो रूप हमारे सामने रक्खे हैं। वास्तव में कृष्ण पूर्ण परब्रह्म और निर्गुण निराकार हैं। परन्तु भक्तों के लिये वे लीलारूप धारण कर लेते हैं और लीलाकर कृष्ण के रूप में पृथ्वी पर अवतार लेते हैं। इस प्रकार भक्त की भावना से निर्गुण सगुण हो जाता है। निर्गुण ब्रह्म (कृष्ण) के अनेक अवतार हैं जिनमें कृष्णावतार भी एक है। इसी भाव से सूरदास ने अनेक अवतारों का वर्णन किया है। उनका दृष्टिकोण उन स्थलों से प्रगट हो जाता है जिनमें राम और कृष्ण का तादात्म्य उपस्थित किया गया है। राम कृष्ण के दो अवतारों को तो कवि भिन्न मानते ही नहीं। त्रिदेव (ब्रह्मा विष्णु महेश) की सत्ता निर्गुण ब्रह्म से नीचे है और इसीलिये कवि ने अनेक रूपों से यह स्पष्ट किया है कि ये देवता निर्गुण रूप ब्रह्म (कृष्ण) और उनकी सगुण लीलाओं का ध्यान करते हैं और उनमें आनंद लेते हैं। 'एक पुरुष' और 'यज्ञ-पुरुष' भी निर्गुण ब्रह्म के उसी प्रकार के अवतार हैं जिस प्रकार राम, कृष्ण और अन्य अवतार। ये

अवतार भी त्रिदेवों से ऊँचे हैं क्योंकि वास्तव में वे निर्गुण ब्रह्म ही हैं जो भक्त की प्रसन्नता के लिये इन्द्रियों और उनके गुणों में बंध गया है।

लीलाधर कृष्ण इस पृथ्वी की लीला समाप्त करने के बाद अपने लोक (गोलोक) में चले जाते हैं और वहाँ उस समय तक निवास करते हैं, जब तक उन्हें भक्तों के हित के लिये फिर अवतार लेना नहीं पड़ता। भगवान के अनुग्रह से भक्त उस लोक को प्राप्त करता है। निर्गुण ब्रह्म (कृष्ण) की प्राप्ति भक्त का ध्येय नहीं है। उसे गोलोक वाले लीला मय राधा-पति-कृष्ण अधिक प्रिय हैं।

माया सूरदास ने माया का वर्णन तीन प्रकार से किया है—

(१) माया का दार्शनिक रूप—

(२) माया का सांसारिक रूप—

वह द्वंदों के रूप में प्रकट होकर भक्त को वासना और मोह की ओर खींचती है। स्त्री और स्वर्ण उसके प्रतीक हैं।

(३) भगवान की अनुग्रह-कारिणी शक्ति जिसे राधा कहा गया है

वल्लभाचार्य्य के समान सूरदास भी मानते हैं कि माया ब्रह्म के वश में

माया का दार्शनिक रूप है—सो हरि माया जा वश माँहि।

सूरसागर स्कं० ३ पद १४

ब्रह्म निर्गुण है। वह गुण-रहित है। माया त्रिगुणात्मक है। सत्, रज, तम—इन्हीं तीनों तत्त्वों के द्वारा इस सृष्टि का निर्माण करती है किन्तु वह जो कुछ करती है, वह भगवान की इच्छा से। स्वयं उसकी कोई स्वतंत्र इच्छा नहीं है। यह सृष्टि माया के वश में है और माया हरि के।

सूरदास के मतानुसार माया की सत्ता ब्रह्म से अलग नहीं है। वह प्रलय के बाद उसी के (हरि के) पदों में समा जाती है और सृष्टि के प्रथम में उसी के द्वारा सृष्टि की रचना होती है। वह ब्रह्म का ही अंश है। व... में माया को ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति समझना चाहिए। वल्लभाचार्य का यही मत है।

माया का त्रिगुणात्मक रूप ही ब्रह्म को ढक लेता है। निराकार ब्रह्म माया के नामरूपात्मक अनेक मुखों के पीछे लोप हो जाता है। माया के ये रूप इतने मोहक हैं कि मनुष्य का मन उन्हीं में उलझ कर रह जाता है और दृष्टसत्ता के पीछे की अदृष्ट सत्ता को भुला ही देता है। अणुभाष्य १—२—२६ में वल्लभाचार्य ने स्पष्ट लिखा है—

"निराकारमेव ब्रह्म माया जवनिकाच्छन्नम्। अभिव्यक्तेर्हेतोः साकारत्वमपि मायापगमनकृतत्वान्न स्वाभाविकत्वम्।"

इस प्रकार चरमसत्ता को जीवात्मा की दृष्टि से हटाकर और अपने अनेक रूपों में ही सत्य का भुलावा देकर माया अविद्या को उत्पन्न करती है। वह अविद्या (असत्) की जननी है। ब्रह्म सत्य है। उसका ज्ञान विद्या है। जीवात्मा माया के आवरण को ही सत्य समझ लेती है, यही अविद्या है। इस प्रकार माया के कौतुक से अविद्या विद्या को ढक लेती है।

इसलिए माया का दूसरा दार्शनिक नाम "अविद्या" भी है। यह अविद्या माया की उस मोहकता का नाम है जो ब्रह्म को ओट में कर देती है। सूरदास ने माया को इस कौतुक को काव्य का सुन्दर विषय बना दिया है। उन्होंने उसे "कृष्ण की काली कामर" कहा है। कृष्ण के पास एक ही काली कामर है। गोपियाँ इस बात को लेकर उनकी हँसी उड़ाती हैं—

धनि धनि यह कामरि हो मोहन श्यामलाल की।
इहै ओढ़ि जात बनहिं इहै सेज करत हौं।
तुम मेह बूंद निवारन इहै छाँह घाम की॥
इहै उठि गुन करत है पुनि शिशिर शीत इहै हरति।
गहनै लै धरति ओट कोट बाम की॥
इहै जाति इहै पांति परिपाटी यह सिखवति।
सूरदास प्रभु के यह सब बिसराम की॥

कृष्ण इस व्यंग का उत्तर देते हैं—

यह कमरी कमरी करि जानति।
जाके जितनी बुद्धि हृदय में सो तितनी अनुमानति॥

या कमरी के एक रोम पर वारौं चीर नील पाटम्बर।
सो कमरी तुम निन्दति गोपी जो तीनि लोक आडम्बर॥
कमरी के बल असुर संहारे कमरिहिं ते सब भोग।
जांति पांति कमरी सब मेरी सूर सबहिं यह योग॥

सूरसागर स्कं० १० पद ६६

परन्तु गोपियों के व्यंग से यह स्पष्ट है कि यह कमरी उन्हें रुचती नहीं। वह श्याम के असली रूप को प्रगट नहीं होने देती। भक्त को भी माया का आवरण नहीं रुचता। वह ब्रह्म का सत्य, निराच्छन्न स्वरूप देखना चाहते हैं। इसीलिए सूरदास पद पद पर अविद्या नष्ट करने के लिए नंदलाल की प्रार्थना करते हैं[1]।

माया अथवा अविद्या के अंगों का उल्लेख विनय के पदों में बार बार हुआ है। ये हैं—काम, क्रोध विषय, मोह, निंदा, भ्रम, कुसंगत, तृष्णा, लोभ[2], मद, चंदन, वनिता, विनोद, सुख[3], इन्द्रिय स्वाद विवशता[4]।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरदास की माया के अविद्या रूप की कल्पना संतों जैसी है। यह संतों और भक्तों को एक ही समान ग्राह्य है। संतों के वर्णन में तीव्रता और कटुता अधिक है। भक्तों के वर्णन में कम है। इसका कारण यह है कि संत एक तो माया के कल्याणकारी रूप से परिचित नहीं थे, दूसरे उनमें स्पष्टवादिता और यथार्थवादी दृष्टिकोण अधिक मात्रा में विकसित हो सका था। वह ज्ञान को ईश्वर-प्राप्ति का एक मात्र साधन समझते थे और माया (अविद्या) उनकी ज्ञान-प्राप्ति में बाधक होती थी।

१—देखो पद—सूरदास की सबै अविद्या दूर करो नदनंद

सूरसागर स्कंध १—पद ६३

२—वही पद

३—सूरसागर स्कं० १ पद ६४

४—सूरसागर स्कं० १ पद ६८

भक्तों ने ज्ञान मार्ग को इतना प्रश्रय नहीं दिया। माया उन्हें इसीलिए अप्रिय है वह उनकी भक्ति-साधना में बाधक है।

माया का सांसारिक रूप

यही कारण है कि अज्ञान रूप माया की भर्त्सना भक्तों ने इतनी नहीं की जितनी साधना में बाधा डालने वाली सांसारिकता रूपिणी माया की। यह माया का मोहकारी रूप है जो नारी सौन्दर्य के रूप में विशेषरूप से विकसित होता है। सूरसागर के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि माया के इस रूप के भी कई अङ्ग हैं। उन्होंने इस रूप की मोहकता का वर्णन इस प्रकार किया है—

> कान्ह तुम्हारी माय महाबल सब जग अपवश कीनो हो।
> नेक चितै मुसुकाइ के उनि सबको मन हर लीनो हो।
> पहरे राती कंचुकी शिर श्वेत उपरना सोहे हो।
> ऊटि नीली लहँगा कस्यो सो को जो निरखि न मोहे हो।

यही रूप नारी बनकर हमारे सामने आता है। तब भक्त की साधना में बाधा उपस्थित हो जाती है। उसकी समस्त शान्त वृत्तियाँ अस्तव्यस्त हो जाती हैं। उसके मनोराज्य में एक भयंकर उथल-पुथल मच जाती है। यह माया का उच्छृङ्खल और उत्पाती रूप है। सूरदास ने माया के इस रूप को भी काव्य का सुन्दर विषय बना दिया है। उन्होंने उसे गाय का रूपक माना है जो नाना प्रकार के उत्पात करती फिरती है। यह कृष्ण की ही गाय है। वह गोपाल हैं। अतः कवि उनसे इस गाय को हटाने की प्रार्थना करता है।[1] इन पदों में सूर की साङ्गोपाङ्ग रूपक वर्णन करने की शक्ति अद्भुत रूप से विकसित हुई—

> माधव जू नेकु हटको गाइ।
> निशि बासर यह इत उत भरमति अगह गही नहिं जाइ।

---

१. स्कं० १ पद ३३, ३५

क्षुधित बहुत अघात नाहीं निगम द्रुमदल खाइ।
अष्टदश घट नीर अचवे तृषा तऊ न बुझाइ।
छहूँ रस हूँ धरत आगे बहै गंध सुहाइ।
और अहित अभक्ष भक्षति गिरा वरण न जाइ।

व्योम घर नद शैल कानन इते चरि न अघाइ।
ढीठ निठुर न डरत काहूँ त्रिगुण है समुहाइ।
हरै न खल बल दनुज मानव सुरनि शीश चढ़ाइ।
रचि विरंचि मुख भौंह छवि लौ चलति चितहिं चुराइ।

नील खुर जाके अरुन लोचन श्वेत सींग सोहाइ।
दिन चतुर्दश खेत खूंदति सुयह कहा समाइ।
नारदादि शुकादि मुनिजन थके करत उपाइ।
ताहि कहु कैसे कृपानिधि सूर सकत चराइ।

माया की भाँति राधा भी कृष्ण की शक्ति है। वास्तव में राधा माया का अनुग्रहकारी रूप है। उनका वही स्थान है जो शिव के साथ शक्ति, विष्णु के साथ श्री (लक्ष्मी) और राम के साथ सीता का है। सच तो यह है कि जिस प्रकार शक्ति, रमा और सीता प्रकृति की प्रतीक हैं, उसी प्रकार राधा भी प्रकृति की प्रतीक हैं। दर्शन शास्त्र के पुरुष और प्रकृति की सहकारिता को स्पष्ट करने के लिए पुराणों में अवतारों, त्रिदेवों और उनकी शक्तियों की कल्पना की गई है। राधा के संबंध में भी यही बात है।

माया का राधा रूप

सूरसागर के दशम स्कंध में जब राधा-कृष्ण का प्रथम मिलन होता है तो सूरदास के कृष्ण स्वयम् अपने मुँह से राधा पर यह बात खोल देते हैं कि वे स्वयं परब्रह्म हैं और राधा 'सुख कारण' उत्पन्न की हुई उनकी पुरातन पत्नी प्रकृति हैं। राधा और कृष्ण का दार्शनिक संबंध समझने के लिए इस स्कंध के २६, २७ पदों का अध्ययन आवश्यक है—

व्रजहिं बसे आपुहिं बिसरायो।
प्रकृति पुरुष एकै करि जानहु बातनि भेद करायो।

× × ×

द्वै तनु जीव एक हम तुम दोऊ सुख कारण उपजाये।

सूरसागर स्कं० १० पद २६

तथा—
तब नागरि मन हर्ष भई।
नेह पुरातन जानि श्याम को अति आनंद भई।
प्रकृति पुरुष नारी मैं वे पति काहे भूलि गई।

स्कं० १० पद २७

इसीलिए कवि ने राधा को शेष,महेश, लोकेश, शंभु, नारद आदि की स्वामिनी कहा है। यही नहीं, जो उसके चरण की उपासना करते हैं, वे अंत में कृष्ण के चरण को पाते हैं। इसीलिए सूरदास श्री राधा से कृष्ण की भक्ति का वरदान माँगते हैं।

इन सब उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि राधा वास्तव में प्रकृति का रूपक हैं। इसी प्रकृति को ब्रह्म की शक्ति या दार्शनिक परिभाषा में माया कहा गया है। सूरदास स्थान-स्थान पर राधा के अनुग्रह के लिए प्रार्थना करते हैं और उनके द्वारा कृष्ण को प्राप्त करना चाहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि राधा अनुग्रहकारिणी हैं अतएव राधा कृष्ण की आह्लादिनी अथवा अनुग्रहकारिणी शक्ति हैं।

इस दार्शनिक परिभाषा में राधा की कल्पना करना सूरदास की मौलिकता है। वल्लभाचार्य की दर्शन-पद्धति में राधा को स्थान नहीं मिला है। विट्ठलदास ने अवश्य राधा को अपने दर्शन-सिद्धान्तों में स्थान दिया है और उन्हें ब्रह्म की आह्लादिनी चिन्शक्ति माना है। परन्तु विट्ठलदास ने अपना दर्शन सिद्धान्त वल्लभाचार्य की मृत्यु के बाद निश्चित किया। अनुमान यह होता है कि सूरदास ने विद्यापति से

प्रभावित होकर राधा को कृष्ण की प्रेयसी के रूप में स्थान दिया और कदाचित् उसे कृष्ण की शक्ति माना। विट्ठलदास ने उन्हीं के पदों के आधार पर दर्शन में राधा का स्थान निश्चित किया। काव्य में जिस प्रकार राधा के कृष्ण की पत्नी के रूप के प्रवर्तक सूर हैं, उसी तरह उन्होंने ही राधा के दार्शनिक रूप की प्रतिष्ठा की है।

मुक्ति और उनके साधन

सूरदास के अनुसार मुक्ति का साधन केवल भक्ति है। उन्होंने अपनी रचनाओं में पुष्टि और मर्यादा का कहीं नाम नहीं लिया है परन्तु उनकी रचना के अध्ययन से उनकी भक्ति-संबंधी धारणाओं को स्पष्ट किया जा सकता है। इससे पता चलता है कि उनका सिद्धान्त भी वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग ही था। उनके अनुसार भक्त दुर्बल है उसमें काम, क्रोध, भय, स्नेह आदि अनेक सांसारिक प्रवृत्तियाँ भरी पड़ी हैं। भक्त इन प्रवृत्तियों से ऊपर केवल भगवान की ही अनुकम्पा से उठ सकता है। यों साधारणतः यह प्रवृत्तियाँ साधना में बाधक हैं परन्तु जब भगवान का अनुग्रह हो जाता है तो यही दुर्बलताएँ भगवद् भक्ति के अंगों में बदल जाती हैं। उस समय भक्त की सारी इन्द्रियाँ ईश्वरोन्मुख हो जाती हैं। उसका काम, क्रोध, मोह, लोभ भगवान के प्रति परिचालित हो जाता है और अपनी इन्हीं मानवीय दुर्बलताओं के द्वारा अंत में वह भगवान का सान्निध्य प्राप्त करता है। भागवत में कहा भी है—

> कामं क्रोधं भयंस्नेहमैक्यं सौहृदमेवच।
> नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥ [१]

नारद भक्ति सूत्र में भक्ति के ग्यारह प्रकार बतलाये गये हैं। ॐ गुण माहात्म्यासक्ति - रूपासक्ति - पूजासक्ति - स्मरणासक्ति-दास्यासक्ति - सख्यासक्ति कान्तासक्ति वात्सल्यासक्ति आत्मनिवेदनासक्ति तन्मयतासक्ति परम विरहासक्ति रूपा एकधाप्येकादशधा भवति[२]।

---

१. भागवत १०—२९—१५

२. नारद भक्ति सूत्र—सूत्र ८१

परन्तु भक्ति के इन ग्यारह प्रकारों में से पाँच प्रकार अधिक श्रेष्ठ माने गये हैं। हनुमत-संहिता में भक्ति के पाँच प्रकार शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य और श्रृङ्गार कहे गये हैं[1]। इनमें भी श्रृङ्गार-भक्ति सर्व श्रेष्ठ है जिस प्रकार श्रृङ्गार सब रसों में श्रेष्ठ है। नारद भक्ति सूत्र में इसे ही कान्तासक्ति कहा गया है। वास्तव में स्मरणासक्त, आत्म-निवेदनासक्ति, तन्मयतासक्ति, परम विरहासक्ति, कान्तासक्ति की ही अवस्थायें हैं।

सूरसागर में भक्ति के सभी प्रकारों का वर्णन आ जाता है। सूरदास के विनय के पदों में दास्यासक्ति के दर्शन होते हैं। यद्यपि दास्यासक्ति पुष्टिमार्गी भक्ति का अंग नहीं है। ये पद सूरदास ने पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहिले लिखे थे। सूरसागर के अन्तर्गत मुरली-स्तुति में भी दास्यासक्ति की भावना पाई जाती है। रूपासक्ति की भावना साधारणतः सूरसागर के अनेक पदों में मिलती है। कृष्ण के रूप का वर्णन करते हुये सूरदास अघाते नहीं। उनकी गोपियाँ और राधा-कृष्ण के रूप पर ही आसक्त हैं। दान लीला में रूपासक्ति विशेष रूप से मिलती है। नंद-यशोदा का प्रेम वात्सल्यासक्ति का उदाहरण है। सूरसागर के पूर्वार्द्ध के प्रारम्भिक भाग में कृष्ण के गौ-चारण का वर्णन है और गोप-ग्वालों के प्रति उनकी आसक्ति दिखाई गई है। यह सख्यासक्ति है। गोवर्धन-धारण के प्रसंग में पूजासक्ति का वर्णन है। गुण माहात्म्यासक्ति विनय के अनेक पदों में मिलती है। भ्रमरगीत में भी इस प्रकार की आसक्ति के दर्शन होते हैं। परन्तु सूरसागर का प्रिय विषय कान्तासक्ति है।

हमारे अनेक सांसारिक संबंधों में से स्त्री-पुरुष का संबंध भक्ति की उत्कटता और तीव्रता की व्यंजना करने के लिये सर्वोच्च रूपक है। वैष्णव आचार्यों और भक्तों ने इसे समझा था। उन्होंने भक्त को भगवान के

---

१ पचंधा भेदमस्तीह तच्छृणुष्व महामुने। शान्तो दास्यस्तथा सख्यः वात्सल्यश्च श्रृंगारकः ॥

प्रति वही उत्कटता और तीव्रता का भाव स्थापित करने का उपदेश दिया जो पति-पत्नी के संबंध में होता है। बंगाल के वैष्णव भक्त और कवि तो और भी आगे बढ़ गये। उन्होंने कहा, स्वकीया के प्रेम की तीव्रता परकीया के प्रेम की तीव्रता से कहीं कम है। इसलिये भक्त को भगवान की परकीया भाव से उपासना करनी चाहिये।

परन्तु भक्त और आचार्य यह भी समझते थे कि स्त्री पुरुष का प्रेम भक्त और परमात्मा के संबंध में रूपक मात्र है। वास्तव में भक्त और भगवान का भक्ति संबंध स्त्री-पुरुष के प्रेम-संबंध जैसा नहीं था, उसमें प्रकार - भेद अवश्य था। स्त्री-पुरुष के संबधं में सांसारिकता की मात्रा यथेष्ट रूप में थी। भगवत प्रेम अति-प्राकृतिक है। उनमें प्राकृतिक अथवा सांसारिक गुणों का स्थान नहीं। यदि हम स्त्री-पुरुष के ऐसे संबंध की कल्पना करें जिसमें सांसारिकता लुप्त हो और आध्यात्मिकता यथेष्ट मात्रा में हो तो उनका यह संबंध भक्त-भगवान के संबंध से कुछ अधिक निकट होगा। इस प्रकार भेद को वल्लभाचार्य ने ग्रामसिंह और वन्य सिंह का रूपक देकर इस प्रकार स्पष्ट किया है।

"वस्तुतस्तु ग्रामसिंहस्य सिंहस्वरूपत्वेऽपि न तादृग्रूपं वक्तुं शक्यं" अणुभाष्य ३—३—५७

इन्हीं सब कारणों से हम सूरसागर में कान्तासक्ति की प्रधानता पाते हैं। रस पक्ष में उसमें शृङ्गार की प्रचुरता है। वास्तव में भक्त गोपियों और कृष्ण के संबंध को अपनी साधना की अवस्थाओं का प्रतीक रूप मानता था। जिस प्रकार गोपियों की आसक्ति क्रमशः स्मरण, गुणमाहात्म्य, विरह, आत्मनिवेदन और तन्मयता की अवस्थाओं को पार कर परम विरह की अवस्था को प्राप्त हुई उसी प्रकार भक्त भी क्रमशः इन्हीं अवस्थाओं को पार करता हुआ परम विरहासक्ति की दशा को पहुँचता था। यही परम विरहासक्ति भक्त का लक्ष्य था। वास्तव में गोपियों की इन अवस्थाओं का वर्णन करते समय भक्त कवि अपना तादात्म्य गोपियों

से स्थापित कर लेता था और क्रमशः उनकी अवस्थाओं को प्राप्त होता था यही उसकी साधना थी।

श्रुति ने परब्रह्म को "रसो वै सः" लिखा है। रस ही आनन्द है। परन्तु आनंद का अनुभव तब तक नहीं हो सकता जब तक उसमें व्यतिरेक न पड़े। आनंद के तिरोधान होने से ही रस की वास्तविक प्राप्ति होती है क्योंकि तभी उसका पूर्ण अनुभव हो पाता है। महाप्रभु ने अणुभाष्य (४—२—१०) में इस प्रकार लिखा भी है "ननु रसो वै सः रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीत्युपक्रम्यैष ह्येवानन्दयतीति श्रुतेरुक्त रूपानंदप्राप्तौ दुस्सह विरहतापोऽशक्यवचनः। आनंद तिरोधानएव तत् सम्भवात्" इसी से भक्त सम्प्रदाय में भगवान के मिलन का आनन्द उनके विरह से ही जाना जाता है और भक्ति-साधना और भक्ति-काव्य में विरहासक्ति की ही प्रधानता है। सूरसागर का भ्रमरगीत प्रसंग कांतासक्ति की अनेक अवस्थाओं से पूर्ण है।

सूरदास का युग 'कष्ट कृच्छ् साधना' का युग नहीं था। योगियों की कष्ट-कठिन साधना के विरुद्ध प्रतिक्रिया कबीर के समय में ही मिलती है। संत कवियों ने हठयोग की कठिन साधनाओं के स्थान पर सहज साधना का मत चलाया। सहज साधक भक्त जहाँ एक ओर योग की कठिन साधना और चक्र भेदन की कठिनाइयों की ओर नहीं जाता था वहाँ दूसरी ओर यज्ञ-पूजन, मंदिर-मठ आदि सेवन से भी बचा रहता था। उसकी साधना आंतरिक शुद्धता की साधना थी। वह अव्यक्त सत्य ब्रह्म का उपासक था। उसके मत में संयम का अधिक स्थान था और यद्यपि वह साधना की उच्च अवस्था में कांतासक्ति को भी प्रधानता देता था परन्तु उसमें रूपासक्ति और लीला का स्थान न होने के कारण इस प्रकार की सहज साधना भी न सुगम थी न रोचक। वल्लभाचार्य ने जिस उपासना-पद्धति की स्थापना की वह नैमित्तिक कर्मों की ओर अधिक झुकती थी। उसमें संयम को स्थान नहीं मिलता था। मनुष्य की वासनाओं को ही ईश्वरोन्मुख करके लोकोत्तर कर देने की चेष्टा की गई थी। वास्तव में यह उपासना-

पद्धति एक प्रकार से सगुण सहजवाद कही जा सकती है । भक्ति ही भक्त की साधना थी । रूप-लीला, भगवत गुनगान और पूजार्चना के नैमित्तिक कर्मों के करने के अतिरिक्त भक्त को किसी कठिन पद्धति की शरण नहीं लेनी पड़ती थी । यदि इस उपासना पद्धति से किसी का विरोध था तो वह योग (हठयोग आदि) की कठिन पद्धति से । सूरदास, नंददास तथा अन्य वैष्णव कवियों के भ्रमरगीतों के अध्ययन करने से सगुण भक्तों की योग के प्रति विरोध भावना का पता चलता है । अपनी उपासना, पद्धति के कारण ही सगुण भक्त एक ओर अव्यक्त के उपासक संतों और दूसरी ओर हठयोगियों को उपालम्भ दिया करते थे ।

उपासना की इस सहज पद्धति में कामी, क्रोधी, मोही, लोभी आदि सभी प्रकार के मनुष्यों को स्थान मिल जाता है । सूरदास ने कहा है—

काम क्रोध में नेह सुहृदता काहू विधि करै कोई ।
धरैं ध्यान हरि को जे दृढ़ करि सूर सो हरि सो होई ॥

सूर० सा० स्कंध १० पद ६४

यही कारण था कि वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग की अपील अन्य सगुण सम्प्रदायों से अधिक हुई । रामोपासना में साधारण श्रेणी से उच्च श्रेणी का मनुष्य दीक्षित हो सकता था । मर्य्यादा उसका आवश्यक अंग था । तुलसी के राम धर्म में दीक्षित हो जाने पर भक्त दास्य भाव से राम की उपासना करता था । उसके लिये यह आवश्यक था कि वह अपने को अधिक से अधिक शुद्ध करके अपने स्वामी के योग्य बनाये । पुष्टिमार्ग का भक्त कृष्ण का सखा था । अनेक दोषों, दुर्वलताओं और अवगुणों के रहते हुये भी उसे भगवान का अनुग्रह प्राप्त हो सकता था । राधा-कृष्ण और गोपियों के संबंध से वह भगवान की प्रेम-लीला का वर्णन करके अपनी अतृप्त वासनाओं को भी प्रकाशित होने का मार्ग दे सकता था । वास्तव में वल्लभाचार्य का पुष्टिमार्ग और सूरसागर द्वारा स्थापित राधा-कृष्ण-लीला युग की चारित्रिक दुर्वलता के कारण ही अधिक प्रिय हुई । परन्तु

साथ ही इस उपासना-पद्धति ने, अपने युग के चरित्र को ईश्वर की ओर विकसित करके थोड़ी मात्रा में परिष्कृत भी किया और उसकी रसिकता को परिमार्जित किया।

सूरदास की भक्ति-पद्धति में स्त्री-पुरुष दोनों को बराबर स्थान मिला[१]। भक्ति द्वारा ईश्वर की प्राप्ति के सिद्धान्त को वल्लभाचार्य ने अद्भुत रीति से विकसित किया था। समस्त सूरसागर इन्हीं के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि है। वास्तव में भक्ति का स्थान भगवान से भी बड़ा हो गया था।

प्रीति के वश्य में हैं मुरारि।
प्रीति के वश्य नटवर वेष धार्‌यो प्रीति वश करज गिरिराजधारी॥
पृ० १६१ पद ५१

भगवान का अनुग्रह उतना ही अद्भुत है जितना भगवान, उसकी महिमा भी नहीं जानी जाती[२]। वास्तव में पुष्टिमार्ग की भक्ति की कल्पना रहस्यात्मक है[३]।

सूरदास ने भक्ति और योग में जो संबंध स्थापित किया है उसका वर्णन भ्रमरगीत के अन्तर्गत किया जायगा। यहाँ केवल यही कह देना चाहते हैं कि सगुण उपासकों में निर्गुणवाद और योग मार्ग का दार्शनिक विरोध उपस्थित करने वाले सर्व प्रथम भक्त सूरदास हैं। उन्होंने अव्यक्त को समझा है परन्तु वह व्यक्त सगुण ब्रह्म के लीलामय कृष्ण रूप पर आस्था और भक्ति रखते हैं। वास्तव में उनका सिद्धान्त कुछ इस प्रकार है। जब "अवगत गति कछु समझि न परै[४]" और "या निर्गुण सिन्धुहि कौन सकै अवगाहि[५]" तो भक्त कहने लगता है—

---

१. भज जेहि भाव जो हरि मिलै ताहि त्यों भेद भेदा नहीं पुरुष्य नारि सूरसागर स्कं० १० पद ६५

२. सूरदास प्रेम कथा सब ही ते न्यारी स्कं० १० पद ५३

३. निगम ते अगम हरि कृपा न्यारी पृ० १६१ पद ७५०

४. सूरसागर स्कं० ६ पद १७१

५. " वियोगी हरि पृ० ३२६ पद ४२१

"जिनि बोरहिं निर्गुण समुद्र में" और "कौन काज या निर्गुण सो चिर जीवहु कान्ह हमारे"।

सूरदास के मत में भक्ति का स्थान योग-वैराग्य से ऊँचा है, वह इन दोनों से स्वतंत्र है। ज्ञान और वैराग्य भक्ति के बिना भगवान तक नहीं पहुँच सकते परन्तु भक्ति ज्ञान और वैराग्य के विना भी भगवान तक पहुँचने का पूर्ण साधना है। सूरदास की मुक्ति की कल्पना शुद्धाद्वैत की मुक्ति की कल्पना है। वे सायुज्य मुक्ति नहीं चाहते। उन्हें सान्निध्य मुक्ति चाहिये जिसका अर्थ है कि मुक्ति के बाद भक्त भगवान के गोलोक में निवास करे, उनकी लीला में भाग ले।

वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्तों के अध्ययन में यह लिखा गया था कि उन्होंने केवल काल का वर्णन किया है दिक्

दिक् और काल नहीं। सूरदास के संबंध में भी यही बात ठीक है। उन्होंने केवल काल ही का वर्णन किया है। श्रीमद्-भागवत में काल को सर्प के रूपक द्वारा उपस्थित किया गया है[1]। वल्लभाचार्य्य ने सुबोधिनी टीका में काल का वर्णन इस प्रकार किया है।'

सात्विकेषु तु कल्पेषु, यः शेते सलिले हरिः। वासुदेवः स विज्ञेयस्त-स्यांशोऽनन्त उच्यते। कालात्मा स च विज्ञेयो भूभारहरणे प्रभुः। १०—१—२४

भक्त के दृष्टिकोण से काल का बहुत बड़ा महत्व है। मनुष्य-जन्म के बिना भक्ति हो ही नहीं सकती। परन्तु काल मानव-जीवन को ग्रास बना लेता है। संसार में काल से भयानक कोई वस्तु नहीं और केवल भगवान के अनुग्रह से उससे छुटकारा मिल सकता है। इसी लिये भक्त सूरदास ने बार-बार भगवान से प्रार्थना की है कि वह काल-व्याल के दंशन से उन्हें बचाये—

सूर काल बलि व्याल ग्रसत है श्रीपति सरन परत क्यों न फरहरि[2]।

---

१. भागवत १०—३—२६
२. सूरसागर १—पद १६४

सूरदास भगवन्त भजन बिनु काल व्याल लै आप डसायो[१]।
इहि कलिकाल व्याल मुख ग्रासित सूर शरण उबरे[२]।

व्याल के अतिरिक्त सूरदास ने काल की उपमा अग्नि और नदी की तीक्ष्ण धार से भी दी है। काल के प्रवाह में मानव-जीवन तिनके के समान बह जाता है और दावानल में पड़े हुये वन की तरह जल उठता है। वास्तव में इन दोनों उपमाओं से काल की भयंकरता बहुत अच्छी तरह स्पष्ट हो जाती है। भक्त काल के प्रहारों से बचने के लिये भगवान के शरण के सिवाय और सहारा नहीं पाता क्योंकि काल स्वयं माया का रूप है और वह शेषनाग के रूप में भगवान की शैय्या है। भगवान ही अनुग्रह करे तो काल के दंशन से भक्त बच सकता है[३]—[४]। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास काल की कल्पना केवल दार्शनिक उपमा (काल-शेषनाग) तक ही करके नहीं रह जाते, परन्तु वे अन्य और भी सार्थक उपमाओं द्वारा काल की भयंकरता दिखलाते हैं।

वल्लभाचार्य ने दिक् की अधिक विवेचना नहीं की है। सूरदास ने भी दिक् के संबंध में कुछ नहीं लिखा है। कदाचित् उनकी माया की कल्पना इतनी विशाल है कि उसमें दिक् को स्थान ही नहीं मिलता।

सृष्टि

सूरदास के मत में संसार की उत्पत्ति माया के कारण हुई है। माया त्रिगुणात्मक है। सत्, रज, तम, उसके तीन गुण हैं। उनसे पहिले महत् तत्त्व की उत्पत्ति होती है और फिर महत् तत्त्व से अहंकार का जन्म होता है। एक दूसरे स्थान पर सूरदास लिखते हैं कि सृष्टि रहट की तरह है, वह बार-

१. सूरसागर १—पद २०६
२. ” १—५८
३. काल नदी की धार
४. काल अग्नि सब ही जग जारत, सूरसागर स्कं० १ पद १६३

बार उत्पत्ति और विनाश को प्राप्त होती है। सृष्टि की प्रलय चार प्रकार से होती है।

राजा प्रलय चतुर्विधि होई।
आवत जात चहूँ में लोई॥

युग परलय तो तुम सों कही।
तीन और कहिवे को रही॥

चतुर्युगी बीतै इकहत्तर।
करै राज तब लगि मन्वन्तर॥

चौदह मनु ब्रह्मा दिन मांही।
बीतत तासों कल्प कहाँहीं॥

रात होई तब परलय होई।
निशि मर्य्यादा दिन सम होई॥

प्रात भये जब ब्रह्मा जागै।
बहुरो सृष्टि करन को लागै॥

दिन सौ तीन साठ जब जाँही।
सो ब्रह्मा को बरस कहाँही॥

वर्ष पचास परारध गये।
प्रलय तीसरी या विधि लये॥

बहुरो ब्रह्मा सृष्टि उपावै।
जब लौ परारध दूजो आवै॥

शत संवत् भये ब्रह्मा मरै।
महा प्रलय नित प्रभुजू करै॥

माया माहिं नित्य ले पावे।
माया हरि पद माहिं समावे॥

हरि के रूप कह्यो नहिं जाइ।
अलख अखंड सदा इक भाइ॥
बहुरि जब हरि की इच्छा होय।
देखे माया के दिसि जोय॥
माया सब तब ही उपजावै।
ब्रह्मा सो पुनी पुष्टि उपावै॥

सूरसागर स्कं०—पृ० ६०० पद ६४

६

सूर के चरित्र

सूरदास के कृष्ण लीला-पुरुष हैं। सूरसागर की समस्त लीलाएँ उन्हीं से संबंधित हैं। वही इन लीलाओं के केन्द्र

कृष्ण

हैं। किन्तु वे जैसे पूर्ण हैं, उनकी उनमें से किसी से भी लाग नहीं। वे एक लीला से निकल कर दूसरी लीला में चले जाते हैं। पुरानी लीला की केवल एक क्षीण स्मृति मात्र उनके मन में रहती है परन्तु इसके साथ ही उनकी प्रत्येक लीला पूर्ण है। अतः उनके चरित्र का अध्ययन करने के लिए हमें यह देखना होगा कि प्रत्येक लीला में उनका चरित्र किस प्रकार विकसित हुआ है।

बाल-लीला का अध्ययन यशोदा के चरित्र की दृष्टि से महत्व पूर्ण है परन्तु उसमें कृष्ण का चरित्र प्रस्फुटित नहीं हो पाया है। उनका बाल-चरित्र एक साधारण बालक का बाल-चरित्र है यद्यपि अनेक प्रसंगों द्वारा सूरदास यह बतलाना नहीं भूलते कि यह चरित्र भी एक अलौकिक अतिप्राकृत सत्ता का चरित्र है। इस प्रकार के प्रसंगों में कोई विशेषता भी नहीं है क्योंकि ये प्रसंग भागवत में भी हैं। सूरसागर के इन्हीं प्रसंगों में श्रीकृष्ण के शौर्य्य की व्यंजना हुई है। भागवत में इन प्रसंगों के अतिरिक्त समस्त दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण का शौर्य्यपूर्ण और ऐश्वर्यशाली चरित्र विकसित हुआ है परन्तु सूरसागर के दशम स्कंध का उत्तरार्द्ध अत्यन्त संक्षेप में लिखा गया है और इस प्रकार जिस शौर्य्य की व्यंजना बाल-लीला में हुई है उसका विकास नहीं हो पाया है। कृष्ण का चरित्र हमारे सामने स्पष्ट रूप से उनके प्रथम माखन चोरी के समय से आरम्भ होता है। वे अत्यन्त चतुर, मुखर एवं कौतूहल-प्रिय बालक

के रूप में मिलते हैं। साधारण बालकों के सदृश चोरी करके मुकर जाते हैं। अत्यन्त चतुराई से बातें भी बनाने लगते हैं। तत्पश्चात् चकई भौंरा खेलते कृष्ण के दर्शन होते हैं। यहाँ भी कृष्ण सामान्य बालक हैं। वास्तव में कृष्ण के चरित्र का सामान्य होना ही उसकी सबसे बड़ी विशेषता है। सूरदास का ध्येय कृष्ण की लीला का वर्णन है। वे कृष्ण के रूप-सौन्दर्य के वर्णन में ही अधिक लिप्त रहते हैं। इन दोनों कारण से कृष्ण के चरित्र में अनेक दिशायें नहीं मिलतीं।

कृष्ण अभी बालक ही हैं कि राधिका से उनका परिचय होता है। इसी समय से सूर उन्हें चतुर नायक की तरह चित्रित करने लगे हैं।

सूरसागर के एक बड़े भाग में नायक कृष्ण का चित्रण हुआ है। नायक के रूप में उनका चरित्र इतना पूर्ण है कि उनसे अधिक चतुर नायक की कल्पना नहीं की जा सकती। रास, जलक्रीड़ा, मान आदि संयोग-वियोग की सभी अवस्थाओं में वह पूर्ण नायक हैं।

इसके पश्चात् अक्रूर के साथ मथुरा चले जाते हैं और एक प्रकार से सूरदास के सामने से हट जाते हैं। उसके बाद ब्रज में गोपियों, ग्वालों एवं नंद-यशोदा के विरह का विस्तृत वर्णन हुआ है। इसके बाद उद्धव के मथुरा-गमन तक कृष्ण हमारे सामने नहीं आते। परन्तु ब्रज की सारी विरह-वेदना उन्हीं को लक्ष्य करके उमड़ती है और भ्रमर गीत के प्रसंग में वे अपरोक्षरूप से विद्यमान हैं। विरहाकुल गोपियों ने उनके हास-विलासमय युवावस्था के चंचल मनोमोहक चरित्र का स्मरण किया है। उनके तारुण्य की प्रेम-केलि भी उनके सामने आती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के पूर्व भाग को छोड़कर सारे स्कंध में कृष्ण का चंचल कैशोर अथवा विलास-पूर्ण तारुण्य व्याप्त है। उद्धव के प्रसंग में कृष्ण के योगिराज रूप का निर्देश होता है परन्तु वह कृष्ण के चरित्र पर कोई प्रभाव डालता दृष्टिगत नहीं होता।

दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण अनेक पात्रों के सम्पर्क में आते हैं लेकिन कथा का अधिक विकास न होने के कारण उनका शक्तिशाली

और शौर्य्य पूर्ण चरित्र विकसित होने नहीं पाता। अंत में रुक्मिणी के साथ व्रज में लौटते हैं। उनके चरित्र के संबंध में एक नई बात मालूम होती है। वे अब भी उसी प्रकार प्रेमी तरुण हैं किन्तु उनमें गौरव के कारण गरिमा आ गई है। अब वे चंचल तरुण न रहे। उनका व्यक्तित्व महाराज का व्यक्तित्व बन गया है। इसके बाद हम उनके चरित्र में कोई विशेष परिवर्तन नहीं पाते।

समस्त सूरसागर का अध्ययन करने पर कृष्ण का चरित्र हमारे सामने निम्नांकित रूपों में आता है।

१ अत्यन्त मुखर बालक के रूप में।

२ चंचल किशोर के रूप में।

३ किशोर प्रेमी के रूप में।

४ क्रीड़ा कौतुक प्रिय सखा के रूप में।

५ तरुण नायक के रूप में।

६ अति प्राकृत अलौकिक सत्ता के रूप में जो अनेक आश्चर्यमय लीलाएँ करती है; जो भक्तों की रक्षा करती है।

७ गौरव गम्भीर महाराज के रूप में।

यद्यपि कृष्ण के ज्ञानी एवं राजनीतिज्ञ रूप का भी निर्देश हुआ है परन्तु कृष्ण के चरित्र के ये अंग भागवत और महाभारत में ही मुख्य हैं। सूरदास को वह केवल लीलामय शिशु चंचल किशोर प्रेमी के रूप में ही अधिक प्रिय हैं।

संक्षेप में सूरसागर में अंकित कृष्ण के चरित्र के दो भाग किये जा सकते हैं। (१) कृष्ण असामान्य और अलौकिक हैं। (२) वे सामान्य और चिरपरिचित हैं एवं उनका चरित्र मानवीय है। इसमें पिछले प्रकार के चरित्र में सूरदास ने कोई विशेषता उपस्थित नहीं की। उन्होंने काव्य और पुराणों के रूढ़ चरित्र को ही प्रकाशित किया। दूसरे प्रकार का चरित्र-चित्रण सर्वांङ्ग मौलिक है। सूर ने एक ऐसे चरित्र की कल्पना की

जो सभी दिशाओं में साधारण मनुष्य के समतल मे चलता है। सूर कृष्ण के ऐश्वर्य के सहन ही नहीं कर पाते। जिस प्रकार कुरुक्षेत्र से व्रज आने पर कृष्ण को अपने महाराज के सिंहासन से उतर कर राधा के पास सामान्य प्रेमी के रूप में जाना पड़ा, उसी प्रकार अलौकिक कृष्ण-चरित्र सूरदास के लिए एक सामान्य मनुष्य का सामान्य चरित्र बन गया था। इस प्रकार के दो चरित्र सूरदास ने अलग अलग प्रगट नहीं किये। उन्होंने सामान्य से असामान्य का इतना सुन्दर ग्रन्थि बंधन किया है कि उसमें भक्ति और काव्य के विकास के लिए एक साथ ही स्थान मिल सका है। परवर्ती कवियों ने कृष्ण के सामान्य रूप के ग्रहण कर लिया किन्तु असामान्य की व्यंजना भी नहीं कर सके। इसी कारण उनके काव्य में कुत्सित शृङ्गार और रसिकता के स्थान मिल सका है।

सूर की राधा

सूरदास की राधा न चंडीदास की राधा की तरह परकीया है, न विद्यापति की राधा की तरह प्रेयसी है। वह न साधारण गोपी है, न असाधारण गोपी। वह कृष्ण की पत्नी है। नायिका भेद की परिभाषा में हम उन्हें स्वकीय कहेंगे।

राधा और कृष्ण से जिस आध्यात्मिक तत्त्व की व्यंजना सूरदास ने की है उसके विषय में हम सूरसागर के दार्शनिक सिद्धान्त वाले अध्याय में विचार कर चुके हैं। यहाँ पर केवल राधा-कृष्ण के उस ऐहिक संबंध के विषय में लिखा जायगा जो सूरसागर में चित्रित किया गया है।

एक दिन कृष्ण चकई भौंरा खेलने चले। वहाँ पहिली बार उन्हें राधिका के दर्शन हुए[१]। राधा के देखते ही कृष्ण मुग्ध हो गए। यह

---

१. गये श्याम रवि तनया के तट अंग लसति चंदन की खोरी।
औचकि ही देखी तहाँ राधा नयन विशाल भाल दिये रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठि रुचिर झकझोरी।

किशोर-किशोरी का मिलन था। इसमें आसक्ति की मात्रा अधिक नहीं, केवल कैशोर की चंचलता और उत्सुकता है जो तरुण वय की लज्जा को बहुत पीछे छोड़ आती है। श्याम राधा से परिचय पूछते हैं[१]। राधिका भी उतनी ही निर्भीक है उसमें यौवन-जन्य लज्जा का अभाव है। एक मुखर बालिका के समान वह कृष्ण के प्रश्न का उत्तर देती है—हम तुम्हारे ब्रज क्यों आते, अपने यहाँ खेलते रहते हैं। हाँ ! यह अवश्य सुनते हैं कि नंद का ढोटा दही-माखन की चोरी करता रहता है। सूरदास के कृष्ण नागर (चतुर) हैं। वे भी उत्तर देने में चूकते नहीं—हम तुम्हारा क्या चुरा लेंगे। चलो; जोड़ी-जोड़ी मिलकर खेलने चलें। इस समय दोनों के मन में जो भाव उदय होता है उसे प्रेम न कह कर सूरदास ने स्नेह का नाम दिया है। कृष्ण राधिका से कहते हैं—हमारे ब्रज गाँव में नंद के घर खेलने आना, द्वार पर आकर मुझे पुकार लेना। तुम्हें वृषभानु बाबा की सौगन्ध। सुबह सांझ एक फेरा अवश्य करना। देखो तुम सूधी हो इसी से तुम्हारे साथ खेलता हूँ[१]। इस पद्य के अन्त में

संग लरिकिनी चली इत आवति दिन थोरी अति छविजन गोरी।
सूर श्याम देखत ही रीझे नैन नैन मिलि परी ठगोरी।

सूरसागर स्कं० १०—पद ६२

१. बूझत श्याम कौन तू गोरी।
कहाँ रहति काकी है बेटी देखी नहीं कहूँ ब्रज खोरी।
काहे को हम ब्रज तन आवति खेलति रहती आपनी पौरी।
सुनति रहति श्रवणन नंद ढोटा करत रहत माखन-दधि चोरी।
तुम्हरो कहा चोरि हम लैहैं खेलन चलौ संग मिलि जोरी।
सूरदास प्रभु रसिक शिरोमणि बातन भुरइ राधिका भोरी।

सूरसागर स्कं० १०—पद ६३

२. प्रथम स्नेह दुहुन मन जानी।
सैन सैन कीनी सब बातैं गुप्त प्रीति शिशुता प्रगटानी।

सूरदास ने राधा-कृष्ण के संबंध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर दिया है। राधा और कृष्ण बालक-बालिका नहीं हैं। वे नागर-नागरी हैं। वस्तुतः कुमार-वय के कृष्ण और कुमारी राधिका को इस प्रकार नागर-नागरी कहने से और उनके व्यवहार को इसी के अनुसार बनाने से लीला में अलौकिकता का आविर्भाव हो जाता है। सूरदास यह स्पष्ट कहते हुये जान पड़ते हैं—यह अलौकिक की लीला है। यह मानवीय नहीं।

इसके बाद सैन चलने लगते हैं। राधा सकुचने लगती हैं। श्याम के वचन सुनकर 'राधा कुँवरि' लजा भी जाती है। अब दोनों के हृदय में प्रथम बार प्रीति का जन्म होता है। इसको सूरदास ने बहुत कवित्व पूर्ण ढंग से चित्रित किया है[1]। सूरदास ने राधा और कृष्ण के मानसिक और लौकिक व्यवहारों के भेद को बड़ी सतर्कता से अंकित किया है। दोनों अपने मन में प्रेम छिपाये हुये हैं। बाहर से प्रयत्न करते हैं कि कोई इस बात को जान न सके। राधा कहती है—इनके घर कौन जायगा। मैं तो घर जाती हूँ। यमुना आये देर हुई। मैया खीझती होगी। धीरे-धीरे राधा-कृष्ण का प्रेम अधिक प्रगाढ़ होता जाता है, विरह की उत्पत्ति

खेलन कबहुँ हमारे आवहु नंद सदन ब्रज गाँव।
द्वारे आइ टेरि मोहिं लीजो, कान्ह है मेरे नाऊँ॥
जो कहिए घर दूरि तुम्हारो बोलत सुनिए टेर।
तुम्हहिं सौंह वृषभानु बबा की प्रात साँझ एक फेर॥
सूधी निपट देखियत तुमकौं ताते करियत साथ।
सूरश्याम नागर उत नागरि राधा दोउ मिलि गाथ॥

सूरसागर स्कं० १०—पद ६४

१. कनक बदन सुढार सुन्दरि सकुच मुख मुसकाइ।
श्याम प्यारी नैन राचै अति विशाल चलाइ॥
गुप्त प्रीति जु प्रगट कीन्हों हृदय दुहुन छिपाइ।
—सूर प्रभु के वचन सुनि सुनि रही कुँवरि लजाइ॥

होने लगती है। राधा का मन कृष्ण को घेर कर सदैव उनके चारों ओर घूमना चाहता है, उसे घर बिलकुल नहीं सुहाता है ऐसा जान पड़ता है मानो कृष्ण ने उसपर मोहिनी डाल रक्खी है। वह कभी हँसती है कभी सकुचकर लजा जाती है। माता-पिता से उसे डर लगने लगता है[१]। उधर कृष्ण भी राधिका से मिलने को व्याकुल होते हैं। माँ से दोहनी माँगते हैं – कहते हैं मुझे गैया दुहना है। दोहनी लेकर वे 'घरिक' में आते हैं। उधर से राधिका भी आती है। संकोच के मारे वह कृष्ण के सामने आ नहीं पाती। इतने में नंद आ जाते हैं। वे राधिका को इस तरह खड़ी देखकर कहते हैं—जाओ, तुम दोनों खेलो। देख, वृषभानु की बेटी, इस कान्ह को लिखा ला। देखती रहियो, कोई गाय इसे मार न दे[२]। नंद चले गये। राधिका को अच्छा अवसर मिला। उसने कृष्ण को पकड़ लिया और कहा—सुनी तुमने नंद बबा की बात। अब जो मुझे छोड़कर कहीं गये तो पकड़ लाऊँगी। भला हुआ कि तुम्हें सौंप गये। अब मैं तुम्हें छोड़ूँगी नहीं। श्याम बहुत कहते हैं, अरी राधा मेरी बाँह छोड़, इस तरह बात न बना। सूरदास जानते हैं, यह सब प्रेम की बातें हैं।

इस प्रसंग तक बाल-केलि और प्रेम-लीला का ऐसा मिश्रण कर दिया है कि सूरदास के कौशल पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। वही कृष्ण यशोदा, नंद तथा अन्य परिजनों के लिये बालक हैं परन्तु राधिका के लिए वे

---

१. सूरसागर स्कंद १० पद ६७

२. नद गये खरिके हरि लीन्हें।

देखि तहाँ राधिका ठाढ़ी श्याम बुलाइ लइ तहँ चीन्हें ॥
महर कह्यो खेलहु तुम दोऊ दूरि कहूँ जनि जैहो।

× × × ×

सुनु बेटी वृषभानु महरि की कान्हहिं लिए खिलाइ।
सूरश्याम को देखे रहियो मारै जनि कोइ गाइ ॥

—पद ६७

वयस्क प्रेमी हैं। लोक-व्यवहार में ऐसी बात नहीं होती। बाल-केलि में यौवन-व्यवहार को चित्रित करके एक बार फिर सूरदास ने कृष्ण-चरित्र की अलौकिकता की व्यंजना की है। इसके बाद एक दिन जब आकाश पर काली घटाएँ छाई थीं आँधी-पानी को देखकर नंद कृष्ण की चिंता से भयभीत हो उठे। उन्होंने राधा को बुलाकर कहा—जा राधिका, कृष्ण को घर पहुँचा दे[1]।

यहाँ से कृष्ण और राधा के साथ सूरदास रस के नये क्षेत्र में पहुँच जाते हैं। उनकी प्रतिभा विद्यापति और चंडीदास से होड़ लेने लगती है। सूरदास की विशेषता यह है कि उन्होंने जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास की तरह राधिका को प्रथम से ही वय-प्राप्त, यौवन-प्राप्त नायिका अथवा प्रेयसी के रूप में चित्रित नहीं किया। उन्होंने कुमार-कुमारी के असंकोची मिलन से प्रारम्भ करके स्नेह के अंकुर को अंत में प्रेम के रूप में परिणत किया है। यौवन-समागम के साथ प्रेम भी अपना सच्चा स्वरूप प्रगट करता है। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने राधा और कृष्ण के क्रमिक विकास को व्रज की लीला-भूमि और उसकी प्रकृति की वीथिका देकर हमारे सामने उपस्थित किया है। राधा-कृष्ण के प्रेम के विकाश में प्रकृति सहायता देती है। बादल घिर आते हैं। वर्षा होने लगती है। मधुवन भयानक हो जाता है। डर कर नंद कृष्ण को राधिका को सौंप देते हैं। तीसरी विशेषता यह है कि राधा-कृष्ण का प्रेम उनके घरेलू और कौटुम्बिक व्यवहारों के बीच में प्रतिष्ठित हुआ है। प्रेम में विभोर होने पर भी दोनों प्रेमी अपना अपना काम-काज

---

१. गगन गरजि घहराई गटा जुरीकारी।

पवन झकझोरि चपला चमकि चहुँ ओर सुवन तन चितै नंद डरत भारी।

कह्यो वृषभानु की कुवँरि सो बोलिकै राधिका कान्ह घर लिए जारी॥

सूरसागर स्कं १० पद ९३

करते चले जाते हैं भले ही वे उसमें बार बार भूल करें और पकड़े जाँय। इस प्रकार हम देखते हैं कि अब तक सूरदास ने राधा कृष्ण के चरित्र का विकास अत्यन्त नैसर्गिक ढंग पर किया है। वह मानवीय है यद्यपि उसपर अलौकिकता की छाप है।

परन्तु जिस दिन घटा घिरी और नंद ने राधिका के साथ कृष्ण को विदा किया उस दिन एक नई घटना घटी। राधिका ने यौवन प्राप्त किया और कृष्ण भी तरुण हो गए। दोनों के मन में नए नेह ने जन्म लिया और दोनों एक नये रस से भीग गये[1]। इस प्रसंग से आगे सूरदास शृंगार रस के क्षेत्र में पूरी तरह पहुँच गए हैं[2]।

इस प्रसंग के बाद भी श्रीकृष्ण राधा का प्रेम चलता रहता है परन्तु अन्य लीलाएँ भी होती रहती हैं। इन लीलाओं में भी कृष्ण राधा को नहीं भूलते और न राधा कृष्ण को। यशोदा राधिका को संवार देती है और कृष्ण को उसके साथ खेलने की आज्ञा देती है यद्यपि वह जानती है कि दोनों प्रेम के रंग में रँगे हैं। राधा कृष्ण की मुरली चुरा लेती है। अनेक बार दोनों मान कर बैठते हैं परन्तु फिर वही माखन की बँटाई और आँखों की लड़ाई। राधा की माँ उसे उलाहना देती है—

काहे को तुम जहँ तहँ डोलति हमको अतिहिं लजावति।
अपने कुल की खबरि करौ धौं सकुच नहीं जिय आवति॥

---

१. नयो नेह नयो गेहु नयो रस नवलकुवँरि वृषभानु किशोरी।
नयो पिताम्बर नई चुनरी नई नई बूंदन भीजति गोरी।
सूरदास प्रभु नवरस विलसत नवल राधिका यौवन भोरी।

सूरसागर स्कं १० पद ७४

२. झूमत अंग परस्पर जनु जुग चंद करत हितचार।
रसन दसन भरि चापि चतुर अति करत रंग विस्तार॥

अथवा—

कुवँरि सों कहति वृषभानु घरनी ।
नेक नहीं घर रहति तोहि कितनो कहति, रिसनि मुहि दहति वन भई हरनी ।
लरिकिनी सबनि घर तोसी नहि कोउ निडर, चलती नभ चितै जो तकै धरनी ।
बड़ी करवर टरी सांप सो ऊपरी, बात के कहत तोहि लगत जरनी ।
लिखी मेटै कौन, करता करै जौन, सोइ हैहै होनहारो करनी ।
सुता लई उर लाय तन निरखि पछिताय डरनि गई कुम्हिलाई सूर बरनी ।

इसके अनन्तर अनेक गोपियाँ कृष्ण की प्रेम-लीला में भाग लेने लगती हैं। सूरदास ने गोपियों की प्रेम-लीला का वर्णन विस्तार-पूर्वक किया है। गोपियों के साथ कृष्ण अनेक लीला-प्रसंग चलाते हैं। मुरली की ध्वनि गोपियों को मोह लेती है। वे सब काम-काज छोड़ कर कृष्ण के पास पहुँचती हैं और उनकी लीला में भाग लेने लगती हैं। इस युवती-मण्डली में राधिका ही प्रधान है। वही कृष्ण की प्रधान नायिका है। सूरदास ने रास-वर्णन इस प्रकार किया है—

रास मंडल मध्य श्याम राधा ।
मनौं घन बीच दामिनी कौंधति सुभग एक है रूप द्वै नाहिं बाधा ।
नायिका अष्ट अष्टहु दिशा सोहही बनी चहुँ पास गोप कन्या ।
मिले सब संग नहिं लखति कोउ परस्पर बने षष्टदस सहस कृष्ण सैन्या ।
सजे शृङ्गार नवसात जगमग रह्यो अंग भूषण रैनि बनी तैसी ।
सूर प्रभु नवल गिरधर नवल राधिका नवल ब्रजसुता मंडली जैसी ।

सूरदास गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-लीला और रास का वर्णन करते हुये भी दाम्पत्य प्रेम केवल राधा कृष्ण में ही दिखाते हैं। जब कृष्ण रस के वश में होकर राधिका को हृदय से लगा लेते हैं। तो अन्य गोपियाँ उनकी लीला देखकर आनंदित मात्र होती हैं[1] इसके बाद कवि

---

१. गान करति नागरि रीझे पिय लीनी अंकम लाई ।
रस बस हुये लपटाय रहे दोउ सूर सखी वलि जाई ।

ने राधा-कृष्ण के संयोग-शृङ्गार का विस्तृत वर्णन किया है। संयोग शृङ्गार का इतना विशद वर्णन किसी कवि ने नहीं किया है। इस शृङ्गार में मान और मिलन के अनेक अवसर आते हैं। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि उनमे राधा-कृष्ण का प्रेम अधिक विकसित और शुद्ध हो जाता है। राधा कृष्ण का मिलन आदर्श मिलन है उसमें विरह की तनिक भी चिन्ता अथवा आशंका नहीं[1]।

सूरदास की राधिका का व्यक्तित्व अत्यन्त निखरा हुआ है। वह चण्डीदास की राधा के समान कृष्ण के मनाने पर एकदम पिघल नहीं जाती। कृष्ण राधा के विरह में आकुल हो जाते हैं भाँति-भाँति से राधा को मनाना चाहते हैं। परन्तु राधा मानती नहीं—

भरि भरि अँखियन नीर लेति पै ढारति नाही अति रिस
कांपति अधर फरकि करि भृकुटि तानति।

अंत में कृष्ण मूर्छित हो जाते हैं[2] परन्तु राधा का मान नहीं टूटता परन्तु इस सारे मान में भी राधा को विश्वास है कि कृष्ण उसके हैं, वह इस विषय में थोड़ी भी शंकित नहीं होती। संयोग की प्रत्येक अवस्था का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है कि हम उन्हें प्रेम-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा पण्डित कह सकते हैं। उन्होंने प्रेमी-प्रेमिका की मानसिक उथल-पुथल का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। जो राधा कृष्ण की मूर्च्छा की बात सुनने पर भी मान नहीं तोड़ती वही जब सुनती है कि कृष्ण द्वार से लौटे जारहे हैं तो प्रेम से आकुल हो जाती है, उसका मान टूट जाता है किन्तु उसे अपनी आन भी निबाहना है। वह ज़रा ठहरकर अपना

---

१. चंडीदास के इस पद से तुलना कीजिये—

एइ भये उठे मने एइ भय उठे।
ना जानि कानूर प्रेम तिले जनि छुटे।

२. नारि हट परयो प्राण वल्लभ सो छूटत नहीं छुड़ाये।
देखो सुरछि परयो मनमोहन मनहुँ भुवंगिनि खाये।

श्रृङ्गार करने लगती है और सखी के हाथ यह संदेश भेज देती है कि वह पीछे आरही है[1]। वास्तव में संयोग श्रृङ्गार के वर्णन में सूरदास अद्वितीय हैं।

परन्तु राधिका का चरित्र विप्रलम्भ में और अधिक खिल जाता है। अक्रूर कृष्ण को मथुरा लिवा जाते हैं। गोपियों और राधा का कृष्ण से विछोह हो जाता है। उस रात राधा को नींद नहीं पड़ती है।

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी कहि न सकी कछु काम दही।
इतने मन व्याकुल भई सजनी आरज पंथ हुते बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूरि मथुरा नगरी।

भ्रमरगीत के प्रसंग में राधिका का उल्लेख नहीं मिलता। यह नहीं जान पड़ता कि उन गोपियों में जिन्होंने उद्धव को जाते ही घेर लिया राधा भी थीं या नहीं। परन्तु व्रज से लौटने पर उद्धव कृष्ण से जो कहते हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके आगमन की बात सुनकर राधा द्वार तक अवश्य चली आई थी। परन्तु भ्रमरगीत के प्रसंग में उसने अवश्य भाग नहीं लिया। द्वार पर खड़ी राधा का वर्णन उद्धव ने इस प्रकार किया है—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहुँ कमल शशि भास ईश को मुक्ता गनि गनि देत।
द्वार खड़ी इक टक मग जोवत ऊरध श्वास न लेत।
मानहुँ मदन मिले चाहति हैं मुक्त मरुत समेत।
श्रवण न सुनत चित्र पुतरी लौं समुझावत जितनेत।
कहुँ कंकन कहुँ गिरि मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत।

---

१. ताहि कह्यो सुख दे चलि हरि को हौं आवतिहौं पाछे।

ने राधा-कृष्ण के संयोग-शृङ्गार का विस्तृत वर्णन किया है। संयोग शृङ्गार का इतना विशद वर्णन किसी कवि ने नहीं किया है। इस शृङ्गार में मान और मिलन के अनेक अवसर आते हैं। परन्तु इसकी विशेषता यह है कि उनसे राधा-कृष्ण का प्रेम अधिक विकसित और शुद्ध हो जाता है। राधा-कृष्ण का मिलन आदर्श मिलन है उसमें विरह की तनिक भी चिन्ता अथवा आशंका नहीं[1]।

सूरदास की राधिका का व्यक्तित्व अत्यन्त निखरा हुआ है। वह चण्डीदास की राधा के समान कृष्ण के मनाने पर एकदम पिघल नहीं जाती। कृष्ण राधा के विरह में आकुल हो जाते हैं भाँति-भाँति से राधा को मनाना चाहते हैं। परन्तु राधा मानती नहीं—

भरि भरि अँखियन नीर लेति पै ढारति नाही अति रिस
कांपति अधर फरकि करि भृकुटि तानति।

अंत में कृष्ण मूर्छित हो जाते हैं[2] परन्तु राधा का मान नहीं टूटता परन्तु इस सारे मान में भी राधा को विश्वास है कि कृष्ण उसके हैं, वह इस विषय में थोड़ी भी शंकित नहीं होती। संयोग की प्रत्येक अवस्था का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है कि हम उन्हें प्रेम-मनोविज्ञान का सबसे बड़ा पण्डित कह सकते हैं। उन्होंने प्रेमी-प्रेमिका की मानसिक उथल-पुथल का बड़ा अच्छा चित्रण किया है। जो राधा कृष्ण की मूर्च्छा की बात सुनने पर भी मान नहीं तोड़ती वही जब सुनती है कि कृष्ण द्वार से लौटे जारहे हैं तो प्रेम से आकुल हो जाती है, उसका मान टूट जाता है किन्तु उसे अपनी आन भी निबाहना है। वह ज़रा ठहरकर अपना

---

१. चंडीदास के इस पद से तुलना कीजिये—

एइ भये उठे मने एइ भय उठे।
ना जानि कानूर प्रेम तिले जनि छुटे।

२. नाहिं हठ पर्‌यो प्राण वल्लभ सो छूटत नहीं छुड़ाये।
देखो मुरछि पर्‌यो मनमोहन मनहूँ भुवंगिनि खाये।

शृङ्गार करने लगती है और सखी के हाथ यह संदेश भेज देती है कि वह पीछे आरही है[1]। वास्तव में संयोग शृङ्गार के वर्णन में सूरदास अद्वितीय हैं।

परन्तु राधिका का चरित्र विप्रलम्भ में और अधिक खिल जाता है। अक्रूर कृष्ण को मथुरा लिवा जाते हैं। गोपियों और राधा का कृष्ण से विछोह हो जाता है। उस रात राधा को नींद नहीं पड़ती है।

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी।
वह चितवनि वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवति रही ठगी सी ठाढ़ी कहि न सकी कछु काम दही।
इतने मन व्याकुल भई सजनी आरज पंथ हुते बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूरि मथुरा नगरी।

भ्रमरगीत के प्रसंग में राधिका का उल्लेख नहीं मिलता। यह नहीं जान पड़ता कि उन गोपियों में जिन्होंने उद्धव को जाते ही घेर लिया राधा भी थीं या नहीं। परन्तु व्रज से लौटने पर उद्धव कृष्ण से जो कहते हैं उससे यह स्पष्ट होता है कि उनके आगमन की बात सुनकर राधा द्वार तक अवश्य चली आई थी। परन्तु भ्रमरगीत के प्रसंग में उसने अवश्य भाग नहीं लिया। द्वार पर खड़ी राधा का वर्णन उद्धव ने इस प्रकार किया है—

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
मनहुँ कमल शशि भास ईश को मुक्ता गनि गनि देत।
द्वार खड़ी इक टक मग जोवत ऊरध श्वास न लेत।
मानहुँ मदन मिले चाहति हैं मुख्रत मरुत समेत।
श्रवण न सुनत चित्र पुतरी लौं समुझावत जितनेत।
कहुँ कंकन कहुँ गिरि मुद्रिका कहुँ ताटंक कहुँ नेत।

---

१. ताहि कह्यो सुख दे चलि हरि को हौं आवतिहौं पाछे।

मनहुँ विरहदव जरत विश्व सम राधा रुचिर निकेत।
धुज होइ सूखि रही सूरज प्रभु बँधी तुम्हारे हेत[1]।

राधिका ने अपनी तन्मयता में समझा, कृष्ण आगये। परन्तु उनके स्थान पर उद्धव को देखकर उनका हृदय निराशा से भर गया। वे अन्य गोपियों की तरह अपना संदेश भी न दे सकीं। विलास-केलि की मुखर राधिका अब प्रेम में इतनी डूब चुकी थी कि उसका मौन ही स्वयं उसका संदेश बन गया। प्रेम जब इस गम्भीरता तक पहुँच जाता है तब वह आँखों से प्रगट होता है जिह्वा से नहीं। राधिका का कंठ भर आता है—

जब सँदेशा कहन सुंदरि गवन मोतन कीन।
खसि द्रुमावलि चरन अरुझी गिरि धरनि बलहीन।
कंठ वचन न बोल आवै हृदय परिहसि भीन।
नैन जल भरि रोइ दीनों ग्रसित आपद दीन।
उठी बहुरि सम्हारि भट ज्यों परम साहस कीन।

और जब उसने कुछ संदेश भी दिया तो केवल इतना ही—

इतनी विनती सुनो हमारी।
बारकहू पतिया लिख दीजे।
चरन कमल दरसन तव नौका करुणासिंधु जगत जस लीजै।
सूरदास प्रभु आस मिलन की एक बार आवन ब्रज कीजै।

वास्तव में भ्रमर गीत के केन्द्र में राधिका प्रतिष्ठित है यद्यपि वह सन्मुख नहीं आती। उसको सामने न लाकर सूरदास ने एक प्रकार से उत्कृष्ट काव्य-कला का प्रदर्शन किया है क्योंकि इससे राधा के विरह की उत्कृष्टता की व्यंजना हो जाती है। गोपियों और राधा के विरह में मूलतः अन्तर है। कृष्ण गोपियों के प्रेमी हैं किन्तु पति नहीं। राधा-कृष्ण

---

१. इस प्रसंग के अन्य पद—नैननि होड़ बदी वर्षा सों। पद ५७ पृ० ७२० उमगि चले दोऊ नैन विशाल—पद ५३ पृ० ७१९

की पत्नी हैं। गोपियाँ कृष्ण को दोष भी दे सकती हैं। यद्यपि राधा का हृदय उनके बिना फटा जारहा है तो भी वे उनको दोष देने की बात मन में भी नहीं लातीं[1]। इस प्रेम के मूल में भक्त की अनन्य प्रेम भावना है जो पत्नी की पति के प्रति शुभ कामना के रूप में प्रगट हुई है। राधा अपने को ही दोषी मानकर संतोष कर लेती हैं। अपनी कल्पना के एक ही स्पर्श से सूरदास ने विनोदिनी राधा को अनन्याश्रिता विरह विदग्धा पत्नी बना दिया। राधा का यह रूप भी कृष्ण-साहित्य में नहीं मिलता। इतना विश्वास न चण्डीदास की राधा में है न विद्यापति की, न परवर्ती कवियों की। उन्होंने राधा के पत्नी-रूप पर विचार ही नहीं किया।

इसके बाद राधा के दर्शन दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में होते हैं। भगवान कृष्ण कुरुक्षेत्र से लौट रहे हैं। उनके साथ उनकी पत्नी रुक्मिणी भी है। राधिका को शुभ सगुन होने लगते हैं। राधा को विश्वास नहीं होता। उनका विरह-दुख उनके लिए इतना स्वाभाविक हो गया है कि वे कृष्ण के निकट आने पर भी उनकी प्रतीक्षा से अधीर हो जाती हैं एवं मिलन के भी विश्वास नहीं करतीं[2]। सब व्रजवासी अपने अपने शकट सजा कर स्वागत के लिए आगे बढ़ते हैं परन्तु राधा उनके साथ नहीं जाती। वह अपने ग्राम में ही उनकी प्रतीक्षा करती है। रुक्मिणी कृष्ण से पूछती हैं कि इन युवतियों में राधा कौन है? राधा युवतियों में खड़ी है[3]। लेकिन वह आगे बढ़कर अपने गौरव को कम करना नहीं चाहती। कृष्ण अब

---

१. सखी री हरि को दोष न देहु।
   ताते मन इतनो दुख पावत मेरोइ कपट सनेह॥

२. राधा नैन नीर भरि लाई।
   कब धौं मिलै श्याम सुन्दर सखि यद्यपि निकट है आई॥

३. वह देखो युवति वृंद में ठाढ़ी नील बसन तनुगोरी।
   सूरदास मेरो मन वाकी चितवनि देखि हर्‌यो री॥

सूरसागर पृ० ७५६

महाराज हैं, उनका ऐश्वर्य बाधा डालता है। तत्पश्चात् कृष्ण अपने गौरव शिखर से नीचे उतरते हैं और यह बाधा दूर हो जाती है—

विरहिनी विकल विलोकि सूर प्रभु धाइ हृदय करलाये।
कछु मुसुकाइ कह्यो सारथि सुनु रथ के तुरंग छुराये।

रुक्मिणी राधा को अपना लेती है एवं उसे अपने साथ ले जाती है। दोनों इस प्रकार बैठी हैं जैसे दो बहनें हों। इतने में कृष्ण आ पहुँचे। सूरदास ने यह नहीं लिखा कि रुक्मिणि उठकर चली गईं लेकिन रुक्मिणि अवसर पहचान गई होगी। इस प्रकार एकान्त में राधा माधव की भेंट हुई।

सूरदास ने इस प्रसंग को आगे नहीं बढ़ाया है केवल इतना ही कह दिया है कि कृष्ण ने राधा को ब्रज भेज दिया और वहाँ नित्य राधा-माधव विहार करने लगे। राधा के हृद्गत भावों के प्रति सूरदास ने महाकवियों की भाँति एक बार फिर मौन धारण कर लिया। उन्होंने केवल एक पद में राधा के चरित्र का अंत कर दिया है। वास्तव में यही पद राधा के चरित्र की कुंजी है—

करत कछु नाहीं आज बने।
हरि आये हौं रही ठगी सी जैसे चित्त धनी।
आसन हर्षि हृदय नहिं दीनों कमल कुटी अपनी।
नेवछावरी उर अरघन अंचल जलधारा जो बनी॥

राधा के चरित्र की विशेषता है—सर्वस्व-समर्पण। संयोग-वियोग के सभी अवसरों पर उसने पूरा विश्वास किया है। हिन्दू पत्नी की तरह उसने अपने पति और प्रेमी के समस्त दोषों को अपने ऊपर ओढ़ लिया है। उसका चरित्र-चित्रण इतना सुंदर हुआ है कि मध्य काल की किसी स्त्री नायिका का चित्र उसके सामने ठहर नहीं सकता। वह हमारे सामने मुखर बालिका के रूप में आती है। उसमें यौवन का विकास होता है और उसके साथ कृष्ण के प्रति उसका बालपन का स्नेह, प्रेम में विकसित हो जाता है। वह हमारे सामने केलि-कौतूहलप्रिय नायिका के दूसरे रूप में

आती है। वह अपने प्रेमी के प्रति इतना विश्वास लेकर आई है कि आश्चर्य होता है। किन्तु जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो उसका रूप भी बदल जाता है। इस बार वह प्रगल्भा, विरहविदग्धा एवं प्रोषित पतिका है। अंत में वह कृष्ण की पत्नी के रूप में आती है। संयोग में वह पूर्णतः संयोग का अनुभव करती है और वियोग में पूर्णतः वियोगिनी है। राधा का यह चरित्र सूरदास की सबसे उत्कृष्ट मौलिक कल्पना है।

इस चरित्र के संबंध में एक काल दोष भी है। राधा से कृष्ण का मिलन कुरुक्षेत्र युद्ध के बाद होता है—इस पर कवि ने विचार नहीं किया ऐसा जान पड़ता है। उस समय राधा वही युवती न रही होगी जिसे कृष्ण मथुरा छोड़ आए थे। सूरदास का भक्त हृदय इन छोटे-मोटे काव्य दोषों की ओर नहीं जाता। वे उसे अब भी "नील वसन तनु गोरी" युवती मात्र मानते हैं। उन्होंने राधा के साथ कृष्ण के दाम्पत्य संबंध की व्यंजना करके राधा के चरित्र को पूर्ण कर दिया है। ऐसा करने में उन्होंने किसी काव्य-मर्य्यादा का उल्लंघन किया, इस पर वे ध्यान न दे सके। शायद इसका कारण यही है कि सूरदास के लिए राधा-कृष्ण की सभी लीलाएँ अलौकिक हैं। उनकी इस युगल जोड़ी पर काल का प्रभाव नहीं पड़ता।

गोप

गोपों का चरित्र किसी विशेष दिशा में प्रस्फुटित नहीं हुआ है। उनमें जो प्रौढ़ हैं वे वात्सल्य भाव से कृष्ण की लीला में भाग लेते हैं, जो युवा अथवा किशोर हैं वे कृष्ण-सखा के रूप में हमारे सामने आते हैं। पिछले एक अध्याय में इस बात को लिख चुके हैं कि वे देवताओं के अवतार हैं और उनका जन्म लीला में भाग लेने के लिए ही हुआ है एवं इसी में सफल हैं। वे सब कृष्ण के भक्त हैं। तरुण गोपों में यह भक्ति सख्य का प्रच्छन्न रूप धारण कर लेती है।

यशोदा के पुत्र-जन्म का समाचार सुनते ही नंद के द्वार पर गोप-गोपियों की भीड़ लग जाती है। तरुण, वृद्ध और बालक दही छुटा छुटा

कर नाचते हैं। वे आरम्भ से ही श्री कृष्ण को कुछ अलौकिक ही समझते हैं और उनकी पूजा-वंदना करते हैं। कृष्ण के अलौकिक चमत्कारों को देख कर उनका भक्ति-भाव और भी गहरा हो जाता है। गोवर्धन प्रसंग में इन्द्र को उनके द्वारा पराजित होते देखकर उनकी भक्ति और भी बढ़ जाती है। अन्ततः कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं, तो यह भक्ति धीरे-धीरे तन्मयतासक्ति का रूप धारण कर लेती है।

कृष्ण के साथ अनेक गोप-ग्वाल खेलते हैं। सुबल और श्री दामा उनके बहुत निकट के मित्र हैं। उन्हें श्याम के संग ही में सुख है[1]। लेकिन ये किशोर बालक भी जानते हैं कि कृष्ण उनमें से नहीं हैं—

ग्वाल सखा कर जोरि कहति है हमहि श्याम तुम जिनि बिसरावौ।
जहाँ-जहाँ तुम देह धरत हौ तहाँ-तहाँ जनि चरण छुड़ावौ॥

उनकी इस प्रार्थना पर कृष्ण भी अपने अलौकिक शक्ति की बात उनसे गुप्त नहीं रखते। वे कहते हैं—

ब्रज ते तुमहि कहीं कहीं टारौ इहै पाइ मैं हूँ ब्रज आवत!
यह सुख नाहिं भुवन चतुर्दश यही ब्रज यह अवतार बतावत॥

कृष्ण का वियोग होने पर ग्वाल-बाल सखा भी अधीर हो जाते हैं।

गोपियाँ

सूरदास ने गोपियों का चरित्र एक अत्यन्त विशाल चित्रपट पर खींचा है। इस चित्रपट की वीथिका ब्रजभूमि ने बनाई है। सूर का सारा काव्य आदि से अंत तक अनेक गोपियों को साथ लेकर चलता है। उनकी संख्या कहीं-कहीं सोलह हज़ार कही गई है। उनके अनेक चित्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं। उसका कारण यह है कि वे सब अवस्थाओं में कृष्ण की लीला का साथ देती हैं। कृष्ण का जन्म होने पर गोपियाँ अनेक प्रकार

---

१. कन्हैया हेरि दे सुभग सांवरे गात की मैं शोभा कहत उजाऊँ।
मोर पंख शिर मुकुट की मुख मटकनि की बलि जाऊँ॥

का मंगलाचार करती हैं। उस समय उनका हृदय माता का हृदय बन जाता है। सूरदास कहीं-कहीं यह भी इंगित कर देते हैं कि उन्हें कृष्ण की अलौकिकता का ज्ञान है। धीरे-धीरे कृष्ण बालक होते हैं। गोपियाँ कृष्ण को इस छोटी अवस्था से ही प्रेम करने लगती हैं। यह प्रेम-व्यवहार स्वाभाविक न भी हो, किन्तु सूरदास इसका उल्लेख बार बार करते चलते हैं। इस प्रेम के मूल में यौवन-भाव है। तदनन्तर जब कृष्ण कैशोर प्राप्त करते हैं तब यह भाव अधिक प्रस्फुटित हो जाता है। तत्पश्चात् गोपियों का चित्रण विशेषरूप से हुआ है। सारे संयोग शृङ्गार में राधा के साथ-साथ एवं उससे अलग भी गोपियों और कृष्ण का प्रेम-संबंध चित्रित किया गया है। गोपियों और राधा का संबंध विचित्र है। वे उनकी सह-प्रेमी हैं परन्तु उनमें प्रतिपद्धिता कहीं भी नहीं है। वे राधा-माधव की लीला को भी तटस्थ रूप से नहीं देख सकतीं। अनेक रूपों से उनके प्रेम-संबंध को दृढ़ करने में सहायक होती हैं। उनका चित्रण अत्यन्त सरल, अत्यन्त मुखर तथा परस्पर-कपट-विहीन नायिकाओं के रूप में हुआ है।

सूरदास की नायिकायें इतनी अधिक हैं लेकिन न हम उनके विशेष रूप, वस्त्र तथा आयु से ही परिचित होते हैं और न उनके मनोविज्ञान में ही कोई विभिन्नता पाते हैं। जहाँ सूरदास ने कुछ गोपियों के नाम दिये हैं और उनके चित्र उपस्थित किये हैं वहाँ भी उन्होंने किसी प्रकार का वर्गीकरण नहीं किया। सारे दानलीला के समय गोपियों और कृष्ण में प्रश्नोत्तर चलता रहता है लेकिन नाम केवल कुछ ही का आता है। ये हैं चन्द्रावली, ललिता एवं विशाखा। इनमें कौन बड़ी थी, कौन छोटी तथा कौन श्री कृष्ण को अधिक प्रिय थी कौन कम, इसका कोई भी उल्लेख नहीं है। सब एक ही प्रकार से कृष्ण की सखियाँ हैं। राधा भी उन्हीं में एक हैं। वे सब समान रूप से कृष्ण को पाने के लिये व्रत करती हैं। स्थान-स्थान पर सूर ने यह संकेत किया है कि वे लौकिक भावना से परकीया हैं यद्यपि आत्मरूप से स्वकीया हैं। राधिका से कृष्ण का विवाह होता है, अन्य गोपियों से इस प्रकार का कोई संबंध नहीं।

राधा की सखियों में सब से अधिक स्पष्ट चित्र ललिता तथा विशाखा का है। सूरदास ने ललिता को धीर-स्वभाव का चित्रित किया है। वह दूती कर्म बड़ी निपुणता से करती है। वह कृष्ण के पास पहुँचती है और उनके मन में राधा के प्रति उत्सुकता और फिर लालसा उत्पन्न करती है[१]। सूरदास ने राधा और गोपियों में भी विशेष अन्तर नहीं रक्खा है। उनके चित्रण में कहीं भी राधा विशेष गोपी चित्रित नहीं होती यद्यपि यों वह कृष्ण की पत्नी होने के कारण अलौकिक अवश्य है। राधा के समान उनका प्रेम भी इतना ऊँचा है कि वे कृष्ण की मुरली और वन-माला से भी ईर्ष्या करती हैं।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सूरदास ने गोपियों का सामूहिक चित्रण किया है। सब मिलाकर उनका एक व्यक्तित्व है। अलग-अलग गोपी का व्यक्तित्व प्रस्फुटित नहीं हुआ है। एक के स्थान पर हम दूसरी गोपी रख सकते हैं। संयोग शृङ्गार की मुखर, विलासिनी तथा चंचल गोपिकाएँ वियोगावस्था को पहुँच कर कृष्ण के प्रेम की इस गहराई पर पहुँच जाती हैं कि उनका सामूहिक व्यक्तित्व हमें प्रभावित करने लगता है। ब्रज की सारी प्रकृति उनके विरह में साथ देती है। उन्हें कालिन्दी काली दीख पड़ती है। जब वे मधुवन को हरा देखती हैं तो आश्चर्य होता है कि कृष्ण के विरह ने उसे जला क्यों न दिया। इस तटस्थता के लिये वे उसे क्षमा नहीं कर सकतीं।

---

१. (क) ललिता मुख चितवत मुसुकाने।

आपु हँसी पिय मुख अवलोकत दुहुन मनहिं मन जाने।

× × × ×

तब बोलि वह चतुर नागरी अचरज कथा सुनाऊँ।

सूरश्याम जो चलो तुरत ही नयनन जाय दिखाऊँ।

(ख) अद्भुत एक अनूपम बाग।

जुगल कमल पर गज क्रीड़त हैं तापर सिंह करत अनुराग।

इन गोपियों की एक बात जो हमें सबसे अधिक प्रभावित करती है, वह है उनका सारल्य। भ्रमरगीत में उनके चरित्र का यह पक्ष भी सतर्कता से अंकित किया गया है। वे प्रेम में भोली हैं और उपालम्भ देने में भी। उन्हें तर्क करना आता ही नहीं। उनकी बातों में युक्ति और तर्क है ही नहीं यह बात नहीं परन्तु उनमें कोई क्रम नहीं। ये ज्ञान की खड्ग के आगे ठहर नहीं सकतीं। उनका एक ही तर्क है—'ऊधो कहा हमारी चूक'। वे कुल-लज्जा की भी बात नहीं सोच सकतीं। विरह-रुदन में उन्हें इतना अवकाश ही नहीं। कुबजा की याद भी उनको उतनी नहीं आती। वे एक दो बार उसका नाम लेकर फिर अपना पुराना रोना आरम्भ कर देती हैं। वे उसे उपालम्भ भी नहीं देतीं। दोष उनके भाग्य का है।

ऊधो के योग के तर्क के आगे सूरदास की सरल गोपियाँ निरुत्तर हो जाती हैं, उनका उत्तर वही रहता है जो प्रत्येक अवसर पर अबला प्रेमिकाओं का उत्तर रहा है। उन्हें वही कृष्ण चाहिये जिन्होंने उनके साथ प्रत्यक्षरूप से केलि की है। उनके उत्तर हृदय के उत्तर हैं मस्तिष्क के नहीं[1]। उनका तो एक ही उत्तर है—

राखो यह सब योग अटपटो ऊधो पाँइ परौं।
कहाँ रस रीति कहाँ तन सोधन सुनि सुनि लाज मरौं।

सूरदास के चरित्र-चित्रण में एक विशेषता यह है कि वे अपने चरित्रों के विरोधी अंग को भी अत्यन्त पूर्णता से चित्रित करते हैं जो गोपियों

---

१. ऊधो जी हमहिं न योग सिखैये।
जेहिं उपदेश मिलैं हरि हमको सो व्रत नेम बतैये।
मुक्ति रहो घर बैठि आपने निरगुन सुनत दुख पैये।
जेहि सिर केस कुसुम भरि गूथे तेहि कैसे भस्म चढ़ैये।
और भी—
ऊधो मन न भयो दस बीस।
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस!

संयोग शृङ्गार में अद्वितीय थी वह वियोग में भी उतनी ही अद्वितीय है। उनमें न किसी के प्रति ईर्ष्या है न द्वेष। वे तो केवल प्रेम जानती हैं।

यशोदा

यशोदा के चरित्र में सूरदास ने मातृ हृदय का अभूतपूर्व चित्र उपस्थित किया है। उनकी यशोदा वात्सल्य रस में डूबी हुई है। उससे माता शब्द सार्थक हो जाता है। वह कृष्ण की बाल-लीला में अपने अस्तित्व को भुला देती है। कृष्ण के अलौकिक रूप का भी परिचय उसे मिल गया है किन्तु उसे वह भूल गई है। उसके लिये वही कृष्ण उसके सर्वस्व हैं जिन्हें वह पालने में झुलाती है। इस क्रिया में वह सब कुछ भूल जाती है। उसे केवल एक ही चिन्ता है—किसी प्रकार उसके लाल को नींद आ जाय[१]। उसका प्रत्येक क्षण बाल-कृष्ण में केन्द्रित है। उसी के लिए वह उठती, बैठती, जागती तथा सोती है। कृष्ण जैसे-जैसे बड़े होते जाते हैं उसके आनन्द का कोई ठिकाना ही नहीं रहता। बालक कृष्ण का उलटा हो जाना उसके लिए एक महत्वपूर्ण घटना है[२]। उसे यही चिन्ता है—कब कृष्ण घुटने चलने लगेंगे, कब उनके दाँत निकलेंगे और कब वे अपनी तोतली वाणी से बोलेंगे[३]। उसे यह उत्कट अभिलाषा है कि उसका बालक उसे माँ कह कर कब पुकारेगा।'

---

१. यशोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलरावे जोइ सोइ कछु गावै।
मेरे लाल को आऊ निंदरिया काहे न आनि सुवावै।
तू काहे न वेगी सी आवै तोको कान्ह बुलावै।
कबहूँ पलक हरि मूंदि लेत हैं कबहुँ अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन है रहि रहि करि करि सैन बतावै।

२. एक पाख त्रय मास को मेरो भयो कन्हाई।
पटकरानि उलटे परे मैं करौं बधाई।

३. कबहिं घुटुरुवनि चलहिंगे यहि कहि विधिहिं मनावै।

आज कृष्ण का अन्नप्राशन है। नंद यशोदा ज्योनार कर रहे हैं। यशोदा कृष्ण को नहलाती है। उनके बदन पर झंगुली डालती है सिर पर लाल टोपी देती है और हाथ पर में चूड़े पहनाती है। नंद उन्हें अपने गोद में बैठाकर खीर से भरे सोने की थाल के आगे बैठते हैं और उनका मुँह जुठारते हैं। यशोदा उनके साथ बैठने के लिये बाल मंडली इकट्ठी करती फिरती हैं। इस प्रकार के अनेक चित्र हैं जो यशोदा के चरित्र का निर्माण करते हैं। इस चरित्र में कोई विशेषता नहीं, यही इसका सबसे बड़ा गुण है। सूरदास जहाँ सामान्य हो जाते हैं और अपने चरित्र को सामान्य स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका अथवा तरुण के रूप में उपस्थित करते हैं वहाँ उनकी सृष्टि अद्भुत हो जाती है। अन्य कवि अपने चरित्रों को इतना सामान्य नहीं बना सकते। यशोदा सब प्रकार से एक सामान्य माता है। वह कृष्ण के प्रत्येक क्रिया-कलाप से सुख पाती है। यही नहीं, उसे कृष्ण की प्रत्येक वस्तु प्रिय हो जाती है। खान-पान के संबंध में वह अनेक भुलावे कृष्ण को दे देती है[1]। कृष्ण उन भुलावों को समझकर हठीले प्रश्न करते हैं, तो भी वह प्रसन्न होती हैं। कृष्ण के बन जाने पर बार बार उसे आशंका होती है कि किसी की गाय उसके बालक को मार न दे[2]। वह प्रत्येक गोप-ग्वाल को कृष्ण को सौंपती फिरती हैं। उनके

कबहिं दंतुली द्वै दूध की देखौं इन नैननि।
कबहिं कमल मुख बोलिहैं सुनिहौं इन बैननि।

१. कजरी को पय पियहु लला तेरी चोटी बढ़ै।
सब लरिकन में सुन सुन्दर सुत तो श्री अधिक चढ़ै।
जैसे देखि और ब्रज बालक त्यों बल वेष बढ़ैं।

और कृष्ण का हठ—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहि दूत पियत भई यह अजहू है छोटी।

२. दूरि कहूँ जनि जाहु लला रे मारेगी काहू की गैया।

लौटने तक द्वार पर खड़ी उनकी प्रतीक्षा करती रहती है[1]। उसका वह रूप तो अनूप है जब कृष्ण ने मिट्टी खाली है—

मोहन काहे न उगिलो माटी।
वार वार अनरुचि उपजावत महरि हाथ लिये सांटी।
महतारी को कह्यो न मानत कपट चतुरई ढाटी।
वदन पसारि दिखाई आपने नाटक की परिपाटी।
बड़ी वार भईं लोचन उघरे भ्रम जामिनि नहिं फाटी।
सूरदास नंदरानि भ्रमित भईं कहत न मीठी खाटी।

अपरोक्ष रूप से यशोदा का चित्रण इन दोनों पंक्तियों में पूर्ण हो जाता है—

लाला हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक मोहन मन विहँसत भृकुटि विकट नैननि पर।

सूरसागर के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के आरम्भ से लेकर मथुरा जाने के प्रसंग तक की समस्त लीलाओं के पीछे यशोदा का व्यक्तित्व छिपा रहता है। वाहर किशोर और फिर वयस्क कृष्ण लीला करते हैं और गोपियों और राधा से प्रेम प्रसंग चलाते हैं परन्तु घर में एक मातृहृदया उन पर अपना सब कुछ निछावर करने के लिए प्रतीक्षा करती रहती है। प्रथम कुछ पृष्ठों के बाद कृष्ण की अनेक लीलाओं में यशोदा हमारी दृष्टि से छिप जाती है, परन्तु उनकी पृष्ठभूमि में वह उपस्थित है। यह बात पाठक नहीं भूल पाता। इन तमाम लीलाओं और प्रसंगों में अनेक छोटी बड़ी आशंकाओं के रहते हुये भी यशोदा पूर्णतः आनंदमयी है। उसका प्रेम इतना पूर्ण है कि उसे वियोग की थोड़ी सी भी कल्पना नहीं। उसे किसी प्रकार की अमंगल आशंका भी नहीं। उसने कृष्ण के संयोग का परिपूर्ण अनुभव किया है। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के उत्तर भाग

---

१. आवहु कान्ह साँझ की विरियां।
गाइन मांझ भये हो ठाढ़े कहत जननि यह बड़ी कुवेरियां।

में हमें जिस राधा के चित्र मिलते हैं वह पूर्व भाग से अलग है। वहाँ वह पूर्णतः वियोगिनी है।

अक्रूर के साथ कृष्ण मथुरा जारहे हैं। यह उसके लिये असह्य है। उसका मातृहृदय रो देता है—

मोहन नेक वदन तन हेरो।
राखो मोहिं नात जननी को मदन गोपाल लाल मुख फेरो।

परन्तु जब कृष्ण की ओर से उसे ब्रज में रह जाने का आश्वासन नहीं मिलता तो वह दुःख में पागल हो जाती है। वह चिल्ला कर कहती है कि कोई गोपाल को रोक रक्खे—

गोपालहिं राखो मधुवन जात।
लाज गये कछु काज न सरिहैं बिछुरत नंद के तात।
रथ आरूढ़ होत बलि बलि गई होई आयो परभात।

कृष्ण को मथुरा छोड़कर नंद जब ब्रज लौटते हैं, यशोदा उन्हें धिक्कारती है[१]। इस स्थल का काव्य-प्रसंग सूरदास ने अत्यन्त सतर्कता से निबाहा है। पति-पत्नी दोनों पुत्र-वियोग में आकुल हैं एक दूसरे को उलाहना देता है[२]। अंत में दोनों मूर्च्छित हो जाते हैं[३]। इसके बाद के

---

१. बार बार महरि कहति जनम धिक कहाये।
कहूँ कहनि सुनी नहिं दशरथ की करनी।
यह सुनि नंद व्याकुल हुये परे मुरछि धरनी।

२. (क) यशोदा कान्ह कान्ह के बूझे।
फूटि न गईं तिहारी चारो कैसे मारग सूझे।
इक तनु जरो जात बिन देखे अब तुम दीन्हें खूब।
यह छतियां मेरो कुँवर कान्ह बिनु फाटि न गये दो टूक।
(ख) तब तू मारिबोई करति।
रिसनि आगे कहि जो आवत अब लै भाँड़े भरति।

३. राम कृष्ण कहि मुरछि परी धर यशुदा देखत लोगनि।

पुत्र-विरहाकुल चरित्र ने यशोदा को हिन्दी साहित्य में अनुपम बना दिया है। नंद-यशोदा राम कृष्ण की बातें करते हुये सवेरा कर देते हैं[1]। यशोदा को यह पछितावा होता है कि उन्होंने अपने मातृ-कर्तव्य में कहीं भूल कर दी अथवा उनसे कोई अपराध बन पड़ा[2]। वह बराबर नंद से लड़ती रहती है—

सराहौ तेरो नंद हियो।
मोहन सो सुत छांड़ि मधुपुरी गोकुल आनि जियो।
कहा कहौं मेरे लाड़ लड़ैते जब तू बिदा कियो।
जीवन प्राण हमारे ब्रज को वसुदेव छीनि लियो।
कह्यो पुकार पारि पचहारि वरजत गमन कियो।

वह नंद से विनती करती है—

ले आवहु गोकुल गोपालहिं।
पायन परि के बहु विनती करि बलि छलि बाहु विशालहिं।

उसे कृष्ण की बाल-लीला का स्मरण हो आता है—

है कोउ इतनी भाँति दिखावै।
किंकिन शब्द चलत धुनि रुनझुन ठुमुकि ठुमुकि गृह आवै।
कछुक विलास वदन की शोभा अरुण कोटि गति पावै।
कंचन मुकुट कंठ मुकतावलि मोरपुच्छ छवि पावै।
धूसर धूरि अंग अंग लीने ग्वाल बाल संग लावै।

उसे केवल एक ही चिंता है—

यद्यपि मन समुझावत लोग।
शूल होत नवनीत देखि मेरे मोहन के मुख योग।

---

१. एक दिन नंद चलाई बात।
कहत सुनत गुन राम कृष्ण के ह्वै आय परभात।

२. चूक परी हरि की सेवकाई।
यह अपराध कहाँ लौं कहौ एकहि कहि नंद महर पछिताई।

प्रातकाल उठि माखन रोटी को बिनु मांगे देइहै।
अब वोहि मेरे कुँवर कान्ह को छिनछिन अंकन लेइहै।

कृष्ण के वियोग का दुःख उसे इतना दीन कर देता है कि वह देवकी के सम्मुख कृष्ण की धाय वन लेना भी स्वीकार कर लेती है[१]। उसकी प्रार्थना यही है कि देवकी उसके बालक की प्रकृति पहचान ले जिससे उसे कष्ट न होने पावे। उसकी लालसा कृष्ण के बाल-चरित्र के चारों ओर मंडराती रहती है[२]।

सूरदास ने यशोदा और राधा का चित्र एक ही तूलिका से खींचा है; दोनों के प्रेम के प्रकार में अंतर है लेकिन दोनों के प्रेम की विशेषतायें एक सी हैं। दोनों कृष्ण के सम्मुख रहने पर वियोग की तनिक भी आशंका नहीं करतीं और वियोग हो जाने पर उनके लिये अपनी वही दशा सत्य हो जाती है। उनका संयोग और वियोग दोनों पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ है। संयोग में कहीं-कहीं व्याकुलता का आभास मिलता है किन्तु उसका कारण अविश्वास और अमंगल की आशंका नहीं वरन्

---

१. संदेशो देवकी सो कहियो।
हौं तो धाय तिहारो सुत की मया करति ही रहियो।
यद्यपि टेव तुम जानत उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रातहि उठत तुम्हारे कान्ह को माखन रोटी भावै।

× × × ×

सूर पथिक सुनि मोहिं रैनि दिन बड़ो रहत उर सोच।
मेरो अलक लड़ैतो मोहन ह्वै है करत संकोच।

२. मेरो कान्ह कमल दल लोचन।
अबकी बेर बहुरि फिरि आवहु कहा लगे जिय सोचन।
यह लालसा होत जिय मेरे बैठी देखत रहिहौं।
गाय चरावन कान्ह कुँवर सो भूलि न कबहूँ कहिहौं।

प्रेम की वह गहराई है जिसका दोनों एक समान अनुभव करती हैं। कृष्ण पूर्ण मानव हैं। उनकी लीला भी पूर्ण है। उसमें दुःख, विषाद और हर्ष आनन्द के दर्शन होते हैं किन्तु कृष्ण का इनसे अधिक संबंध नहीं। वे अपनी सारी लीला में उदासीन जैसे रहते हैं। परन्तु उनकी यही उदासीनता राधा और यशोदा के चरित्रों को उज्ज्वल कर देती है। राधा और यशोदा एक महान समुद्र के दो छोरों के दो भंवर हैं। उनके कारण ही उस समुद्र की विशालता का परिचय प्राप्त हो सकता है। उन दोनों के चरित्र में विरह तन्मयासक्ति की उच्चतम दशा चित्रित की गई है।

नंद

सूरदास ने नंद के चरित्र-चित्रण की ओर विशेष रूप से ध्यान नहीं दिया है परन्तु यशोदा के चरित्र-चित्रण में एक प्रकार से नंद का भी चरित्र-चित्रण हो जाता है। दोनों में एक ही प्रकार के वात्सल्य भाव का विकास हुआ है। परन्तु जिस प्रकार यशोदा और नंद की प्रकृति में नैसर्गिक भेद है उसी प्रकार उनके चरित्र में भी भेद हो गया है। यशोदा माता और नारी होने के कारण कुछ अधिक भावुक है। उसकी वियोग-वेदना उसके शब्दों और उसकी चेष्टाओं में स्पष्ट होती है। वह उसे छिपा ही नहीं सकती। नंद पिता और पुरुष हैं इसलिये वे कृष्ण के वियोग के समय भी कुछ कठोर ही बने रहते हैं। यशोदा उन्हें देखकर यह नहीं जान पाती है कि उनके हृदय में भी उतनी ही गम्भीर वेदना है जितनी स्वयं उसके हृदय में। वह उन्हें अत्यंत कठोर उलाहना देती है। उस समय केवल एक बार नंद विचलित हो उठते हैं। उन्हें मूर्च्छा आ जाती है।

इसके बाद हमें नंद की इस प्रकार की विह्वलता के कोई चिन्ह नहीं दिखाई देते। वे कृष्ण के वियोग-दुख को अत्यंत गरिमा से सहन कर लेते हैं यद्यपि उनका दुःख यशोदा, गोपियों और अन्य व्रजवासियों के दुख से और भी अधिक दुस्सह हो जाता है। सूरदास ने नंद का चित्रण करते

समय उनकी धीर प्रकृति और गम्भीरता को कभी हाथ से ले जाने नहीं दिया है।

उद्धव कृष्ण के सखा हैं। उनका पहिला चित्र हमारे सामने उस समय उपस्थित होता है जब कृष्ण उनके ज्ञान-गर्व को तोड़ने के लिए उद्यत होते हैं। उस समय कृष्ण उद्धव के बारे में जो चिन्ता करते हैं उससे यह प्रगट होता है कि उद्धव योगाभ्यासी पंडित हैं। उन्हें अपने ज्ञान का गर्व है। वे निर्गुण ब्रह्म के उपासक हैं। सगुण ब्रह्म को अधिक महत्व नहीं देते। वे कृष्ण से भेद-भाव रखते हैं। गोपियों और कृष्ण के संबंध में व्यंग करने से भी नहीं चूकते। उद्धव की प्रकृति इस पद से स्पष्ट हो जाती है—

उद्धव

हंस काग को संग भयो।
कहाँ गोकुल कहाँ गोप गोपिका विधि ये संग दयो॥
जैसे कंचन कांच संग ज्यों चंदन संग कुगंधि।
जैसे खरी कपूर एक सम यह भइ ऐसी संधि॥
जल बिनु मीन रहत कहुँ न्यारे यह सो रीति चलावत।
जब ब्रज की बातैं यहि कहियत तबहिं तबहिं उचटावत॥

कृष्ण ऊधो से ब्रज की चर्चा चलाते हैं। उद्धव उनकी बातों पर मुस्करा देते हैं। ज्ञान के घमंड में उद्धव कृष्ण का चातुर्य्य नहीं समझ पाते। अपनी प्रशंसा सुनकर उनका अभिमान और भी बढ़ जाता है[१]। वे प्रसन्न होकर गोकुल जाना स्वीकार कर लेते हैं[२]।

ऊधो केवल ज्ञानी पंडित हैं, सांसारिक व्यवहार की बातें कम जानते

---

१. ऊधो मन अभिमान बढ़ायो।
यदुपति योग जान जिय साँचो नैन अकाश चढ़ायो।
नारिन पै मोको पठवत हैं कहत सिखावन जोग॥

२. तुम पठवत गोकुल को जैहों।
जो मानि हैं ब्रह्म की बातें तो मैं उनसे कहिहों॥

हैं। भागवत के उद्धव की तरह ये अधिक तार्किक भी नहीं हैं। भागवत में ऊधों की विजय हुई है। सूरसागर के ऊधो व्रजभूमि तक आते आते अपने ज्ञान की निरर्थकता समझ जाते हैं। वहाँ पहुँच कर वे कृष्ण का पत्र गोपियों को देते हैं और अपना संदेश सुनाते हैं। इससे अधिक कुछ कहने का अवसर उन्हें नहीं मिलता। गोपियाँ ऊधो के योग को व्यर्थ बतला कर उन्हें भाँति-भाँति के उलाहना देने लगती हैं। सूरदास ने उद्धव की बात को ही लेकर समस्त भ्रमरगीत का प्रसंग चलाया है लेकिन इस प्रसंग की भूमिका को छोड़कर उद्धव फिर हमारे सामने नहीं आते। गोपियों की असंख्यता, उनका अनंत विरह और उनकी मुखरता उद्धव को मौन कर देती है। वे इस सारे प्रसंग के द्रष्टा मात्र रह जाते हैं। गोपियाँ उनको अपने हास-परिहास का विषय बनाती हैं—

ऊधो तुम हो निकट के वासी।
यह निर्गुण लै ताहि सुनावहु जे मुड़िया बसै कासी॥

गोपियाँ उन्हें इस योग्य भी नहीं समझतीं कि उनसे वे अपने प्रेम की बातें कहें[1]। उनकी अनेक प्रार्थनाओं के पीछे यह ध्वनि होती है कि उद्धव प्रेम के पंथ को नहीं जानते अतः उनकी समझ औंधी है[2]।

सूरसागर के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में उद्धव ही एक ऐसे व्यक्ति हैं जो कृष्ण की भक्ति से प्रभावित नहीं है। ज्ञान को भक्ति से ऊपर मानते हैं। संक्षेप में यही उनका व्यक्तित्व है। वे ज्ञान-मार्गी पण्डितों के प्रतीक हैं। परन्तु भ्रमरगीत के प्रसंग का अंत होते-होते उद्धव का व्यक्तित्व समाप्त हो जाता है। सूरदास का भक्त हृदय किसी ऐसे व्यक्तित्व की कल्पना कर ही नहीं सकता जो कृष्ण की भक्ति में रंगा न हो। अंत में उद्धव भी भक्त बन जाते हैं। वे किसी भी प्रकार नंद, यशोदा और गोपी-गोप से भिन्न नहीं रह जाते[3]।

---

१. तुम सों प्रेम कथा को कहिबो मनों काटिवो घास।

२. राखो यह सब योग अटपटो ऊधो पाइ परौं।

३. सूर योग की कथा बहाई, शुद्ध भक्ति गोपी जन पाई।

७

भ्रमरगीत

भ्रमरगीत सूरसागर का सब से महत्वपूर्ण अंग है उससे काव्य और दार्शनिक दोनों पक्षों की पुष्टि होती है। काव्य और रस की दृष्टि से सूरसागर का यह अंश व्यंजना, माधुर्य्य और वियोग शृङ्गार का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इसलिए हम अलग-अलग शीर्षकों में इसकी विवेचना करेंगे। दार्शनिक पक्ष में यह सगुण ब्रह्म और भक्ति की उपादेयता सिद्ध करता है।

भागवत में हमें भ्रमरगीत के प्रसंग के पहिली बार दर्शन होते हैं। दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध के सैंतालीसवें अध्याय में श्लोक १२ से २१ तक केवल दश श्लोकों में यह प्रसंग कहा गया है। उद्धव कृष्ण का संदेश लेकर मथुरा से वृन्दावन पहुँचे। "जिनके मन, वाणी और काया कृष्ण मय हो रहे हैं वे गोपियाँ कृष्ण के दूत उद्धव के मिलने पर सम्पूर्ण लौकिक व्यवहारों को छोड़कर कृष्ण के ध्यान में मग्न हो गईं। प्यारे कृष्ण ने लड़कपन में और किशोरावस्था में जो-जो कर्म किये थे उनको याद कर करके गोपियाँ गाने लगीं। कुछ गोपियाँ लोक-लाज को छोड़ रोती हुई उद्धव से कृष्ण की चर्चा करने लगीं। प्रिय के समागम की चिन्ता कर रही एक गोपी किसी भौंरे को अपने निकट "गुन-गुन" करते देखकर उसे कृष्ण का भेजा हुआ दूत मान कर उससे यों कहने लगी।" १०। ११ गोपी ने कहा. "हे धूर्त के बन्धु मधुकर, तुम हमारे चरणों को न छुओ; तुम्हारे श्मश्रुओं में सौत के कुच-मण्डल में विहार करने वाली माला में लिप्त कुंकुम लगा हुआ है। मधुपति कृष्ण ही यादवों की सभा में उपहास

कराने वाले इस प्रसाद को धारण करें, हम इस प्रसाद को नहीं चाहतीं। तुम्हारी और कृष्ण की बंधुता ठीक ही है। क्योंकि जैसे तुम सुमनों को रस लेकर छोड़ जाते हो वैसे ही एक बार मोहिनीमय अधर-सुधा पिला कर वह भी चटपट हमको छोड़कर चले गये[1]।।" ॥१२॥ इसके बाद दूसरी गोपियाँ भी भ्रमर को उपालम्भ देने लगती हैं और उद्धव उन्हें सुनते हैं। अन्त में उद्धव मौन तोड़कर इस प्रकार कहते हैं। उद्धव ने कहा, "अहो गोपियों, तुम कृतार्थ हो गई हो, तुम संसार में परम पूजनीया हो, क्योंकि तुम्हारा मन भगवान् वासुदेव में यो दृढ़रूप से लगा हुआ है ॥२३॥ दान, व्रत, तप, होम, जप, वेदाध्ययन, इन्द्रियदमन एवं अन्यान्य अनेक माङ्गलिक अनुष्ठानों से कृष्ण की भक्ति सिद्ध होती है। किन्तु तुमने अपने सौभाग्य से सहज में ही वही मुनियों को भी दुर्लभ अत्यंत श्रेष्ठ हरि-भक्ति पाई है[1]।।२४॥ इसके बाद उद्धव कृष्ण का संदेश देते हैं—"प्रियागण! मेरा वियोग तुमको कभी नहीं हो सकता—मैं देहधारियों का आत्मा होने के कारण सदा तुम्हारे पास हूँ। जैसे पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश वे पाँचो महातत्त्व सब तत्त्वों में अवस्थित हैं वैसे ही मैं मन, प्राण, बुद्धि, इन्द्रिय और गुणों का आश्रयस्वरूप हूँ। मैं पंचतत्त्व, इन्द्रिय और त्रिगुण-स्वरूपिणी अपनी माया के प्रभाव से अपने ही द्वारा अपने को अपने में उत्पन्न करता, पालता और लीन करता हूँ ॥२६-३०। इस प्रकार तुम सब वासनाओं से शून्य शुद्ध मन को मुझ में लगा कर नित्य मेरा ध्यान करने से शीघ्र ही मुझे पाओगी[2] ॥ ३६।

भगवान का संदेश सुनने से गोपियों को शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ[3]। उनका विरह शान्त हो गया और उन्होंने श्री-कृष्ण को इन्द्रियों का साक्षी परमात्मा जानकर उद्धव का भली-भाँति पूजन और सादर सत्कार किया[4]।

---

१. शुकोक्तिसुधासागर पृ० ६६६
२. " " पृ० ६६६, ६६७
३. " " पृ० ६६७ श्लोक ३८
४. " " पृ० ६६८ श्लोक ५२

भागवत के भ्रमरगीत और उद्धव-गोपियों के प्रसंग से यह स्पष्ट है कि भागवतकार को इस अध्याय में ज्ञान की महिमा दिखाना ध्येय है। काव्य की दृष्टि से भी भागवत का यह प्रसंग किसी प्रकार उत्कृष्ट नहीं है। सारा प्रसंग वर्णनात्मक है। गोपियाँ भ्रमर के बहाने कृष्ण को उपालम्भ देती हैं किन्तु इस चित्र में कहीं भी कुब्जा और मथुरा की नारियों के प्रति ईर्ष्या का भाव नहीं है। भागवत की गोपियाँ उदार हैं। वे उद्धव से पूछती हैं श्री कृष्ण जैसी हम से प्रीति करते थे वैसे ही प्रीति पुर-नारियों के स्नेहपूर्ण लज्जायुक्त हास्य-उदारता व श्रद्धा से मनोहर कटाक्षों द्वारा पूजित होकर उनसे भी करते हैं या नहीं[1]। उन्हें भगवान के साथ विहार करने का सुख स्मरण हो आता है और वह उनके वियोग के शोक से आकुल भी रहती हैं परन्तु उद्धव का ज्ञान संदेश सुनकर वे भक्ति-मार्गी से ज्ञान-मार्गी बन जाती हैं। इस प्रसंग में ऐसा कोई भी स्थल नहीं आता जहाँ व्यंगार्थ प्रयोग करने का अवसर मिले। भागवत के इस प्रसंग के सम्मुख सूरसागर के भ्रमरगीत को रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास किन-किन अंगों में मौलिक हैं।

सूरदास ने तीन भ्रमरगीत लिखे हैं। इनमें से एक सूरसागर का अनुवाद है और दो मौलिक। जो भ्रमरगीत भागवत का अनुवाद है उसमें ज्ञान-वैराग्य की विशेष चर्चा है परन्तु भागवत के विपरीत उसमें भी अंत में भक्ति की ही विजय होती है। यह भ्रमरगीत चौपाई छंद में है[2]। इस प्रकार हम देखते हैं कि यह भ्रमरगीत भी भागवत का अविकल अनुवाद नहीं है। अन्य दो भ्रमरगीत पदों में हैं। इनमें से एक में उद्धव का गोपियों से उपदेश, गोपियों का उद्धव को उपालम्भ और उद्धव का कृष्ण के पास लौट कर गोपियों की अवस्था का वर्णन और श्री-कृष्ण का

---

१. शुकोक्तिसुधासागर स्कं० १०—४७—४०

२. हौं तुम पै ब्रजनाथ पठायो, आतम ज्ञान सिखावन आयो।

दशम स्कं० दूसरी लीला ७। ४१

भ्रमरगीतसार पृ० ७४ पद १६०-१६५

मूर्च्छा खाकर गिर पड़ना सब कुछ एक ही छंद में भर दिया गया है[1]। दोनों भ्रमरगीतों में भ्रमर के आने और गुंजन करने का वर्णन नहीं है। केवल मधुकर नाम से उद्धव को उपालम्भ दे दिया गया है जिससे भ्रमर की व्यंजना हो जाती है। वास्तव में तीसरा भ्रमरगीत ही महत्वपूर्ण है। उसमें कई सौ पद हैं और भ्रमर के आने और गोपियों के उसके बहाने कृष्ण और उद्धव को विस्तार पूर्वक उपालम्भ दिया गया है।

भ्रमरगीत का दार्शनिक पक्ष

भागवत में भक्ति की महिमा अवश्य गायी गई है परन्तु ज्ञान के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा गया। भ्रमरगीत के प्रसंग में गोपियों को भक्ति की रक्षा करते हुये भी उसमें एक प्रकार से ज्ञान की ही विजय दिखाई गई है क्योंकि गोपियाँ उद्धव के ज्ञान-संदेश से संतुष्ट हो जाती हैं और श्री कृष्ण के निर्गुण रूप में भी आस्था रखने लगती हैं। परन्तु सूरदास के सारे भ्रमरगीत की धारा सगुणोपासना की ओर ही प्रवाहित हो रही है। कहीं गोपियाँ कहती हैं—

सूरदास या निर्गुण सिन्धुहि कौन सकै अवगाहि।

सं० सू० वियोगी हरि—पद ४२१

अथवा—

मुक्ति रहो घर बैठि आपनो निर्गुण सुनत दुख पैये ४१६

अथवा—

कौन काज या निर्गुण सों चिरजीवहु कान्ह हमारे। इस प्रकार भ्रमर गीत का यह विस्तारपूर्वक वर्णन एक प्रकार से प्रश्न की तरह हमारे सामने खड़ा हो जाता है। हम पूछने लगते हैं कि क्या निर्गुण ब्रह्म की तुलना में सगुण ब्रह्म की महत्ता स्थापित करने के ही लिए इस अंश को इतना पूर्ण बनाया गया है। नंददास के भँवर गीत में निर्गुण ब्रह्म को

---

१. भ्रमरगीतसार छन्द १७

अकाट्य तर्क द्वारा अनुपादेय बताने की चेष्टा की गई है। इससे यह अनुमान होता है कि कदाचित् सूरदास-नंददास के समय में भक्ति और ज्ञान में संघर्ष चल रहा था। इतिहास के अध्ययन से भी यह बात ठीक सिद्ध होती है। मध्य-युग के संत-साधक ज्ञान को एक मात्र साधन बता चुके थे। इसलिए भक्त-साधकों को जो उनके बाद आए भक्ति को ही एक मात्र साधन सिद्ध करने के लिए ज्ञान को अनुपादेय और कष्ट-साध्य बताना पड़ा।

परन्तु उद्धव और गोपियों के प्रसंग को पढ़कर यह न समझ लेना चाहिये कि सूरदास अथवा सगुण भक्त निर्गुण ब्रह्म की ऊँचाई तक उठ नहीं सके थे। सूरदास ने अनेक स्थलों पर 'अविगत' अव्यक्त की महिमा गाई है[1] परन्तु उन्हें भक्ति का मार्ग ज्ञान के मार्ग से अधिक प्रिय था और इसी लिए उसकी महत्ता भी अधिक हो गई थी। वल्लभाचार्य्य ने अणुभाष्य में ज्ञान के ऊपर भक्ति की महिमा प्रतिपादित करते हुए इस प्रकार कहा है—

मुख्यं यदद्वैतज्ञानं तद्भक्तिभावैकदेशव्यभिचारभावेष्वेकतरदितिसर्षप स्वर्णाचलयोरिव ज्ञानभक्त्योस्तारतम्यं कथं वर्णनीयम्[2]। भक्त और ज्ञान के संबंध में सूरदास का भी यही दृष्टिकोण था। उनके मत में ज्ञान न तो ईश्वरप्राप्ति का प्रधान साधन है और न भक्ति के साथ ज्ञान का मिश्रण हुए बिना मनुष्य मुक्ति को ही प्राप्ति कर सकता है। ज्ञान और भक्ति का यह संघर्ष भारतीय दर्शन और धर्म के इतिहास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उपनिषदों के समय से ही ज्ञान और भक्ति की दो साधना धाराएँ उत्तर भारत में प्रवाहित हो रही थीं परन्तु वल्लभाचार्य्य के

---

१. अविगत गति कछु कहत न आवै।
अविगत गति जानि न परै।
अविगत गति कछु समझि न परै।

२. ३-३-३७

आविर्भाव से कुछ पहिले दक्षिण के अलवारों (शिवभक्तों) और उनके सम्पर्क में आये हुये आचार्य्यों के प्रभाव से भक्ति को ज्ञान से विशेष श्रेष्ठ समझा गया। इसके अतिरिक्त भक्ति हृदय का साधन है, ज्ञान मस्तिष्क का। यही कारण है कि भक्त-हृदय को भक्ति पर विशेष मोह हो जाता है और वह ज्ञान को उपालम्भ तक देने लगता है। यही कुछ सामूहिक और वैयक्तिक कारण है जिन्होंने सूरदास को भ्रमरगीत के विषय की ओर विशेष रूप से प्रेरित किया।

भ्रमरगीत में सूरदास ने ज्ञान की असार्थकता दिखाकर उसकी हँसी उड़ाने की चेष्टा की है। वे इस काम को स्वयं न करके गोपियों से कराते हैं। उद्धव निर्गुणोपासक हैं, वे पूर्ण ज्ञानी-योगी के प्रतीक हैं। भगवान कृष्ण देखते हैं कि उन्हें अपने ज्ञान का गर्व है वे उस गर्व का खर्व करना चाहते हैं। इसके लिए वे उन्हें अपना संदेश देकर गोपियों के बीच में भेज देते हैं जिससे उन्हें अपने ज्ञान की दुर्बलता का पता लग जाय।

यदुपति जानि उद्धव रीति।
जिहिं प्रगट निज सखा कहियत करत भाव अनीति।
विरह दुःख जहाँ नाहिं जामत नहीं उपजै प्रेम।
रेख रूप न वरन जाके यहि धर्यो वह नैन।
त्रिगुण तनु करि लखत हमको ब्रह्म मानत और।
विना गुण क्यों पुहुमि उधरे यह करत मन डौर।
विरह रस के मंत्र कहिये क्यों चलै संसार।
कछु कहत यह एक प्रगटत अति भर्यो अहंकार।
प्रेम भजन न नेकु याके जाय क्यों समझाय।
सूर प्रभु मन इन्हें आनी व्रजहिं देऊँ पठाय।

सू० सा० ३६०६

वे उद्धव के योग और ज्ञान की सराहना करके उन्हें और भी

चंग पर चढ़ा देते हैं।[१] । उद्धव अपने मन में फूले नहीं समाते और कहते हैं—

तुम पठवत गोकुल को जैहौं।
जो मनिहैं ब्रह्म की बातैं तो उनसों .मैं कैहौं॥
गद्‌गद् वचन कहत मन प्रफुलित बार बार समुझैहौं।
आजुइ नहीं करौं तुव कारज कौन काज पुनि लैहौं॥

जब वे गोपियों के बीच में पहुँचकर गोपियों से बातें करने लगते हैं तो गोपियों का उत्तर होता है—

योग सों कौने श्री हरि पाये।
निज आज्ञा तप कियो विधाता कब रस रास खिलाये॥

गोपियाँ उद्धव को लक्ष्य करके परस्पर कहती हैं—

इन हिय हेरि मृगी सब गोपी सायक ज्ञान हये।
योग अग्नि की दावा देखियत चहुँ दिसि लाई दये।

उद्धव की बातें उन्हें नीरस लगती हैं। कहाँ रसपूर्ण भक्ति और कहाँ रसहीन योग और ज्ञान। इस बात को वे अन्योक्ति द्वारा अनेक रूपों में प्रगट करती हैं। कभी उनकी भाषा को 'काग की भाषा' बताती हैं और कभी स्वयं उसे 'दादुर' बना देती हैं जो जन्म भर कमलों के पास रहते भी उसकी गन्ध से परिचित न हो सका। वह अपने भक्ति-पंथ को सूर का मार्ग मानती हैं और ज्ञान को कायर-वृत्ति[२]। दार्शनिक और

---

१. ऊधो तुम यह निश्चय जानो।
मन क्रम वच मैं तुम्हहि पठावत ब्रज को तुरत पलानो।
पूरण ब्रह्म अलख अविनाशी ताके तुम हो ज्ञाता।
रेख न रूप जात कुल नाहीं जाके पितु नहिं माता।

सूरसागर ४५०४ स्कं १० पद १६

२. तेरी बुरो न कोई मानै।
रस की बात मधुर नीरस सुनि रसिक होइ सो जानै॥

योगी कृपण है परन्तु भक्त दानी है। वह अपनी समस्त इन्द्रियासक्तियों को भगवान के अर्पण कर देता है। सूरदास राधा से कहते हैं—

रहि री मानिनि मान न कीजै।
यह जोवन अँजुरी को जल है ज्यों गोपाल मांगे त्यों दीजै॥

सूरसागर स्कंध १० पृ० ४८७ पद ५०

अपनी इसी कृपणता के कारण ज्ञानी भक्त को अप्रिय है। उसकी धारणा है कि उसका (ज्ञानी का) विकास ही नहीं हो पाया है। उसके सामने प्रेम की कथा कहना घास काटना है।[1] गोपियाँ योगी उद्धव की भर्त्सना करती हुई कहती हैं—

हम अलि कैसे कै पतिआहीं।
बचन तुम्हारे हृदय न आवत क्यों करि धीर धराहीं।
वपु आकार भेस नहिं जाको कौन ठौर मन लागै।

पृ० ५५१ पद ५२

गोपियाँ उद्धव की उलझी हुई बातें सुनना नहीं चाहतीं[2]। उनके दर्शन शास्त्र में योग की परिभाषा ही दूसरी है।

उधो योग तबहिं ते जान्यो।
जा दिन तें सुफलक सुत के संग रथ बृजनाथ पलान्यो।
ता दिन तें सब छोह मोह गयो सुत पति हेतु भुलान्यो।
तजि माया संसार तर्क जिय बृज बनिता ब्रज ठान्यो।
नैन मूँद मुख मौन रही घरि तनु तप तेज सुखान्यो।

दादुर बसै निकट कमलन के जन्म न रस पहिचानै।
अति अनुराग उड़त मन बाँध्यो कहो सुनत नहिं कानै॥
सरिता चली मिलन सागर को कूल सबै द्रुम भानै।
कायर बकै लोभ ते भागै, लरै ते सूर बखानै॥

१. सूरसागर पद ३६ पृ० ५४६।
२. राखो यह सब योग अटपटो ऊधो पाइ परौं।

नंद नंदन मुरली मुख पर धरि उहै ध्यान उर आन्यो।
सोई रूप योगी जेहि भूलै जो तुम योग बखान्यो।
ब्रह्मउ पचिमुए ध्यान करत ही अन्तउ नहिं पहिचान्यो।
कही सुयोग कहा लै कीजै निर्गुण ही नहिं जान्यो।
सूर उहै निज रूप श्याम को मन मांह समान्यो।

वियोगी हरि-सू० सा० पृ० २३७ पद ४१७

अन्त में गोपियों की तन्मयता देख कर उधव भी गोपियों के रंग में रँग जाते हैं[1]। यह ज्ञान पर भक्ति की विजय है। उद्धव अपने जहाज़ का बेड़ा गोकुल में डुबा कर मथुरा लौट जाते हैं और कृष्ण के सामने अपनी हार स्वीकार करते हैं।

माधो जू मैं अति ही सुख पायो।
अपनो जानि संदेश साजि कर ब्रज में मिलन पठायो।
क्षमा करो तो मेरी बिनती उनहिं देखि ज्ञु आयो।
सकल निगम सिद्धान्त जन्म कर श्याम उन सहज सुनायो।
नहिं श्रुति शेष महेश प्रजापति जो रस गोपिन गायो।
कथा गंग लागी मोहिं तेरी उह रस सिंधु उमहायो।
तुमरी अकथ कथा तुम जानो हमें निज नाथ बिसरायो।
सूर श्याम सुन्दर यह सुनि सुनि नैनन नीर बहायो।

भक्ति की महत्ता इससे बढ़कर क्या होगी कि स्वयं भगवान उसकी तन्मयासक्ति की दशा का वर्णन सुनकर प्रेम के आँसू बहाने लगते हैं। भला ज्ञान इस महत्ता को प्राप्त हो सकता है! संक्षेप में सूरदास का यही दृष्टिकोण है।

---

१. सुनि सुनि ऊधो प्रेम मगन भयो।
लौटत घर पर ज्ञान गर्व गयो॥
निरखत ब्रजभूमि अति सुख पावै।
सूर प्रभु को यश पुनि पुनि गावै॥

भ्रमरगीत का काव्य सौन्दर्य

रस, अलंकार और व्यंजना तीनों की दृष्टि से भ्रमरगीत सूरसागर का सबसे उत्कृष्ट भाग सिद्ध होता है। इस स्थल पर हम केवल रस को लेकर सूरदास के काव्य की उत्कृष्टता दिखायेंगे।

रस की दृष्टि से भ्रमरगीत विप्रलंभ (वियोग शृङ्गार) के अन्तर्गत आता है। आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल के अनुसार सूर का " विप्रलंभ भी ऐसा ही विस्तृत और व्यापक है। वियोग की जितनी अन्तर्दशायें हो सकती हैं जितने ढंगों से उन दशाओं का साहित्य में वर्णन हुआ है और सामान्यत: हो सकता है वे सब उसके भीतर मौजूद हैं[1] "।

रीति-आचार्यों ने विरह की ग्यारह अवस्थायें मानी हैं—

१ अभिलाषा, २ चिन्ता, ३ स्मरण, ४ गुणकथन, ५ उद्वेग, ६ प्रलाप, ७ उन्माद, ८ व्याधि, ९ जड़ता, १२ मूर्च्छा, ११ मरण। इनमें से प्रत्येक अवस्था का वर्णन अनेक पदों में मिलता है और प्रत्येक अवस्था को अत्यन्त उत्कृष्ट रूप से चित्रित किया गया है। रस-परिपाक के साथ भाव व्यंजना और रूप-चित्र इतने स्पष्ट चलते रहते हैं कि प्रत्येक पद स्वयं पूर्ण बन जाता है। पहले इन दशाओं के उदाहरण लिए जायेंगे।

अभिलाषा

निरखत अंक श्याम सुन्दर के बार बार लावति छाती।
लोचन जल कागद मसि मिलि कै ह्वै गई श्याम श्याम की पाती।
गोकुल बसत नंद नंदन के कबहुँ बयारि न लागति ताती।
अरु हम उती कहा कहैं ऊधो जब सुनि वेणु नाद संग जाती।
प्रभु के लाड़ बदति नहिं काहू निशिदिन रसिक रास रसराती।
प्राणनाथ तुम कबहुँ मिलोगे सूरदास प्रभु बाल संघाती।

---

१. पं० रामचंद्र शुक्ल—भ्रमर गीत सार पृ० २

चिन्ता

मधुकर ये नैना पै हारे।
निरखि निरखि मग कमल नयन को प्रेम मगन भये मारे।
तादिन ते नींदी पुनि नासी, चौंकि परत अविकारे।
सपन तुरी जागत पुनि सोई ज्यों हैं हृदय हमारे।

स्मरण

१ मेरे मन इतनी सूल रही।
वे बतियाँ छतिया लिखि राखी जे नंदलाल कहीं।
२ यह लालसा होत जिय मेरे बैठी देखत रैहों।
गाइ चरावन कान्ह कुँवर सो भूलि न कबहूँ कैहों।
करत अन्याय न बरजों कबहूँ अरु माखन की चोरी।
अपने जियत नैनि भरि देखौ हरि हलधर की जोरी।

गुण-कथन

संदेशो देवकी सो कहियो।
हौ तो धाय तिहारे सुत की कृपा करत ही रहियो।
यद्यपि टेव तुम जानति उनकी तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रातहिं उठत तुम्हारे कान्ह को माखन रोटी भावै।
तेल उबटनो अरु तातो जल ताहि देखि भजि जाते।
जोइ जोइ माँगत सोइ सोइ देती क्रम क्रम करि करि न्हाते।

उद्वेग

तिहारी प्रीति किधौ तरवारि।
दृष्टि धार करि मारि सांवरे, घायल सब बृज नारि।

प्रलाप

१ कैसे पनघट जाऊँ सखीरी डोलौ सरिता तीर।
भरि भरि जमुना उमड़ि चली है इन नैनन के नीर।

२ सब मिलि करहु कछू उपाव।
मार मारन चढ़ेउ विरहिनि करहु लीनों चाउ।
हुतासन भुज उमँगि उन्नत चलेउ हरि दिशि वाउ।
कुसुमशर रिपु नंद वाहन हरषि हर्षित वाउ।

उन्माद

१ माधव यह ब्रज को व्योहार।
मेरो कह्यो पवन को भुस भयो गावत नंद कुमार।
एक ग्वाल गोधन लै रेंगति, एक लकुट कर लेति।
एक मण्डली करि लै बैठारति छाक बाँटि कै देति॥
२ वे जो देखियत राते राते फूलन फूली डार।
हरि बिनु फूल झार से लागत झरि झार परत अँगार।

व्याधि

बिन गोपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति सीतल अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।
वृथा बहति जमुना खग बोलत वृथा कमल फूलैं अलि गुंजैं।
पवन पानि घनसार सजीवनि, दधि सुत किरन भानु भईं भुंजैं।
ये ऊधो कहियो माधव सों विरह करद कर मारद लुंजैं।
सूरदास प्रभु को मग जोवत अँखियाँ भईं वरन ज्यों गुंजैं।

जड़ता

१ बालक संग लिए दधि चोरत खात खवावत डोलत।
सूर सीस सुनि चौंकत नावहिं, अब काहे न मुख बोलत॥
२ परम वियोगिनी सब ठाढ़ी।
ज्यों जलहीन दीन कुमुदिनिवन रवि प्रकाश की डाढ़ी।
जिहि विधि मीन सलिल तें बिछुरे, तिहिं अति गति अकुलानी।
सूखे अधर कहि न कछु आवे वचन रहति मुख वानी।

मूर्च्छा

१ सोचति अति पछितात्ति राधिका मूर्च्छित धरनि ढही,
सूरदास प्रभु के बिछुरे ते, बिथा न जात सही।

२ जबहि कहो ये श्याम नहीं।
परी मुरछि धरणी ब्रज बाला जो जहाँ रहीं सुतहीं।

मरण

जब हरि गवन कियो पूरब लौ तब लिखि जोग पठायो।
यह तन जरि कै भस्म ह्वै निवर्‍यो बहुरि मसान जगायो॥
कै रे मनोहर आनि मिलाओ, कै लै चलु हम साथे।
सूरदास अब मरन बन्यो है पाप तिहारे माथे॥

वियोग-शृङ्गार के अन्तर्गत जितने भी मनोभाव हो सकते हैं उनका वर्णन भ्रमरगीत में मिल जाता है। एक एक अवस्था के अनेक मार्मिक वर्णन मिलते हैं। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास वियोग शृङ्गार के मनोविज्ञान के पूर्ण पण्डित थे। डा० राजकुमार वर्मा के शब्दों में "उन्होंने मनोवैज्ञानिकता के साथ रस का पूर्ण सामंजस्य स्थापित किया है।" यह सच है कि सूरदास ने अन्य रसों में इतना पाण्डित्य नहीं दिखाया है जितना विप्रलंभ में परन्तु उन्होंने शृङ्गारमय जीवन का विस्तारपूर्वक विश्लेषण किया है। प्रेमी-प्रेमिका के जितने भी प्रकार के संबंध हो सकते हैं और दाम्पत्य जीवन में जितने भाव विभाव सम्भव हैं वे सब सूरदास के भ्रमरगीत में मिलते हैं।

परन्तु सूरदास का विप्रलंभ चित्रण यहीं समाप्त नहीं हो जाता। उसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सोलहो आना वियोग है[1]। भ्रमरगीत की गोपियों में संयोग की भावना का नितांत लोप है। भागवत की गोपियाँ उद्धव का ज्ञानोपदेश सुनकर अपने मन के भीतर कृष्ण के

1. सूर साहित्य—हज़ारी प्रसाद द्विवेदी।

मिलन की कल्पना कर सकती थीं किन्तु सूरदास की गोपियाँ इस बात के लिए बिलकुल अयोग्य हैं। सारा भ्रमरगीत इस वियोग-भावना से इतना व्याप्त है कि गोपियों का विरह अनत काल तक चलता हुआ जान पड़ता है। गोपियाँ विरह-तन्मयासक्ति की अन्यतम अवस्था को पहुँच गई हैं। उनका विरह इतना गहरा है कि वह देश, काल और पात्र से मुक्त हो जाता है और उसमें विश्वजनीन विरह भाव की उत्पत्ति हो जाती है। भ्रमरगीत के विरह चित्रण के इस गुण को हम 'विरह की गहनता' के नाम से पुकार सकते हैं। गोपियों का अस्तित्व उनके विरह मात्र में ही चित्रित किया गया है। अनेक गोपियाँ तन्मयासक्ति की अन्यतम अवस्था में पहुँच कर जब हमारे सामने उपस्थित होती हैं तब हम उनके दुख को अलौकिक समझने लगते हैं। इस प्रकार सूरदास ने पार्थिक में अपार्थिक की व्यंजना की है।

गोपियों की अनेकता से ही विरह की व्यापकता भी व्यजित होती है। इस प्रकार की व्यंजना की आवश्यकता इसलिए होती है कि सूरसागर लीला-काव्य है और उसकी लीला लौकिक और अलौकिक दोनों रूपों में चरितार्थ होती है। अलौकिक (अध्यात्म) पक्ष में अनेक गोपियाँ अनेक जीवात्माओं की प्रतीक हैं। जीवात्मा और ब्रह्म के संबंध को गोपियों और कृष्ण के संबंध में व्यंजित करने के लिए यह आवश्यक था कि गोपियों की संख्या मर्यादित न की जाय। इसीलिए सूरदास ने गौड़ीय वैष्णव अलंकारिकों की तरह गोपियों के श्रेणी-भेद नहीं किये[1]।

विरह की व्यापकता इस बात से और अधिक व्यंजित होती है कि केवल व्रजनारियाँ गोपियाँ ही नहीं ग्वाल-बाल नंद और यशोदा भी इसी

---

१. सोलहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैष्णव अलंकारिका विश्वनाथ चक्रवर्ती के उज्ज्वल नीलमणि किरण नामक ग्रन्थ में गोपियों के स्वभाव और वस्त्राभूषण आदि के बारे में विस्तृत वर्णन है, उसमें ३६३ प्रकार की नायिकाओं के उदाहरण के लिये गोपियों के ही नाम गिनाए हैं।

प्रकार विरह से आकुल हैं। ग्वाल बाल कृष्ण के सखा हैं। वे सखा भाव से कृष्ण के विरह का अनुभव करते हैं। नंद और यशोदा माता पिता हैं अतः उनके विरह के मूल में वात्सल्य की भावना है। परन्तु मूल कारण और प्रकार का भेद चाहे जितना ही हो वस्तुतः गोपियों, ग्वालों और नंद यशोदा के विरह में कोई विशेष अंतर नहीं। सब तन्मयासक्ति की ऊँची दशा पर पहुँचे हुए हैं।

यही नहीं, ब्रज की प्रकृति, पशु पक्षी, जड़ चेतन सभी कृष्ण के विरह का अनुभव करते हैं। कृष्ण के वियोग में गाँवों की यह दशा हो गई है।

ऊधो इतनी कहियहु जाइ।
अति कृश गात भई ए तुम बिनु परम दुखारी गाइ॥

कृष्ण के विरह में यमुना की यह दशा हो गई है—

लखियत कालिन्दी अतिकारी।
कहियो पथिक जाइ हरि सों ज्यों, भई विरह जुर जारी।
मनु पलिका परि धरि धरनि धँसि तरंग तलफ तनु भारी।
तट बारू उपचार चूर मनों स्वेद प्रवाह पनारी।
विगलति कुच कस कास पुलिन मनों पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनों मति भ्रमति चहुँ दिसि फिरती अंग दुखारी।
निसदिन चकई ब्याज बकत मुख, किन मानस अनुहारी।

इस प्रकार प्रकृति में मानवीय भावनाओं के आरोपण[1] द्वारा सूरदास फिर एक बार कृष्ण और उनके अलौकिक विरह की व्यंजना करते हैं।

---

१. Pathetic Fallacy

८

सूर-साहित्य का काव्य पक्ष

कला मानवीय चेष्टा है। चेष्टा यही है कि एक मानव ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा उन भावों को प्रगट करता है जिनका उसने अपने जीवन में साक्षात्कार किया है। इन भावनाओं का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है। वे भी उनको अनुभूत करते हैं[१]।

यदि यह सिद्धान्त ठीक है तो सूरदास की कविता का कला पक्ष भी अत्यंत पुष्ट है। सूर ने अपने काव्य के विषय का साक्षात्कार किया था, वे उसके अत्यंत निकट थे, यह सूरसागर का कोई भी पाठक भुला नहीं सकता। स्वयम् महाप्रभू ने यह बात कही थी[२] उनके प्रभाव के संबंध में तो परवर्ती साहित्य और आज भी मनुष्य-हृदय साक्षी है। सूर की कला के वाह्य और आन्तरिक दोनों रूप पुष्ट हैं। इस अध्याय में उनके वाह्यांगों (रस, अलंकार चित्रमयता और सौन्दर्यांकन, भाषा और छंद) पर विचार करेंगे। कला के आन्तरिक रूप का संबंध अनुभूत भावनाओं से है जो नैतिक, शक्तिप्रद और पूत होनी चाहियें; जिनका उद्देश्य आनंद द्वारा पाठक के भाव-जगत के उत्कर्ष पर पहुँचना तथा उसे परिष्कृत करना है। सूर के काव्य के इस अंग पर अन्यत्र विचार किया जायगा।

मध्ययुग के भक्ति-काव्य की विवेचना करते हुये हम यह भूल जाते हैं कि किसी भी युग में कोई भी धारा स्वतंत्र रूप से नहीं बह सकती। उसके

---

१. टालसटाय—कला क्या है? Tolstoy's—What is Art?

२. देखिये चौरासी वार्ता—सूरदास की जीवनी। सूरसागर पर विहंगम दृष्टि शीर्षक के नीचे हमने महाप्रभु के शब्द उद्धृत किये हैं।

साथ अनेक धाराओं का मेल हो जाना ही अधिक सम्भव है। मध्य-युग में केवल भक्ति की धारा ही प्रधान नहीं थी। इस समय दो अन्य धारायें भी बल प्राप्त कर चुकी थीं। इनका संबंध धर्म से नहीं, साहित्य से था। ये थीं शृङ्गार रस और रीति की धारायें जिन्होंने भक्ति काल के बाद प्राधान्य प्राप्त कर लिया और रीति-काल का प्रादुर्भाव किया। सूर के काव्य-विषय (कृष्ण-भक्ति) को इन साहित्य-धाराओं और उनके अतिरिक्त युग की सामान्य प्रवृत्ति (विलासप्रियता अथवा शृङ्गारप्रियता) ने भी प्रभावित किया। यही कारण है कि सूर-साहित्य के भाव-पक्ष में हमें भक्ति और शृङ्गार के दर्शन होते हैं और कला-पक्ष में रीति (रस और अलंकार निरूपण) के। इस सत्य को भुला कर सूर-साहित्य पर अनैतिकता का दोष लगाया जाता है और उसमें हमें ऐसे पदों को स्थान प्राप्त करते हुये देखकर आश्चर्य होता है जो कूट, रस-निरूपण और अलंकारों के प्रदर्शन के लिये लिखे गये। परन्तु इसमें कोई आश्चर्य नहीं है। सूर-साहित्य पर अनेक प्रभाव पड़े हैं। इन प्रभावों की दृष्टि से सूर-साहित्य का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—

(१) विनय के पद (भक्ति की साधारण भावना—दास्य और आत्म समर्पण—का प्रभाव)।

(२) सामान्य रूप से सारे ग्रंथ को प्रभावित करने वाला भाव (कृष्ण की मधुर रूप की भक्ति)।

(३) कृष्ण की बाल-लीला का प्रसंग (वल्लभ-सम्प्रदाय की धर्म भावना का प्रभाव)।

(४) राधा-कृष्ण प्रसंग (मधुर भक्ति और युग की सामान्य प्रवृत्ति का प्रभाव अतः शृङ्गार-रस की प्रधानता)।

(५) कूट-रस-निरूपण, नायिका-भेद, और अलंकारों को स्पष्ट करने वाले पद (पूर्ववर्ती साहित्य और तत्कालीन रीति धारा का प्रभाव)।

इस स्थल पर हम सूर-साहित्य के रीति-प्रधान अंग पर प्रकाश डालने वाली कुछ पंक्तियाँ लिखना आवश्यक समझते हैं। इसके पश्चात् हम उसके वाह्यांग की विस्तृत विवेचना करेंगे।

सूरदास के बहुत पहले संस्कृत-काव्य में रीति की प्रतिष्ठा हो गई थी और मध्य युग के कवियों को संस्कृत का जो काव्य साहित्य उपलब्ध था उसमें उसकी प्रधानता थी। जयदेव के समय में संस्कृत का रीति काव्य पुष्ट हो रहा था। इसलिये हिन्दी के आदि-कवियों पर भी रीति-विवेचना की प्रवृत्ति का प्रभाव पड़ा। हिन्दी का रस-निरूपण संवंधी सर्व-प्रथम ग्रंथ १५६८ (सं० १५४१ ई०) के प्रारम्भ में कृपा-राम ने लिखा। उसी समय के लगभग चरखारी के मोहनलाल मिश्र ने शृङ्गार-सागर-नामक एक ग्रंथ शृङ्गार-संवंधी लिखा। करनेस के तीन अलंकार-संवंधी ग्रंथ भी इसी समय लिखे गये[१]। यह ध्यान रखना चाहिये कि सूरदास की जन्म तिथि सं० १५४० है। रीति-ग्रंथों के प्रणयन का प्रचलन केशवदास ने किया। उन्होंने सं० १६४८ (१५९१ ई०) में रसिक प्रिया लिखी और सं० १६५८ (सन् १६०१ ई०) में रामचंद्रिका और कवि-प्रिया। इस ऐतिहासिक विवेचना से यह स्पष्ट हो जायगा कि रीति ने उस युग को सूरदास के जन्म के समय ही प्रभावित करना आरम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे पचास-साठ वर्षों में रीति ने साहित्य में महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण कर लिया। इस वीथिका को ध्यान में रखने पर सूरदास और तुलसीदास के काव्य में रस और अलंकार का निरूपण मिलने पर हमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये। ये लोग कवि भी थे और उनके काव्य को उस समय की काव्य प्रवृत्ति ने प्रभावित किया, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

सूर के वाह्यांग में वैयक्तिकता, सरलता और सच्चाई[२] के तीन आवश्यक गुण मिलते हैं। इन गुणों ने उनके भाव पक्ष को पुष्ट और

---

१. करणाभरण, श्रुति-भूषण और भूप-भूषण।

२. Individualism, Simplicity and Sincerity.

बनाया है। उन्होंने सूर-साहित्य में आत्मीयता की उत्पत्ति

सूर के काव्य के वाह्यरूप का अध्ययन हम रस से आरम्भ करगे।

सूर-साहित्य में अनेक रसों की वर्णछटा होते हुये भी उसकी आत्मा-शान्त-रस है। वहाँ भक्त सूरदास अपने प्राकृतिक रूप में हमारे सामने आते हैं। उस समय वे कवि अधिक नहीं होते, केवल विनय-शील-भक्त और आध्यात्म-पारखी मात्र होते हैं।

शान्त रस

सूरदास की विनय-पत्रिका के नाम से जो अंश प्रसिद्ध है उसमें शान्त-रस की ही प्रधानता है। इन पदों में आत्म-निवेदन और प्रार्थना, दैन्य-प्रकाश और कृपा भिक्षा-भक्ति और दर्शन का सामंजस्य है। इनकी भाषा सरल है, अलंकारों का भी प्रयोग बहुत कम हुआ है। शान्त-रस को प्रगट करने के लिए अधिक आडम्बर की भी आवश्यकता नहीं है। अतः इन पदों में सूरदास ने जो कुछ कहा है वह काव्य-कला के प्रकाशन के लिए नहीं; उन्होंने प्रत्यक्ष और स्पष्टरूप से अपनी आत्मा को प्रकाशित कर दिया है। सूरदास कवि, भक्त तथा कथाकार एक साथ ही हैं। शान्त-रस मुख्यतः उनके भक्त और कथाकार रूप में प्रस्फुटित हुआ है। काव्य की छटा न होने के कारण इस प्रकार के पद काव्यालोचकों को अधिक प्रिय नहीं है परन्तु सूरसागर की सारी कथा और उसके अनेक रसों के मूल में यही पद और उनमें सन्निहित शान्त भाव है। संसार की अनित्यता के विषय में सूरदास का एक पद है—

हरि बिनु कोऊ काम न आयो।
यह माया झूठी प्रपंच लगि रतन सों जनम गंवायो॥
कंचन कलस विचित्र चित्र करि रचि पचि भवन बनायो।
तामें तेहि छिनही काढ्यो पल भर रहन न पायो॥

तेरे संग जरौंगी यहि कहि, त्रिया धूत धनि खायो।
चलत रही चित चोरि मोरि मुख, एक न पग पहुँचायो ॥
बोलि-बोलि सुत स्वजन मित्र जन, लीनों सो जिहि भायो।
पर्‌यो काज अब अंत की बिरियाँ, तिन ही आनि बंधायो ॥
आसा करि-करि जननी जायो, कोटिक लाड़ लड़ायो।
तोरि लयो कटिहू को डोरा, तापर बदन जरायो ॥
कोटि जनम भ्रमि-भ्रमि हम हार्‌यो, हरि पद चित न लगायो।
और पतित तुम बहुत उधारे, सूर कहा बिसरायो ॥

कृष्ण के संबंध में विनय के पदों में शान्त रस का विकास अच्छी प्रकार हो पाया है—

गोविंद पद भज मन बच क्रम करि।
रुचि-रुचि सहज समाधि साधि सठ दीनबंधु करुनामय उरधरि ।
मिथ्यावाद विवाद छांड़ि सठ विषय लोभ मद मोहै परिहरि ॥
चरन प्रताप आनि उर अन्तर और सकल सुख या सुख तरहहिं।
वेदनि कह्यो स्मृति इमि भाष्यो पावन पतित नाम है निजुहरि[१] ॥

सूरसागर के प्रत्येक स्कंध के प्रारम्भ में हरि-स्मरण संबंध के पद[२] मिलते हैं जिससे यह स्पष्ट होता है कि सूरदास ने अन्य रस केवल शान्त रस के पुष्टि के लिये ही उपस्थित किये हैं। सूरसागर का प्रथम पद भी इसी ओर इंगित करता है। यह पद इस प्रकार है—

चरण कमल बंदौ हरि राई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अंधे को सब कछु दरशाई ॥
बहिरो सुनै मूक पुनि बोले, रंक चलै सिर छत्र धराई।
सूरदास स्वामी करुणामय बार-बार बंदौ तेहि पाई ॥

---

१. अन्य उदाहरणों के लिए देखिये सूर पंचरत्न, विनय पद २८, २६, ३१, ३२।

२. हरि-हरि-हरि-हरि सुमिरन करौ, हरि चरनार बिंद उर धरौ आदि।

सूरदास ने ब्रज की महिमा के संबंध में जो पद कहे हैं उन्हें भी हम शान्त-रस के अंतर्गत रख सकते हैं क्योंकि उससे कवि का अभिप्राय अपनी भक्ति-भावना की पुष्टि ही थी। इन पदों को हम अन्यत्र उद्धृत कर रहे हैं[1]। इन स्थलों के अतिरिक्त हमें अनेक प्रसंगों के बीच में भी ऐसे पद मिलते हैं जिनमें यही रस प्रधान है।

सूरसागर में कृष्ण भक्ति संबंधी जो पद हैं उन्हें साधारणतया शान्त रस के अन्तर्गत ही रक्खा जाता है परन्तु वास्तव में उन पदों में एक नये रस का विकास हुआ है। इसे हम 'भक्ति-रस' कह सकते हैं। पं० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसे 'उज्ज्वल-रस' का नाम दिया है। रसों की कल्पना एवं उनकी विवेचना का इतिहास बहुत प्राचीन है और उसके आधार संस्कृत नाटक और काव्य-ग्रंथ हैं। मध्य-युग में भक्ति और काव्य का ऐसा संगम हुआ कि उसके कारण काव्य में कुछ नये रसों का विकास हुआ। इनमें से दो 'वात्सल्य' और 'भक्ति-रस' हैं। भक्ति रस का एक उदाहरण इस प्रकार है—

अब के माधव मोहिं उधारि।
मगन हौं भव अंबुनिधि में कृपासिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया, लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जल में गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्रिय अतिहिं काटत मोर अघ सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेवार।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय सुत नाम-नौका ओर।
थक्यो बीच बेहाल विह्वल सुनहु करुनामूल।
स्याम भुज गहि काढ़ि डारहु सूर ब्रज के कूल।

---

1. सूर का प्रकृति चित्रण वाला अध्याय।

वल्लभाचार्य ने बाल-कृष्ण को इष्टदेव के रूप में उपस्थित किया। इसके अतिरिक्त उन्होंने कृष्ण-लीला पर इतना बल दिया जितना और किसी सम्प्रदाय ने नहीं दिया। उनके लिये लीला का गान करना ही भक्ति था। इस लीला से तादात्म्य स्थापित करना ही उनकी साधना थी। कृष्ण की बाल-लीला का संबंध यशोदा और नंद से विशेष रूप में था। इसमें भी यशोदा नारी और माता थीं। अतएव उनका और कृष्ण का संबंध अधिक मधुर और पूर्ण था। इसीलिये जब काव्य में कृष्ण का बाल चरित्र सम्पूर्ण रूप से प्रकाशित हुआ तब हिन्दी साहित्य में एक नये रस की प्रतिष्ठा हुई। यह रस वात्सल्य रस था।

वात्सल्य रस

यशोदा और कृष्ण के संबंध की कथा को हम दो भागों में बाँट सकते हैं, (१) कथा का वह भाग जब कृष्ण यशोदा के सम्मुख थे, अपनी लीलाओं से उन्हें सुखी करते थे। (२) कथा का वह भाग जिसमें कृष्ण मथुरा चले गये हैं, नंद-यशोदा उनके विरह में व्याकुल हैं। इन दोनों कथा प्रसंगों को संयोग और वियोग कहा जाता है। यद्यपि इस प्रकार की परिभाषा शृङ्गार रस के संबंध में प्रयुक्त होती है। इस प्रकार सारी कथा से जिस वात्सल्य रस की सृष्टि हुई है उसे हम दो भागों में बाँट सकते हैं, एक संयोग-वात्सल्य; दूसरे वियोग-वात्सल्य।

सूरदास वात्सल्य रस के दोनों अंगों का प्रकाशन करने में सिद्धहस्त हैं परन्तु उन्होंने संयोग-वात्सल्य का ही अधिक चित्रण किया है। वियोग-वात्सल्य के संबंध में उनके पद इतने अधिक नहीं हैं। वास्तव में सूर संयोग-वात्सल्य के चित्रण में अपूर्व हैं, उन्होंने माता के हृदय की प्रत्येक परिस्थिति का बड़ा रसपूर्ण सूक्ष्मातिसूक्ष्म चित्रण किया है। जिस प्रकार राधा-कृष्ण के संयोग शृङ्गार से सूरदास ने मधुर एवं सख्य भाव द्वारा कृष्ण की भक्ति साधना की है, उसी प्रकार यशोदा कृष्ण का संयोग वात्सल्य भी उनके लिए एक मधुर साधना है। उन्होंने अपने व्यक्तित्व को यशोदा के व्यक्तित्व में मिलाकर कृष्ण की बाल-लीला में भाग लिया

है। यशोदा-कृष्ण के प्रसंग में उनके भी वात्सल्यपूर्ण हृदय का चित्रण हो गया है। संयोग-वात्सल्य के आलंबन कृष्ण हैं, उनकी लीलाएँ उद्दीपन है। यशोदा का प्रसन्न होकर हँसना, मुसकराना और अन्य चेष्टाएँ अनुभाव हैं।

सूरदास ने अपने संयोग-वात्सल्य के चित्रण को स्वभावोक्ति अलंकार द्वारा पुष्ट किया। उनका बाल मनोविज्ञान का ज्ञान उन्हें वात्सल्य रस की सृष्टि में सहायता देता है। यद्यपि बाल-लीला के प्रसंग में कहीं कहीं अद्भुत रस का निरूपण भी हुआ है जो वात्सल्य-रस के विकास में बाधा डाल सकता है परन्तु वात्सल्य-रस पूर्ण स्थलों की अधिक प्रधानता होने के कारण ऐसा नहीं होता। बाल-कृष्ण और यशोदा-नंद के प्रसंग में केवल एक ही रस प्रस्फुटित होता है, वह है वात्सल्य-रस। अद्भुत-रस प्रासंगिक और गौण है।

सूर के आलम्बन का सौन्दर्य्य वात्सल्य-रस के प्रादुर्भाव में विशेष भाग लेता है। उस सौन्दर्य्य को यशोदा के साथ साथ सूरदास ने इस प्रकार देखा है—

लाला, हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहन मन विहँसन,
भ्रुकुटि विकट नैननि पर॥
द्वै द्वै दमकि, दँतुलिया विहँसति
मनु सीपज घर किय वारिज पर॥
लघु लघु सिर, लट घूंघर वारी
रहीं लटकि लौने लिलार पर॥
नूतन चंद्र रेख मधि राजति
सुर-गुरु सुक उदोत परस्पर॥

लोचन लोल, कपोल ललित अति,
नासिक को मुक्ता रद-छद पर ॥
सूर कहा नौछावरि करिए
अपने लाल ललित लर ऊपर ॥

यह सौंदर्य्य अनेक रूपों से हमारे सामने उपस्थित किया जाता है। इस पुनरावृत्ति के कारण वात्सल्य-रस की उद्भावना में अधिक कठिनाई नहीं होती। बालक का सौन्दर्य्य ही उसकी क्रीड़ा की ओर इंगित कर सकता है और इस प्रकार केवल सौन्दर्य्य चित्रण से ही रस-व्यंजना हो जाती है।

परन्तु इस अदभुत-सौन्दर्य्य-पूर्ण बालक की बाल-क्रीड़ाएँ भी अनेक ढंग से चित्रित की गई हैं। उनकी संख्या भी कम नहीं है। उद्दीपन की यह अधिकता रस की वृद्धि में सहायक होती है। वात्सल्य-रस के उद्दीपन के लिये बाल-कृष्ण की जो लीलाएँ उपस्थित हो सकती हैं वे ये हैं, घुटने चलना, पाँव चलना, कलेवा, चंद्र प्रस्ताव, खेलना, माखन-चोरी, गाय दुहना सीखना। इन सब लीलाओं में से प्रत्येक के संबंध में बहुत से पद मिलते हैं। इन लीलाओं के अतिरिक्त किशोर राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में भी यशोदा ने मधुरस्मित द्वारा साथ दिया है और इसने उसकी वात्सल्य भावना में और भी अधिक माधुर्य्य का प्रवेश कर दिया है।

(१) कान्ह चलत पग दै दै धरनी
जो मन में अभिलाष करत हो सो देखत नँद-घरनी।
रुनुक झुनुक नूपुर बाजत पग यह अति है मनहरनी।
बैठ जात पुनि उठत तुरत ही सो छवि जाय न बरनी।

(२) मेरो माई ऐसो हठी बाल गोविंदा।
अपने कर गहि गगन बतावत खेलन के माँगे चंदा।
बासन के जल धर्‌यो यशोदा हरि के आनि दिखावै।
रुदन करत ढूंढ़े नहिं पावत धरणि चंद्र कैसे आवै।

दूध दही पकवान मिठाई जो कछु माँग मेरे छौना।
भौंरा चकई लाल पाट के लेंडुवा मागु खिलौना।

(३) खेलन अब मेरी जात बलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहिं खिझत बलभैया।
मोंसो कहत पूत बसुदेव के देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कुछ दै बसुदेव के करि करि जतन बढ़ैया।
अब बाबा कहि कहत नंद सो जसुमति के कहै मैया।
ऐसे कहि सब मोहि खिझावत तब उठि चलौं खिसैया।
पाछे नंद सुनत है ठाढ़े हँसत हँसत उर लैया।

सूरदास ने अपने संयोग-वात्सल्य के वर्णन में बालकों की भाषा और उनके प्रति स्नेह-सूचक शब्दों के प्रयोग से रसोद्रेक में सहायता ली है। वास्तव में सूर की भाषा की मौलिकता, नैसर्गिकता और रस-परिपाक के लिये उसकी उपयोगिता बाल-लीला के पदों में ही स्पष्ट होती है।

वियोग-वात्सल्य के चित्रण ने वात्सल्य रस के पूर्ण कर दिया है। वियोग-वात्सल्य में कृष्ण आलंबन है और उनकी बाल-क्रीड़ा की स्मृतियाँ एवं वे वस्तुयें जिनसे उनका संबंध रहा है (मुरली, लकुट आदि) उद्दीपन हैं—

(१) मेरे कुँवर कान्ह बिनु सब कछु वैसेहि धरयो रहै।
कोउ उठि प्रात होत लै माखन के कर नेत गहै॥
सूने भवन यशोदा सुत के गुनि-गुनि शूल सहै।

(२) निशि बासर छतियाँ ले ल्याऊँ,
बालक लीला गाऊँ।
वैसे भाग बहुरी फिरी है हैं,
मोहन मोद खवाऊँ॥

यशोदा का वात्सल्य इतना पूर्ण है कि संयोग और वियोग दोनों में कृष्ण ही उसके प्राण हैं। दोनों अवस्थाओं में वह उसमें इतनी तन्मय रहती है कि उसका अपना व्यक्तित्व कृष्ण के व्यक्तित्व के सिवा कुछ नहीं

रहता। संयोग के अवसर पर उसे वियोग की तनिक भी आशंका नहीं रहती। वियोग के अवसर पर वह पिछले संयोग को भूल नहीं पाती, यद्यपि उसका वियोग भी उसके लिये कृष्ण की क्रीड़ाओं की स्मृति के कारण अत्यन्त मधुर हो गया है। उसका वात्सल्य जिस समय परिपूर्णता प्राप्त कर लेता है उस समय वह पति-प्रेम के भी ऊपर उठ जाता है। यशोदा नंद को उलाहना देती है कि उन्होंने दशरथ के पथ का अनुसरण क्यों नहीं किया। ऐसा वह केवल वात्सल्य की अन्यतम अनुभूति के कारण कहती है। यशोदा के वात्सल्य-पूर्ण हृदय के वियोग-दुख की अनुभूति वल्लभ-सम्प्रदाय के भक्त का लक्ष्य था[1]। सूरदास इस वियोग दुख की गम्भीरता को अभिव्यक्त करने में सफल हुये हैं।

शृंगार रस

सूरदास के वात्सल्य रस के चित्रण के बाद नवीनता, व्यापकता और रस की अनेक दशाओं के निरूपण की दृष्टि से शृङ्गार रस का स्थान है। उसका विस्तार तो वात्सल्य रस से भी अधिक है। बाल-लीला के प्रसंग को छोड़कर सारे दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में शृङ्गार-रस के ही दर्शन होते हैं।

शृङ्गार-रस गोपियों और कृष्ण एवं राधा-कृष्ण को लेकर अभिव्यक्त हुआ है। दोनों प्रेम-प्रसंगों के दो अंग हैं, संयोग तथा वियोग। गोपियों और कृष्ण के प्रेम-प्रसंग में अलौकिकता का समावेश हुआ है। कृष्ण अभी बालक ही हैं। गोपियों के मन में विकार उत्पन्न होने लगा[2]। कृष्ण का अद्भुत सौन्दर्य और उनकी बाल क्रीड़ा उनके विकार को स्थायी कर देते हैं। माखन-चोरी प्रसंग से गोपियों की प्रेम-भावना में विकास होता है। दान लीला, चोर हरण और इसी प्रकार के अन्य प्रसंग

---

१. यच्च दुखं यशोदायां—तद् दुःखं स्यान् मम क्वचित। (जो दुख यशोदा को हुआ वह दुख मुझे कब होगा)—वल्लभाचार्य।

२. मेरे हियरे माझ लगे मनमोहन ले गये मन चोरी।
अबहीं इहि मारग ह्वै निकसे छवि निरखत तृन तोरी।

इसमें सहायक होते हैं। अन्त में इस प्रेम के संयोग-पक्ष की पूर्णता रास-लीला में प्रगट होती है।

गोपियों के प्रेम के वियोग-पक्ष का चित्रण राधा के विरह-चित्रण से कहीं अधिक विस्तारपूर्वक हुआ है। उसके दो भाग किये जा सकते हैं (१) उद्धव के आने से पहिले की गोपियों की विरह दशा का वर्णन (२) उद्धव के सम्मुख गोपियों की वियोगावस्था का चित्रण (भ्रमरगीत प्रसंग)।

राधा-कृष्ण का प्रेम-पूर्ण रूप से मानवीय है; उसमें अलौकिकता को अधिक स्थान नहीं मिला है। गोपियों का व्यक्तित्व सामूहिक है इसलिये यद्यपि उनके प्रेम-प्रसंग से प्रेमानुभूति की गम्भीरता की व्यंजना भली-भाँति हुई है तथापि प्रेम के विकास का चित्रण सम्पूर्ण रूप से नहीं हो पाया। राधा के चरित्र-चित्रण के संबंध में लिखते हुये हमने राधा-कृष्ण के प्रेम की सभी अवस्थाओं पर प्रकाश डाला है। पूर्ववर्ती कवियों ने राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा कुटुम्ब के भीतर नहीं की थी। उनकी राधा कैशोर और यौवन की संधि के समय अथवा यौवन-प्राप्त-रूप में ही उपस्थित होती हैं। सूरदास की राधा का व्यक्तित्व अधिक पूर्ण है। उसमें कैशोर-चांचल्य के साथ-साथ प्रेम का विकास हुआ है। वह पुत्री और सखी के रूप में भी हमारे सामने आती है। संयोग की अवस्था में उसका स्थान अन्य गोपियों से ऊँचा रहता है। रास-लीला का प्रसंग उसी को केंद्र बना कर चलता है। गोपियाँ जानती हैं कि वे (राधा) कृष्ण के प्रेम की विशेष अधिकारिणी हैं। संयोगावस्था में राधा ने सबसे अधिक आनंद पाया है। अक्रूर के साथ कृष्ण जब मथुरा चले जाते हैं तो गोपियों की विरह-दशा का विस्तृत चित्रण होता है। राधा भी उनमें एक हैं परन्तु उनका प्रेम अन्य गोपियों की अपेक्षा अधिक गम्भीर है। इसीलिये उनकी उक्तियाँ उतनी ऊहात्मक नहीं हैं जितनी अन्य गोपियों की। वह अन्य गोपियों की तरह कृष्ण को दोष नहीं देना चाहतीं, वह अपने को ही दोषी मान लेती हैं और अपने व्यक्तित्व को कृष्ण के साथ की हुई लीलाओं में केन्द्रित

कर देती हैं। तात्पर्य्य यह है कि विरहावस्था को प्राप्त राधा और गोपियों में भेद है। भ्रमरगीत के प्रसंग में राधा को चित्रपट से हटा कर सूरदास ने यह भी व्यंजित कर दिया है कि उनका प्रेम कृष्ण के अधिक निकट है और वह अन्य गोपियों के प्रेम से अधिक गम्भीर है।

इन संयोग-वियोग की अवस्थाओं में अनेक मानसिक दशाओं के चित्रण हुये हैं। संयोग श्रृङ्गार की इतनी दशाओं का सूर के पूर्ववर्ती किसी कवि ने इतनी विशदता से वर्णन नहीं किया है यद्यपि जयदेव, विद्यापति और चण्डीदास सबों ने संयोग-श्रृङ्गार को नाना रूपों में उपस्थित किया है।

(१) नंदकुमार कहा यह कीनो।
बूझत तुमहिं कहौं धौं हमसों
दान लियो कि मन हरि लीन्हों॥
कछुक दुराव नहीं हम राख्यो
निकट तुम्हारे आई।
देते पर तुम ही अब जानौ
करनी भली दुराई॥

(२) वरतनु मनहिं विना नहिं जात।
आपु हँसि-हँसि कहत हौ जू, चतुराई की बात॥
तनहिं पर हैं मनहि राजा, जोई करे सो होइ।
कहो घर हम जाहिं कैसे, मन धर्यो तुम गोइ॥

(३) विहरत है यमुना जल श्याम।
राजत हैं दोउ वाँहा जोरी दम्पति अरु ब्रजबाम॥
कोउ ठाढ़ी जल जानु जंघ लौं कोउ कटि हृदय ग्रीव।
यह सुख वरणि सकै ऐसे को सुन्दरता की सींव॥

(४) हिंडोरना माई झूलत हैं गोपाल।
संग राधा परम सुन्दरि चहूँधा ब्रज बाल॥

(५) मान कर्‌यो तिय बिनु अपराधहिं ।
तनु दाहति बिनु काज आपनो कहत डरत जिय वादहिं ।
कहा रही मुँख मूँदि भामिनी मोहिं चूक कछु नाहीं ।
झलकि रही क्यों चतुर नागरि देखि आपनी छांहीं ॥

(६) गति सुगन्ध नृत्यति व्रज नारी ।
हाव भाव सैन नैन दै-दै रिझवति व्रज नारी ॥
पग-पग पटकि भुजनि लटकावति फंदा करनि अनूप ।
चंचल चलत झूमिये अंचल, अद्‌भुत है वह रूप ॥

दुरि निरखत अंग रूप परस्पर दोउ मनहिं मन रिझावत ।
हँसि-हँसि वदत वचन रस प्रगटत, स्वेद अंग जल भीजत ॥

वियोग-शृङ्गार के अंतर्गत भी सूरदास ने अनेक दशाओं का वर्णन किया है । उद्धव के व्रज में आने से पूर्व के वियोग-चित्रण में विरह की एकादश दशाओं का वर्णन हुआ है । बाद के प्रसंग (भ्रमरगीत) में प्रेम की अनन्य तन्मयता ही सर्वत्र प्रतिध्वनित होती है ।

(१) गोपी अति आनंद भरी ।
माखन दधि हरि खात प्रेम सो निरखति नारी खड़ी ॥
करलै, लै मुख परस करावत उपमा बड़ी सुभाई ।
मानहूँ कंज मिलत हूँ ससि को लिये सुधाकर आई ॥

(हर्ष

(२) ग्वालिन प्रगट्‌यो पूरन नेह ।
दधि भाजन सिर पर धरे कहत गुपालहिं लेहु ॥
वन वीथिन निजपुर गली जहीं तहीं हरि नाऊं ।
समुझाई समुझत नाहीं, सिख दै वियक्यों गाऊँ ॥
कौन सुनै काकै श्रवणन काकी सुरति सकोच ।
कौन निडर डर आपको को उत्तम को पोच ॥

(आवेग).

(३) करन दै लोगन को उपहास ।
मन क्रम बचन नंद नंदन को नेकु न छाड़ौं दास ॥
सब या ब्रज के लोग चिकनियाँ मेरे भाए घाँस ।
आवत तौ इहै बसी री माई नहिं मानूँगी त्रास ॥
कैसे रह्यो परै री सजनी एक गाँव के वास ।
श्याम मिलन की प्रीति सखी री जानत सूरजदास ॥
(अमर्ष)

(४) जो पै राखै हौं पहिचानि ।
तौ अब कै वह मोहन मूरति मोहिं दिखावहु आनि ॥
तुम रानी वसुदेव गेहनी हौं गँवारी ब्रज नारि ।
पैठे देहु मेरे लाल लड़ैतो वारौ ऐसी हाँसि ॥
× × ×
खान-पान परिधान राज सुख जो कोउ कोटि लड़ावै ।
तदपि सूर मेरो बारो कन्हैया माखन ही सचु पावै ॥
(दैन्य व चिन्ता)

(५) एक दिन नवनीत चोरन हौं रही दुरि जाइ ।
निरखि मम छाया भजे मैं दौरि पकरे धाइ ।
पोंछि कर मुख लिए कनियाँ तब गई रिसि भागि ।
वह सुरति जिय जाति नाहीं रह्यो छाती लागि ॥ (स्मृति)

(६) सुपने हरि आये हौ किलकी ।
नींद जो सौति भई रिपु हमको सहि न सकी रति तिलकी ॥
जो जागो तो कोऊ नाहीं रोके रहति न दिल की ।
तब फिर जानि भई नख-शिख तें दिया बाति जनु मिलकी ॥
(स्वप्न व विबोध)

(७) चलन चहति पग चलति न घर को ।
छाँड़त बनत नहीं कैसे हू मोहन सुन्दर वर को ॥
(जड़ता)

सखियन मिलि राधा घर लाई।
खहु महरि सुता अपनी को कहूँ यहि कोर खाई॥
.न आगे आवति यह पाछे धरणि परी भहराई।
शिर तें गिरी दोहनी ढ़रि कै आपु रही मुरझाई॥
श्याम भुजंग डस्यो हम देखत ल्यावहु गुनी बुलाई।
रोवत जानि कंठ लिपटानी सूर श्याम गुहराई॥

(व्याधि)

हास्यरस सूरदास ने अनेक स्थलों पर हास्यरस की सुन्दर सृष्टि की है किन्तु उनका हास्य कहीं भी स्मित हास्य से आगे नहीं बढ़ता। वह सदैव शिष्ट और मर्य्यादित रहता है।

हास्यरस के सर्व प्रथम अवतरण हमें बाल-कृष्ण और यशोदा के संबंध में मिलते हैं। सूरदास का हृदय अत्यंत सरस था। वे अनेक हास-परिहास के मौलिक प्रसंगों की कल्पना कर सके हैं जिनमें वात्सल्य रस की पुष्टि हो जाती है एवं बाल मनोविज्ञान का चित्रण हो जाता है। कृष्ण बलदाऊ द्वारा खिझाये जाने पर इस प्रकार कहते हैं—

मैया मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसों कहत मोल को लीन्हों तू यशुमति कब जायो॥
कहा कहौं एहि रिस के मारे खेलन हौं नहीं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुमरो तातु॥
गोरे नंद यशोदा गोरी, तुम कत श्याम शरीर।
चुटकी दे-दे हँसत ग्वाल सब सिखै देत बलवीर॥
तू मोहीं को मारन सीखी दाउहिं कबहुँ न खीझै।
मोहन को मुख रिस समेत लखि यशुमति सुनि-सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई, जनमत ही को धूत।
सूर श्याम मों गोधन की सौं हौं माता तू पूत॥

कृष्ण की बाल-लीला में माखन और दधि चोरी के दो प्रसंग हैं;

उनमें भी हास्य का सुन्दर विकास हुआ है। भक्त पाठक कृष्ण लीला के भेदों को जानता है और वह उन्हें चोरी से मुकरता हुआ देखकर मुसकरा देता है। गोपी यशोदा के पास जाकर कृष्ण की चोरी का उपालम्भ देती है—

मैं अपने मंदिर के कोने माखन राख्यो जानि।
सोई जाइ तुम्हारे लरिका लीनो है पहिचानि॥
बूझी ग्वालिनि घर में आयो नेकु न शंका मानि।

तो उत्तर में कृष्ण कहते हैं कि मैं तो पानी में पड़ी हुई चींटियाँ निकाल रहा था[1]। सूरदास ने कृष्ण के बाल-सुलभ उत्तरों में प्रच्छन्न रूप से हास्य की सुन्दर अवतारणा की है। कृष्ण कहते हैं—

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परे ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो।
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे घर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो।
मुख दधि पोछे कहत नंद नदन दोना पीठ दुरायो।

अथवा—

झूठेहिं मोहि लगावति ग्वारी।
खेलत में मोहिं बोलि लियो है, दे भुज भरि दीनी अँकवारी॥
मेरे कर अपने कुच धारति आपुहिं चोली फारी।
माखन आपुहिं मोहिं खवायो मैं कब दीनों ढ़ारी।
कहा जानैं मेरो बारो भारो झुकी महरि दे दे मुख गारी।

राधा-कृष्ण के प्रेम प्रसंग में भी सूरदास ने स्मितहास्य की व्यंजना अनेक स्थानों पर की है। बाबा नंद की बात का सहारा लेकर राधा-कृष्ण

---

१. (अ) सूरश्याम तब उतर बनायो चींटी काढ़त पानी।
(ब) सुनु मैया याके गुण मोसों इन मोहिं लियो बुलाई।
दधि में परी सेति की चींटी मोंपै सबै कढ़ाई॥

को रोक रखती है[1], प्रेम के कारण असावधान होकर कृष्ण-राधा की ओढ़नी ओढ़े अपने घर चले आते हैं[2]। सूरदास को हास्य-रसिकता इतनी प्रिय है कि वे स्थान-स्थान पर मौलिक कल्पना करने से नहीं चूकते। उनके इस प्रकार की मौलिक कल्पना का एक उदाहरण यह है—

मेरे आगे महरि यशोदा मैयारी तोहिं गारी दीन्ही।
वाकी बात सबै मैं जानति वै जैसी तैसी मैं चीन्ही।
तोको कही पुनि कह्यो बबा को बड़ो धूर्त वृषभानु।
तब मैं कह्यो ठग्यो कब तुमको हँसि लागी लपटान।

परन्तु हास्य-रस के सबसे अधिक उत्कृष्ट पद भ्रमरगीत में मिलते हैं। भ्रमरगीत आदि से अंत तक एक उपालम्भ काव्य है और इसलिए उसकी प्रकृति ही कुछ ऐसी है कि उसमें हास्य-रस का परिपाक भली भाँति हो सकता है। भ्रमरगीत के हास्य-रस के अनेक उत्कृष्ट पद हैं।

अद्भुत रस के प्रसंग सीधे भागवत से ले लिये गये हैं। उनमें कवि ने

अद्भुत रस

कोई विशेष मौलिक उद्भावना नहीं की है परन्तु जहाँ-जहाँ ये प्रसंग आये हैं वहाँ-वहाँ उन्होंने रस का परिपाक बड़ी निपुणता से किया है।

(१) कर गहि पग अंगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
सिव सोचत विधि बुद्धि विचारत बट बाढ़्यो सागर जल झेलत।
बिड़रि चले घन प्रलय जानि के दिगपति दिग दंतिय न सकेलत।

---

१. नंद बबा की बात सुनो हरि।
मोहिं छाँड़ि के कबहुँ जाओगे ल्याऊँगी तुमको धरि।
भली भई तुम्हें सौंप गये मोहिं जान न देहौं तुमको।
बाँह तुम्हारी नेक न छाँड़िहौं महरि खीझिहै हमको।

२. श्यामहिं देखि महरि मुसुकानी।
पीताम्बर काके घर बिसर्यो लाल ढिगन की सारी आनी।

(२) मो देखत यशुमति तेरो ढ़ोटा अब ही माटी खाई।

× × × ×

अखिल ब्रह्माण्ड खंड की माया देखरायो मुख माहीं।
सिंधु सुमेरु नदी वन पर्वत चकृत भई मनमाहीं।
करते सांटि गिरत नहिं जानी भुजा छाड़ि अकुलानी।
सूर कह्यो यशुमति मुख मूँदहु बलि गई सारंग पानी।

मुरली-प्रसंग में सूरदास ने मुरली के अलौकिक प्रभाव को दिखाकर भी अद्भुत रस की सृष्टि की है।

मुरली सुनत अचल चले।
थके चर जल भरत पाहन विफल वृच्छहि फले।
पय स्रवत गोधननि थन तें प्रेम पुलकित गात।
झुरे द्रुम अंकुरित पल्लव विटप चंचल पात॥
सुनत खग मृग मौन साध्यो चित्र किय अनुहारि।
धरनि उमँगि न माति घर मैं जती जोग विसारि॥

सूरदास ने अद्भुत रस को उत्पन्न करने के लिये उन्हीं स्थलों पर प्रयास किया है जहाँ कथानक द्वारा अद्भुत रस की सृष्टि नहीं होती और कवित्व शक्ति को प्रयोग में लाने का अवसर मिलता है। बाल-कृष्ण के असुरवध, गोवर्धनधारण, कालीदमन और इंद्र-गर्वहरन आदि प्रसंगों में कथानक से ही अद्भुत रस की सृष्टि हो जाती है। इन स्थलों में से असुरवध जैसे स्थलों पर सूर की प्रतिभा का अद्भुत रस को प्रगट करने का अधिक अवकाश नहीं मिला है। अन्य काव्यमय स्थलों पर उन्होंने अद्भुत रस का निरूपण सफलतापूर्वक किया है।

इन रसों के अतिरिक्त सूरसागर में अन्य रस भी आए हैं, पर गौण रूप से।

भयानक रस

चरन गहे अँगुठा मुख मेलत ।
उछलत सिंधु धराधर काँप्यो, कमठ पीठि अकुलाइ ।
सेस सहसफन डोलन लागे हरि पीवत जब पाइ ।
बढ्यो वृच्छवर सुर अकुलाने गगन भयो उत्पात ।
महा प्रलय के मेघ उठे करि जहाँ तहाँ आघात ।

वीर रस

(१)

सैन साजि ब्रज पर चढ़ि धावहिं ।
प्रथम बहाइ देऊँ गोवर्धन ता पाछे ब्रज खोदि बहावहिं ।
अहिरन करी अवज्ञा प्रभु की सो फल उनके तुरत देखावहिं ।
इन्द्रहि पेलि करी गिरिपूजा सलिल वरषि ब्रज नाँव मिटावहिं ।
वल समेत निशिवासर वरसहु गोकुल वोरि पताल पठावहिं ।

(२)

सुन मेघवर्तक साजि सेन ले आये ।
जलवर्त वारिवर्त पवनवर्त व्रजवर्त आगिवर्तक जलद संग ले आये ।
घहरात तरतरात गर्रात हहरात झहरात पररात माथ नाये ।
कितक ब्रज के लोग रिस करत किहि योग गिरि लियो भोग फल तुरत पैहैं ।
सूर सुरपति सुन्यो बयो जैसे लुन्यो प्रभु कहा गुन्यो गिरि सहित बैहैं ।

(३)

गह्यो कर श्याम भुज मल्ल अपने धाइ झटकि लीन्हों तुरत पटकि घरनी ।
मटक अति शब्द भयो खुटक नृप के हिये अटक प्राणन पर्‌यो चटक करनी ।
लटकि निरखन लग्यो मटक सब भूलि गयो हटकि गयो गटक सब मीचु जागी ।
मुष्टिकै मरदि चाणूर चुरकुट कर्‌यो कंस को कंप भयो उई रंगभूमि अनुराग रागी ।

इस रस का प्रसंग उस समय उपस्थित हुआ है, जब राधा व गोपियाँ कृष्ण के मथुरा से न लौटने पर निराश-सी हो जाती हैं। राधा का चित्रण विशेष करुणापूर्ण हुआ है।

करुण रस

अति मलीन वृषभानु कुमारी।
हरि श्रम जल अन्तर तनु भीजे ता लालच न धुवावति सारी।
अधोमुख रहति उरध नहिं चितवति जो गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिहुर वदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी।
हरि संदेश सुनि सहज मृतक भई इक विरहिन दूजे अलि जारी।
सूर स्याम विनु यों जीवति है ब्रज वनिता सब श्याम दुलारी।

सूरदास के रस-निरूपण पर दृष्टि डालने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने कोमल रसों के उद्‍घाटन में ही अपनी प्रतिभा का प्रयोग किया है। कृष्ण-कथा में परुष-रस-संबंधी अनेक स्थल आते हैं परन्तु सूरदास उन्हें या तो आँख की ओट करते चले जाते हैं अथवा अनमने मन से एक दो छंद उस रस के भी लिख देते हैं। रौद्र एवं वीभत्स रस के पदों को सूरसागर में से खोज निकालना कठिन काम है। जहाँ रौद्र रस की अवतारणा हो सकती थी वहाँ उन्होंने केवल क्रोध का उल्लेख मात्र करके काम चला लिया है। राम-कथा के परशुराम-संवाद और कृष्ण-कथा के शिशुपाल-वध प्रसंग में उन्होंने रौद्र रस को स्थान ही नहीं दिया यद्यपि भागवत और वाल्मीकि उनका पथ-प्रदर्शन करते थे। वीभत्स रस सौन्दर्य भावना में आघात पहुँचाता है और कदाचित् इसीलिये सौन्दर्य-स्रष्टा सूरदास की प्रकृति ने उसकी उपेक्षा कर दी।

सूर की प्रकृति कोमल थी इसीलिये वे वात्सल्य रस की इतनी उच्च कोटि की उद्भावना उपस्थित कर सके। उसमें रसिकता की मात्रा भी थी जिसने उन्हें शृङ्गार रस के विशद चित्रण और उसके अन्तर्गत अनेक दशाओं के रसपूर्ण उद्‍घाटन में सहायता की। उनकी प्रकृति में परुष

साथ वात्सल्य रस का सामंजस्य बिठाना सूरदास की मौलिकता का सबसे सुन्दर उदाहरण है।

काव्य के गुणों को हम तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं—१ वर्ण-सौन्दर्य (उच्चारण सौन्दर्य), २ रूप-सौन्दर्य (छन्द), ३ भाव-सौन्दर्य (इसके अन्तर्गत भाव, रस, विचार अथवा अर्थ आते हैं)। इनमें से पहले दो का संबंध वास्तव में पठित कविता से है, तीसरे का संबंध मोटे रूप में अर्थ से है जिसे पढ़कर भी उपलब्ध किया जा सकता है।

२ अलंकार

साधारण बात में किसी प्रकार का सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये अलंकार का प्रयोग होता है। यह बात किसी भाव, गुण (विशेषण) अथवा क्रिया के संबंध में हो सकती है[1]। १ शब्दालंकार वर्ण-सौन्दर्य को प्रस्फुटित करते हैं। रूप-सौन्दर्य में कुछ ऐसे शब्दालंकारों द्वारा कुछ थोड़ी सी विशेषता अवश्य आ जाती हैं जिनमें किसी विशेष पद अथवा उसके किसी भाग की पुनरुक्ति के साथ-साथ छंद की गति पर भी प्रभाव पड़ता है। परन्तु यों साधारणतया रूप-सौन्दर्य छंद का विषय है। २ अर्थालंकार द्वारा भाव-सौन्दर्य की पुष्टि अथवा उत्पत्ति होती है; रस और अर्थ दोनों से ही उसका संबंध है।

शब्दालंकारों में सूरदास ने यमक, अनुप्रास और वीप्सा का विशेष प्रयोग किया है।

१—यमकालंकार[2] का प्रयोग सूरदास के दृष्टिकूट संबंधी पदों में

---

१. अंगीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलंकृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलंकृती। (चंद्रालोक)
अलमर्थमलंकर्त्तुः
(महाराज भोज की अलंकार की परिभाषा)

२. किसी वाक्य में जब एक ही वर्ण समूह का भिन्न अर्थों में या कहीं कहीं बिना अर्थ के ही कई बार प्रयोग होता है तो यमक अलंकार होता है।

अधिकता से मिलता है। उसके प्रयोग से वे राधा और कृष्ण के सौन्दर्य की रहस्यात्मक व्यंजना कर सके हैं।

उदाहरण—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरि तह हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि न सोहावए हरि हरि कए उठि जागी।

अथवा—

सारंग सम कर नीक नीक सम सारंग सरस बखाने।
सारंग बस भय भय बस सारंग सारंग विसमै माने।
सारंग हेरत उर सारंग ते सारंग सुत ढिग आवै।

(अर्थ की दृष्टि से इस पद में उपमालंकार है)

२—अनुप्रास[1]।

सूर ने अनुप्रास का प्रयोग बहुत स्वाभाविक रूप से किया है। काव्य में ध्वन्यात्मक सौन्दर्य्य उत्पन्न करने के लिये अथवा वातावरण की सृष्टि करने के लिये।

(१) सौन्दर्य उत्पन्न करने के लिये

अल्प दशन कल बल कर बोलनि

(लंकार का बाहुल्य और अघोष अल्प-प्राण वर्णों का प्रयोग)

'अर बराइ कर पानि गहावत डगमगाइ धरनी धरै पइया'।
'अरबर डगमग धरधर'

(२) (क) वातावरण की सृष्टि के लिये

बरत बन बाँस थर हरत कुश काँस जरि उड़त है बाँस अति प्रबल वायो
अति अगिनि झार भार धुंधार करि उचटि अंगार झंझार छायो
बात बन पात भहरात झहरात अररात तरु महाधरणी गिरायो।
(ख) झिरकि कै नारि दै गारि गिरिधारि तब पूंछ पर लातदै अहि जगायो
उठ्यो अकुलाइ डरपाइ खगराइ को देखि बालक गर्व अति बढायो

---

१. एक ही ध्वनि को बार बार दुहराने से अनुप्रास अलंकार होता है।

पूँछ लीनी झटकि धरनि सों गहि पटकि फूँ कह्यो लटकि करि क्रोध फूले
करत फन घात विष जात अतुरात अति नीर जरि जात नहिं गात परसै।

३—वीप्सा[1] का प्रयोग भी राधा-कृष्ण के अंग-वर्णन के संबंध में हुआ है। इसके द्वारा सुन्दर वस्तु के साधारण सौन्दर्य्य के सहारे अधिक सौन्दर्य्य की व्यंजना हुई हैं।

उदाहरण—

'राजिवदल, इन्दीवर सतदल कमल कुसेसय जाति'

अथवा—

'जानु जंघ सुवरनि करभा नाहीं रम्भा तूल'

अर्थालंकार का प्रयोग शब्दालंकार से कहीं अधिक हुआ है। सूर ने सादृश्य-धर्ममूलक अलंकारों का ही प्रयोग विशेष किया है। इनमें उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, प्रतीप मुख्य हैं। विरोधमूलक अलंकारों के उदाहरण बहुत कम उपस्थित किये जा सकते हैं। इनमें विभावना और वक्रोक्ति आदि हैं। स्मृति-मूलक अलंकारों का प्रयोग विरोधमूलक अलंकारों से अधिक मिलता है। इनमें संदेह और स्मरण प्रधान हैं। इनके अतिरिक्त सूरदास के काव्य में मनोविज्ञान को महत्व पूर्ण स्थान मिलने के कारण स्वभावोक्ति अलंकार का भी प्राचुर्य्य है।

१—उपमा[2]—सूरदास की कल्पना चित्र प्रधान होने के कारण इस अलंकार का प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। सूरसागर से इसके सहस्रों उदाहरण दिये जा सकते हैं—

---

१. जहाँ पर किसी बात पर विशेष बल देने के लिए अथवा अधिक प्रभाव उत्पन्न करने के लिए शब्द की कई आवृत्तियाँ होती हैं वहाँ वीप्सा अलंकार माना जाता है।

२. जहाँ प्रकृत अर्थात् वर्णनीय विषय के किसी गुण का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये तुलना द्वारा उसको किसी अन्य प्रसिद्ध वस्तु से समानता दिखाई जाती है वहाँ उपमालंकार होता है।

चन्द्र कोटि प्रकास मुख अवतंस कोटिक भान।
कोटि मन्मथ वारि छवि पर निरखि दीजत दान।
भृकुटि कोटि कुदंड रुचि अवलोकनी संधान।
कोटि वारिज नयन वंक कटाच्छ कोटन वान।
कंबु ग्रीवा रतन हार उदार उरमनि जान।

अथवा—

बने हैं बिसाल कमल दल नैन।

अथवा—

भ्रकुटि विकट नयन अति चंचल।
यह छवि पर उपमा इक धावत।
धनुष देखि खंजन जिमि डरपत।
नाहिं सकत उडिवे अकुलावत।

अथवा—

चपल मनोहर चितवनी राजहैं भ्रुव भंग।
धनुप वान वस हारि कै, होत कोटि अनंग।

२—रूपक[1]—अलंकार भी सूर को बहुत प्रिय है। इसके एक विशेप भेद सांग रूपक[2] का प्रयोग करने में तो सूरदास तुलसी के ही समान निपुण हैं। सांग-रूपक में एक पूरा संश्लिष्ट चित्र उपस्थित किया जाता है और इस प्रकार रूप का निर्माण होता है। सूरदास की कल्पना चित्र प्रधान होने के साथ-साथ रूप-प्रधान भी है। इसीलिये उनके काव्य में अनेक उत्कृष्ट सांग-रूपक मिलते हैं। उदाहरण—

---

१. जब उपमेय और उपमान का सादृश्य इतना अधिक बढ़ जाता है कि दोनों हमको एक मालूम होने लगते हैं और उसके फल स्वरूप हम उपमेय पर उपमान का आरोप कर देते हैं तो रूपक होता है।

२. सांग रूपक में अनेक रूपक होते हैं जिनमें एक रूपक तो मुख्य रहता है और दूसरे उसके अंग-स्वरूप होते हैं।

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक बल पार न पावत, मगन होत मन नागर॥
तनु अति स्याम अगाध अंबुनिधि कटिपट पीत तरंग।
चितवत चलत अधिक रुचि उपजत भँवर परत अँग अँग॥
मीन नैन मकराकृत कुंडल भुजबल सुभग भुजंग।
मुकुत माल मिलि मानों सुरसरि द्वै सरिता लिये संग॥

अथवा—

नँद नंदन वृन्दावन चंद।
जदुकुल नभ तिथि द्वितिय देवकी प्रगटे त्रिभुवन वंद।
जठर कुहू ते बहिर बारि पति-दिसि मधुपुरी सुछंद।
वसुदेव संभु सीस धरि आने गोकुल आनँद कंद।
व्रज प्राची राका तिथि जसुमति सरद सरस ऋतु नंद।
उडगन सकल सखा संकरषन तम दनु कुलज निकंद।
गोपी जन तहँ धरि चकोर गति निरखि मेटि पल द्वंद।
सूर सुदेस कला षोडस परिपूरन परमानंद।

कृष्ण के[1] रूप-वर्णन के अतिरिक्त सूरदास ने सांग-रूपक का प्रयोग

---

१. राधा के वर्णन में भी इस प्रकार के रूपकों का प्रयोग हुआ है—
राधे तेरे नैन किधौं मृग बारे।
रहत न युगल भौंह जुग जोते भजत तिलक रथडारे।
जदपि अलक अंजन गहि बाँधे तऊ चपल गति न्यारे।
घूंघट पर बागर ज्यों चितवत जतन करत ससिहारे।
खुटिला युगल नाक मोती मनि मुक्तावलि ग्रीव हारे।
दोऊ साँवलिये दीपिका मानों करे जात उजियारे।
मुरली नाद सुनत कछु धीरज जिय जानत चुचकारे।
सूरदास प्रभु रीझि रसिक प्रिय उमंग प्रान धन वारे।
इस पद में उत्प्रेक्षा और विभावना का समावेश है। प्रथम पंक्ति में संदेहालंकार भी है।

रसोद्रेक के लिये भी किया है। यह रूपक का नया प्रयोग है। कालिन्दी को विरह-क्षीण गोपी का रूपक देकर सूरदास ने विरह की तीव्रता की अत्यन्त सुन्दर व्यंजना की है और वियोग शृङ्गार रस को सर्वोच्च शिखर पर पहुँचा दिया है—

देखियत कालिन्दी अति कारी।
कहियो पथिक ! जाय हरि सों ज्यों भई विरह जुर जारी।
मनो पलिका पै परी धरनि धँसी तरंग तलफ तनुभारी।
तट वारू उपचार चूर मनो स्वेद प्रवाह पनारी।
विगलित कच कुस कास पुलिन मनों पंकज कज्जल सारी।
भ्रमर मनो मति भ्रमत चहूँ दिसि फिरति है अंग दुखारी।
निसि दिन चकई व्याज बकत मुख किन मानहुँ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति सो गति भई हमारी।

इसके अतिरिक्त सूर ने तुलसी की भाँति ही धार्मिक विश्वासों में सामंजस्य दिखाने के लिये रूपक का प्रयोग किया है। उनके काव्य में भी 'हरिहर' पद मिलते हैं जिनमें विष्णु (कृष्ण) और शिव का चित्र एक साथ उपस्थित किये जाने की प्रणाली ही मिलती है। तुलसीदास और विद्यापति में भी इस प्रकार के पद मिलते हैं।

वरनों बाल वेष मुरारि।
थकित जित तित अमर मुनिगन नंदलाल निहारि।
केस सिर विन पवन के चहुँ दिसा छुटके झारि।
सीस पर धरे जटा मानों रूप किय त्रिपुरारि।

अथवा—

सखीरी नंद नंदन देखु।
धूरि धूसर जटा जूटनि हरि किये हर भेषु।
नील पाट पिरोइ मनिगन फनिस धोखो जाइ।
खुनखुना कर हँसत मोहन नचत डमरु बजाइ।

अथवा—

अब मोहिं भीजत क्यों न उबारो।
दीन बंधु करुनामय स्वामी जन के दुःख निवारो।
ममता घटा मोह की बूंदें सलिता मैन अपारो।
बूड़त कतहुँ थाह नहिं पावत गुरु जन ओट अधारो।

सूर ने स्वयं अपने को भी सांग-रूपक बनाकर उपस्थित किया है[1]

३—अतिशयोक्ति[2]—रूपकातिशयोक्ति[3] का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है।

(क) राधा-कृष्ण के नख शिख वर्णन में—

नँद नंदन मुख देखो माई।
खंजन मीन कुरंग भृङ्ग वारिज पर अति रुचि पाई।

(ख) मुरली के प्रभाव वर्णन में—

जब मोहन मुरली अधर धरी।
दूर गये कीर कपोत मधुप पिक सारग सुधि बिसरी॥
... विद्रुम, बिम्ब खिसान्यो दामिनि अ...।

...का रूपक—
...रूप को ... दल लोभ मोह
मरन अधिक

जलज माल गोपाल पहिरे कहौं कहा बनाइ।
मुंड माला मनोहर गर ऐसि शोभा पाइ।

इस प्रकार के पदों से यह प्रगट होता है कि उस युग में धर्म और दर्शन के सामंजस्य की एक प्रवृति चल रही थी।

जिस प्रकार दृष्टिकूट के पदों में सूरदास ने रहस्यात्मक सौन्दर्य्य की व्यंजना यमक के द्वारा की है, उसी प्रकार रूपक द्वारा भी उन्होंने सौन्दर्य्य की रहस्यमय सृष्टि की है और उसकी अलौकिकता की ओर इंगित किया है। राधा का अनुपम बाग के रूप में यह सांग-रूपक देखिये—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है, तापर सिंह करत अनुराग।
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग।
फल पर पुहुप, पुहुप पर पल्लव, तापर सुक, पिक मृगमद काग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर ता ऊपर इक मनिधर नाग।
अंग अंग प्रति और और छवि, उपमा ताको करत न त्याग।
सूरदास प्रभु, पियहु सुधारस, मानहुँ अधरनि के बड़ भाग।

परन्तु सांग रूपक का सबसे उत्कृष्ट प्रयोग दार्शनिक विचारों को स्पष्ट करने में हुआ है—

अब के माधव मोहिं उधारि।
मगन हौं भव अबु निधि में कृपा सिंधु मुरारि।
नीर अति गंभीर माया लोभ लहरि तरंग।
लिये जात अगाध जलमें गहे ग्राह अनंग।
मीन इन्द्रिय अतिहिं काटत मोट अघ सिरभार।
पग न इत उत धरन पावत उरझि मोह सेवार।
काम क्रोध समेत तृष्णा पवन अति झकझोर।

अथवा—

अब मोहिं भीजत क्यों न उबारो।
दीन बंधु करुनामय स्वामी जन के दुःख निवारो।
ममता घटा मोह की बूँदें सलिता मैन अपारो।
बूड़त कतहुँ थाह नहिं पावत गुरु जन ओट अधारो।

सूर ने स्वयं अपने को भी सांग-रूपक बनाकर उपस्थित किया है[1]।

३—अतिशयोक्ति[2]—रूपकातिशयोक्ति[3] का प्रयोग अनेक प्रकार से किया गया है।

(क) राधा-कृष्ण के नख शिख वर्णन में—

नँद नंदन मुख देखो माई।
खंजन मीन कुरंग भृङ्ग वारिज पर अति रुचि पाई।

(ख) मुरली के प्रभाव वर्णन में—

जब मोहन मुरली अधर धरी।
दूर गये कीर कपोत मधुप पिक सारंग सुधि विसरी॥
उड़पति, विद्रुम, विम्ब खिसान्यो दामिनि अधिक डरी!

---

१. (क) द्रौपदी का रूपक—

माया कपट रूप कौरव दल लोभ मोह मदभारी।
काम दुशासन गहे लाज पट मरन अधिक पति मेरी।

(ख) नर्तक का रूपक

अब हौं नाच्यो बहुत गोपाल।

२. जहाँ प्रकृत के वर्णन में अतिरंजना की जाय वहाँ अतिशयोक्ति होती है।

३. रूपकातिशयोक्ति में किसी वस्तु के रूप के संबंध में अतिशयोक्ति की जाती है। रूपक की आरोप क्रिया में ही अतिशयोक्ति उपस्थित होती है।

(ग) विरह चित्रण में—

तब ते इन सबहिन सचु पायो ।
जब ते हरि सन्देस तिहारो सुनत तवाँरो आयो ।
फूले व्याल दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो ।
फूले मिरगा चौंकि चखन ते हुते जो बन बिसरायो ।
ऊँचे बैठि विहंग सभा विच कोकिल मंगल गायो ।
निकसि कंदरा ते केहरि हू माथे पूँछ हिलायो ।
गहवर ते गजराज निकसि कै अँग अँग गर्व जनायो ।
'सूर' बहुरि ही कह राधा कै करिहौ वैरिन भायो ।

४—उत्प्रेक्षा[1]—सूर-साहित्य उत्प्रेक्षाओं से भरा पड़ा है। उपमा के बाद उत्प्रेक्षा का ही प्रयोग सबसे अधिक हुआ है। उत्प्रेक्षा उपमा से कुछ अधिक कठिन-साध्य है चूँकि उसमें उपमान और उपमेय में बल-पूर्वक संबंध स्थापित करना पड़ता है। परन्तु सूर के लिये यह साधारण बात है। सूर ने राधा-कृष्ण के नेत्रों के संबंध में सबसे अधिक उत्प्रेक्षायें की हैं। और उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है जिसमें नवीनता न हो—

(१) मुख आँसू माखन के कनिका निरखि नैन सुखदेत ।
मनु ससि स्रवत सुधानिधि मोती उडगन अवलि समेत ।।

(२) नीरे निरंजन लोचन राता ।
सिन्दुर-मण्डित (जनु) पंकज पाता ।।

(३) चंचल लोचन, वंक निहारनि,
खंजन शोभा ताय ।।
जनु इन्दीवर, पवने ठेलल, अली भरे उलटाय ।

(४) लोचन जनु थिर भृङ्ग अकार। मधुमातल किये उड़इ न पार ।।

---

१. जहाँ कल्पना द्वारा उपमेय में उपमान की बलपूर्वक सम्भावना की जाती है वहाँ उत्प्रेक्षालंकार होता है।

इसके अतिरिक्त सूर ने कृष्ण के अन्य अंगों पर भी बड़ी सुन्दर उत्प्रेक्षायें कही हैं—

(१) सुन्दर कर आनन समीप अतिराजत इहि आकार।
मनु सरोज विधु बैर बंचि करि लिये मिलत उपहार ॥
गिरि-गिरि परत वदन तें उर पर द्वै-द्वै दधिसुत विंदु।
मानहुँ सुभग सुधाकन बरषत लखि गगनांगन इंदु ॥

(२) कटि तट पीत बसन सुदेस।
मनहुँ नवघन दामिनी तजि रही सहज सुभेस ॥
कनक मनि मेखला राजत सुभग स्यामल अंग।
मनहुँ हंस रसाल पंगति नारि बालक संग ॥

५—व्यतिरेक[1]

देखि रे हरि के चंचल नैन।
राजिव दल, इन्दीवर, सतदल कमल कुसेसय जाति।
निसि मुद्रित प्रातहिं वे विकसित, ये विकसत दिन राति ॥

६—प्रतीप[2]

(१) उपमा हरि तन देखि लजाने।
कोऊ जल कोउ बन में रहे दुरि कोउ गगन समाने ॥
मुख निरखत ससि गयो अम्बर को तड़ित दसन छवि हेरो।
नील कमल कर चरन नयन उर जल में कियो बसेरो ॥

---

१. जहाँ उपमेय उपमान में से उपमेय को बढ़ा कर या उपमान को छोटा कर कहा जाय वहाँ व्यतिरेक अलंकार होता है।

२. प्रतीप अलंकार में भी उपमेय और उपमान का उसी प्रकार संबंध स्थापित किया जाता है जिस प्रकार व्यतिरेक में परन्तु उसमें सादृश्य को छिपाने की चेष्टा की जाती है जिसके कारण एक अंग दूसरे अंग के अयोग्य समझाया जाता है।

९—सन्देह[1] (सौन्दर्य्य की अलौकिकता की व्यंजना के लिये प्रयोग हुआ है)।

(१) हंसत-दसन एक सोभा उपजति उपमा जात लजाई।
किधौं ब्रज्र-कन लाल नगन खचि तापर विद्रुम पांति ॥
किधौं सुगम वंधूक सुमन पर झलकत जलकन कांति।
किधौं अरुन अंबुज बिच बैठि सुन्दरताई आइ ॥

(२) हरि मुख किधौं मोहिनी माइ।

१०—स्वभावोक्ति[2] इस अलंकार का प्रयोग कथा-वस्तु के प्रकाशन में विशेष रूप से हुआ है। बाल-लीला के सारे प्रसंग का काव्य स्वभावोक्ति मात्र है। उसमें बाल-कृष्ण तथा माता यशोदा के स्वभाव का प्रदर्शन उनकी उक्तियों द्वारा सफलता से किया गया है। स्वभावोक्ति का संबंध मनोविज्ञान से है। जहाँ-जहाँ कोई मनोवैज्ञानिक प्रसंग आया है वहाँ रस का परिपाक इसी अलंकार द्वारा हुआ है।

(१) किलकत कान्ह घुटुरुवन आवत।
मनिमय कनक नद के आंगन मुख प्रतिबिंब पकरिबे धावत ॥
कबहुँ निरखि हरि आप छाँह को पकरन को चित चाहत।
किलकि हंसत राजत द्वै दँतिया पुनि-पुनि तिह अवगाहत ॥

(२) जेंवत कान्ह नंद इक ठौरे।
कछुक खात लपटात दुहूँ कर बालक हैं अति भोरे ॥
बड़ो कौर मेलत मुख भीतर मिरिच दसन टुक टोरे।
तीछन लगी नयन भरि आये रोवत बाहर दौरे ॥
फूँकति बदन रोहिनी माता लिये लगाइ अँकोरे।

---

१. जहाँ किसी वस्तु को देखकर उसमें उसी के सादृश्य अन्य अनेक वस्तुओं का सन्देह होता है।

२. व्यक्ति अथवा पदार्थ की किसी विशेषता के स्वाभाविक वर्णन को ही स्वभावोक्ति कहते हैं।

ऊपर हम कह चुके हैं कि सूरदास ने सादृश्य-मूलक अलंकारों का ही अधिक प्रयोग किया है। उनमें उपमा, उत्प्रेक्षा और रूपक प्रधान हैं। इसके अतिरिक्त उनका स्वभावोक्ति का प्रयोग भी अद्वितीय है। सूरदास के काव्य के सहज सुगम होने का मूल कारण यही है कि उन्होंने अनेक कठिन अलंकारों का प्रयोग नहीं किया।

अलंकारों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से पता चलता है कि सादृश्य मूलक अलंकारों का जन्म पहिले हुआ। वे ही मनुष्य के लिये सबसे अधिक नैसर्गिक हैं। प्राचीन महाकाव्यों में उपमा, उत्प्रेक्षा एवं रूपक आदि इन्हीं सरल और सामान्य अलंकारों का प्रयोग हुआ है। इसी से वे प्रत्येक युग के मनुष्य को प्रभावित करते रहे हैं। सरल अलंकारों का प्रयोग सूर के काव्य को जन-साधारण के निकट जल्द पहुँचा देता है। उसका विशेष आनन्द लेने के लिये रीति का पाठ पढ़ने की आवश्यकता नहीं। स्वभावोक्ति अलंकार भी जन-साधारण को सहज है क्योंकि उसका प्रदर्शन प्रत्येक दिन के परिचित जीवन-चित्रों के निर्माण करने में होता है।

परन्तु केवल नाम और उदाहरण दे देने से ही सूरदास के अलंकारों का पूरा पूरा मूल्य आँका नहीं जा सकता। इसके लिये हमें यह भी देखना होगा कि उनके द्वारा किस प्रकार के चित्र उपस्थित होते हैं, उनसे किस प्रकार स्थिरता और गति का प्रदर्शन किया गया है, वे किस प्रकार चित्रपटी को विशाल बना देते हैं, और वे किस प्रकार अनेक प्रकार के रंगों और रूपों का मेल उपस्थित करते हैं।

उदाहरण के लिये कुछ पंक्तियाँ उपस्थित की जाती हैं—

(१) लकुटि के डर डरन जैसे सजल शोभित डोल।
नील नीरज दृग लसैं मनौं ओसकन लोल॥

(२) मुख छवि देखिहे नंदघरनि।
शरद-निशि के अंशु अगनित इन्द्र आभा हरनि॥

(३) जलज मंजुल लोल लोचन सरद चितवन दीन।
मनहुँ खेलत हैं परस्पर मकरधुज है मीन।

सूर की कविता की एक विशेषता उसकी चित्रमयता है। इसके संबंध में हम अन्यत्र विशेष रूप से कह चुके हैं। यहाँ सूरदास के द्वारा उपस्थित किए हुये रूप के विषय में विचार किया जायगा।

३ रूप सौंदर्य

कवि ने अधिकतर राधा-माधव के ही सौन्दर्य के ही संबंध में लिखा है। वही उनके उपास्य भी हैं। दूसरों से प्रयोजन ही क्या? परन्तु राधा-कृष्ण के वर्णन से सारा सूरसागर ही भरा पड़ा है।

सूर के कृष्ण सुन्दरता और सौकुमार्य के सागर[1] हैं। उनके अंगों की शोभा का वर्णन करते हुए सूरदास कहते हैं।

तरणी निरखि हरि प्रति अंग।
कोउ निरखि नख इंदु भूली कोउ चरण युग रंग।
कोउ निरखि वपु रही थकि कोउ निरखि युग जानु।
कोउ निरखि युग जंघ शोभा करति मन अनुमान।
कोउ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचि कारि।
कोउ निरखि हृद नाभि की छवि डारि मन तन वारि।
रूचिर रोमावली हरि की चारु उदर सुदेश।
मनों अलि सेनी विराजत वने एकहि भेष।
रही एक टक नारि ठाढ़ी करत बुद्धि विचार।
सूर आगम कियो नभते यमुन सूछम धार।

इस पद में हम सूर के रूप वर्णन के सभी अंगों से परिचित हो जाते हैं।

सूर का रूप-वर्णन

(१) उपमा के द्वारा,
(२) उत्प्रेक्षा के द्वारा,

---

१. देखो माई सुन्दरता को सागर।

(३) प्रभाव के चित्रण द्वारा,

और (४) साधारण वर्णन के द्वारा हमारे सामने उपस्थित होता है। जिस पद को उद्धृत किया गया है उसमें कृष्ण का सौन्दर्य विशेषतः तरुणियों पर पड़े हुए प्रभाव के द्वारा अभिव्यक्त किया गया है।

इन ढंगों के अतिरिक्त एक और ढंग का प्रयोग भी कवि करता है। निम्नलिखित पद में उसने कृष्ण के वचनों की माधुरी का वर्णन करके कृष्ण के सौन्दर्य की व्यजना की है :—

सुन्दर बोलत आवत बैन।
ना जाने तेहि समय सखीरी सब तन स्रवन की नैन।
रोम रोम में शब्द सुरति की नख सिख ज्यों चख ऐन।
एते मान बनी चंचलता सुनी न समझी सैन।
जब तकि जकि ह्वै रही चित्र-सी पल न लगत चित चैन।
सुनहु सूर यह साँच कि विभ्रम सपन किधौं दिन रैन।

इस संभ्रम की अवस्था को द्रष्टा में उपस्थित करके अथवा अंगों में देखने वाली की तन्मयता का वर्णन करने से भी रूप की उत्कृष्ट सुन्दरता की व्यंजना हो जाती है:—

(१) ऐसी दशा भई री इनकी स्याम रूप में मगन रये री।
सूरदास प्रभु अगनित सोभा ना जानौं केहि अंग छये री।

(२) जो जेहि अंग सो तहाँ भुलानी।
सूर श्याम गति काहू न जानी॥

परन्तु सूरदास के अधिकांश पदों में रूप-सौन्दर्य उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं द्वारा ही प्रगट हुआ है। वह इसलिए प्रभावशाली है कि, एक, उसमें अंग-प्रत्यंग का विस्तृत वर्णन है; दूसरे, अनेक अवस्थाओं में अनेक पदों में सहस्रों वार एक ही तरह का वर्णन है, केवल उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ बदल दी गई हैं; तीसरे, इस संबंध में सूर ने जो उपमाएँ-उत्प्रेक्षाएँ की हैं वह अत्यंत सजीव, चित्रमय और प्रभावशाली हैं। सूर-सागर के दशम स्कंध से अनेक उदाहरण लिए जा सकते हैं :—

खेलत हरि निकसे ब्रज खोरी।
कटि कछनी पीताम्बर ओढ़े हाथ लिए भौंरा चकडोरी।
मोर मुकुट कुंडल श्रवणन वर दशन दमक दामिनि छवि थोरी[1]।

कृष्ण की भाँति राधा का भी इसी प्रकार का वर्णन देखिए :—

………नयन विशाल भाल दिए रोरी।
नील वसन फरिया कटि पहिरे वेनी पीठि रुचिर झकझोरी।

परन्तु सूर जब उपमा उत्प्रेक्षाओं में राधा-माधव का वर्णन करते हैं तो वह इससे भी उत्कृष्ट सौन्दर्य की रचना करते हैं। पिछले दो पद हमने इस स्थान पर इसलिए दिए हैं जिससे आगे आने वाले पदों के साथ उनकी तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाए कि सूर चाहे साधारण वर्णन द्वारा निरलंकार भाषा में सौन्दर्य की रचना करें, चाहे उपमाओं-अलंकारों के घटाटोप से ढक कर, वह सदैव सफल होते हैं। उनके चित्र सदैव उज्ज्वल, स्पष्ट और अलौकिक-से होते हैं।

उत्प्रेक्षा द्वारा उपस्थित राधा का एक चित्र इस प्रकार है—

चरणों श्रीवृषभानु कुमारी।
चित दे सुनहु श्याम सुन्दर छवि रति वाहीं अनुहारि।
प्रथमहिं सुभग श्याम वेनी की शोभा कही विचारि।

---

१. अन्य उदाहरण।

कन्हैया हेरि दे सुभग सांवरे गात की शोभा कहत लजाऊँ।
मोरपंख सिर मुकुट की मुख मटकनि की बलि जाऊँ।
कुंडल लोल कपोलनि झांई विहसति चितहिं चुरावै।
दशन दमक मोतिन्ह सर ग्रीवा शोभा कहत न आवै।
उर पर पदिक कुसुम वनमाला अंग धुकधुकी विराजै।
चित्रित बाहु पौंचिआ पौंचे हाथ मुरलिया छाजै।
कटि पट पीत मेखला मुकुलित पाइन नूपुर सोहै।
आस पास वर ग्वाल मण्डली देखत त्रिभुवन मोहै।

मानों फनिंग रह्यो पीवन को शशि मुख सुधा निहारि।
कहिए कहा शीश सेंदुर को कितौ रही पचि हारि।
मानो अरुन किरनि दिनकर की पसरी तिमिर विहारि।
भ्रकुटी विकट निकट नैननि के राजत अति वर नारि।
मनहुँ मदन जग जीति जेरकरि राख्यो धनुष उतारि।
ता बिच बनी आइ केसरि की दीन्ही सखिन सँवारि।
मानो बंदि इंदु मंडल में रूप सुधा की पारि।
चपल नैन नासा बिच शोभा अधर सुरंग सुनारि।
मनों मध्य खंजन शुभ बैठ्यौ लुबध्यो बिंब विचारि।
तरिवन सघर अधर नक वेसरि चिबुक चारि रुचि कारि।
कंठसरी दुलरी तिलरी पर नहिं उपमा कहुँ चारि।
सुरंग गुलाब माल कुच मण्डल निरखत तन मन वारि।
मानों निशि निर्धूम अग्नि के तप बैठो त्रिपुरारि।

सूरसागर स्कंध० १०—पद ८३

दूसरा चित्र देखिए :—

प्रिय मुख देखो श्याम निहारि।

कहि न जाइ आनन की शोभा रही विचारि विचारि।
क्षीरोदक घूँघट हातो करि सन्मुख दियो उघारि।
मनो सुधाकर दुग्ध सिंधु ते कर्यो कलंक पखारि।
मुक्ता मांग शीश पर शोभित राजत दुहि आकारि।
मानों उडगन जानि नवल शशि आये करन जुहारि।
भाल लाल सेंदूर बिंद पर मृग मद दियो सुधारि।
मनो बंधूक कुसुम ऊपर अलि बैठो पंख पसारि।
चंचल नैन चहूँ दिशि चितवत युग खंजन अनुहारि।
वेसरि के मुक्ता में झाईं करन विराजत चारि।
मानों सुर गुरु शुक्र भौम शशि चमकत चंद्र मझारि।

इस प्रकार के चित्रों से सूरसागर भरा पड़ा है। रूप-सौन्दर्य की इतनी सुंदर सृष्टियाँ संसार के किसी भी महाकाव्य में विरल हैं। सूरदास को भगवान के विभिन्न रूपों से इतना प्रेम है कि वह उनकी प्रत्येक मुद्रा का विस्तृत वर्णन करते हैं और अपनी सारी सहृदयता और प्रतिभा का प्रयोग करते हैं। उन्होंने भगवान के त्रिभंगी रूप को सैकड़ों पदों में अंकित किया है। राधा-माधव के परस्पर प्रेम-प्रदान करते हुये अनेक उत्कृष्ट चित्र कदाचित् सूरदास ने इसीलिए लिखे हैं कि उनकी कल्पना नए-नए रूपों की सृष्टि करते हुये थकती नहीं। सूर की सौन्दर्यात्मक प्रवृत्ति का कारण एक कवि-आलोचक ने इस प्रकार दिया है—

"पुष्टि मार्ग का रूप बाल-कृष्ण की आराधना में होने के कारण कला-प्रियता ही पुष्टि मार्ग की कविता की प्रवृत्ति हो गई है। गीत गोविंद का कृष्ण-चित्रण भी शृङ्गार रसात्मक होने के कारण सूर की कविता पर कलात्मक प्रभाव डालता है। अकबर के राज्य काल की कला-प्रियता ने भी संभवतः सूर की सौन्दर्य की उपासना में सहायता दी हो"[१]। परन्तु यदि यह सच सिद्ध किया जा सके कि सूरदास जन्मांध नहीं थे, बाद में अंधे हो गए थे तो इसका एक मनोवैज्ञानिक कारण भी उपस्थित किया जा सकता है। अंधे सूर ने चित्रों, रूपों और रङ्गों में कृष्ण काव्य को उपस्थित करके नेत्र सुख की पूर्ति की। इसके अतिरिक्त काव्य के नायक-नायिका का विशद वर्णन वाञ्छनीय भी था। सूरदास के नायक-नायिका तो अद्वितीय थे इससे उन्होंने अपने ऊपर पुनरुक्ति का बंधन भी नहीं लादा।

उधर कृष्ण का सौन्दर्य ही ऐसा है कि उसके वर्णन का अंत ही नहीं हो सकता। प्रत्येक क्षण में उसमें नई सुन्दरता का विकास होता है—

---

१. डा० रामकुमार वर्मा : हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ६४५।

सखीरी सुंदरता को रंग।
छिन छिन माहिं निरख परियत है कमल नयन को रंग।
श्याम सुभग के ऊपर वारौं आली कोटि अनंग।
सूरदास कछु कहत न आवै गिरा भई मति पंग।

सूरदास के कृष्ण सौकुमार्य्य की मूर्ति हैं। बालक कृष्ण का वर्णन करते हुये सूरदास लिखते हैं—

अति सुकुमार डोलत अंगन ही परि काहू न जनावै हो।

इस प्रकार की सुकुमारता श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में आदि से अंत तक मिलती है। कृष्ण वयस्क हो जाते हैं परन्तु सूरदास उन्हें सुकुमार किशोर के आगे और कुछ नहीं सोचते। गोपियाँ कृष्ण के प्रेम में बंदी हो गईं और कृष्ण उनसे छेड़ छाड़ करने लगे परन्तु यशोदा के साथ सूरदास यह भी नहीं मानते हैं—

मेरो हरि कहँ दशहि बरस को तुम्हरी यौवन मद उदमाती[1]।

पुष्टिमार्ग में कृष्ण का बाल और कैशोर चरित्र ही गेय और ध्येय था, अतः सूरदास ने जीवन भर बाल-कृष्ण की उपासना की। सच तो यह है कि उनके कृष्ण आयु भर बालक रहे और वह (सूरदास) स्वयम् जीवन भर बालक बने रहे। यह प्रवृत्ति यहाँ तक बढ़ी हुई है कि कृष्ण चाणूर मुष्टिक के सामने खड़े होते हैं, तब भी वे सुकुमार बालक हैं, सयाने नहीं—

ये तो बालक अजान देखौं उनके सयान। काल यवन की सेना को नष्ट करके जब वह मुचकुन्द के सामने आते हैं तब भी उनके रूप से शौर्य्य और ऐश्वर्य के स्थान पर सुन्दरता और सुकुमारता ही फूटती है[2]।

---

१. तुम तरुणी हरि तरुण नाहिं मन अपने गुनि लेहु।
तथा अन्य पद—

२. तब पूछ्यो तुम कौन रूप हो कौन देव अवतार।
अब लौं कहूँ देखे नाहीं मैं तुम अति हो सुकुमार॥

सूरदास की कवि-प्रतिभा प्रेम, सौन्दर्य्य और सौकुमार्य के चित्रण के लिए अद्वितीय है। उन्होंने कृष्ण को अपने मन के अनुसार गढ़ा है। भागवतकार ने कृष्ण के व्यक्तित्व को किसी प्रकार ढाला हो, सूरदास को इससे कोई मतलब नहीं। उनके कृष्ण बालकों की लीला करते हैं। किशोर होने पर सखाओं के साथ लड़ते झगड़ते-खेलते-खाते हैं और उसी अवस्था में तरुण प्रेमियों की तरह गोपियों और राधा से प्रेम करते हैं पर वे किशोरावस्था से आगे नहीं बढ़ते। किशोर कृष्ण के सौन्दर्य का वर्णन करते हुये सूरदास अघाते नहीं। मध्ययुग के उपासकों, भक्तों और कवियों के सामने सूरदास ने राधा-कृष्ण के युगल-चरित्र कथा-कीर्तन और काव्य के विषय के लिए उपस्थित किये थे। सूरदास के चरित्र-चित्रण के संबंध में हम अन्यत्र विचार कर चुके हैं। परन्तु चरित्र चित्रण के साथ ही सूरदास ने अन्य अनेक प्रकार से भी राधा-कृष्ण के व्यक्तित्व को पुष्ट किया। जहाँ राधा-कृष्ण की लीला भक्तों और कवियों के लिए मनोहारिणी थी वहाँ सूरदास का उपस्थित किया हुआ उनका रूप-सौन्दर्य्य भी कम आकर्षक नहीं था। सूरदास के रूप-वर्णन ने चरित्र चित्रण को भी और विशेष रूप से पुष्ट किया। तत्पश्चात् वह स्वयं कविता का विषय बन गया। परवर्ती कवियों ने राधा-कृष्ण की रूप-माधुरी का वर्णन करते समय बार-बार सूरदास की ओर मुड़ कर देखा है। वस्तुतः सूरदास के चित्र इतने पूर्ण भी हैं कि यदि उनके नायक की लीला के संबंध में एक शब्द भी नहीं कहा जाता तो भी उनका व्यक्तित्व पुष्ट रहता। उदाहरण के लिए कृष्ण का एक चित्र इस प्रकार है—

मोहन वदन विलोकत अँखियन उपजत है अनुराग।
तरनि ताप तलफत चकोरगति पिवत पियूष पराग।
लोचन नलिन नये राजत रति पूरन मधुकर भाग।
मानहु अलि आनंद मिले मकरंद पिवत रति फाग।
भँवरि भाल भृकुटि पर कुमकुम चंदन बिंद विभाग।
चातक सोम सक्रधनु घन में निरखत मनु बैराग।

कुंचित केस मयूर चंद्रिका मंडल सुमन सुपाग।
मानहुँ मदन धनुष-सर लीन्हें बरसत है बन बाग।
अधर बिम्ब बिहसान मनोहर मोहन मुरली राग।
मानहु सुधा-पयोधि घेरि घन ब्रज पर बरसन लाग।
कुंडल मकर कपोलनि झलकत श्रम सीकर के दाग।
मानहुँ मीन मकर मिलि क्रीड़त सोभित सरद तड़ाग।
नासा-तिलक प्रसून पदवि पर चिबुक चारु चितरबाग।
दाडिम दसन मंदगति मुसकनि सोहत सुर नर नाग।

सूरसागर की अत्यन्त उत्कृष्ट विशेषता उसके पदों का गीति-माधुर्य्य है। पं० रामचन्द्र शुक्ल का कहना है कि सूरसागर अवश्य किसी प्राचीन समय से चली आती हुई लोक गीत-पद्धति का ही विकसित रूप है। हिन्दी साहित्य की भूमिका में इस बात को स्वीकार करते हुये पं० हज़ारी प्रसाद द्विवेदी ने ब्रजदेश में अपभ्रंश काल में बसने वाली आभीर जाति और उनके लौकिक-प्रेम-विषयक गीतों का उल्लेख किया है। जो हो, यह निश्चित है कि सूरदास ने पद अथवा गीति-काव्य का अन्वेषण नहीं किया। संतों, नाथ सम्प्रदाय के साधुओं और सूर के आविर्भाव के कुछ पहले मैथिल कवि विद्यापति ने पद-साहित्य को विशेष रूप से भर दिया था। पद-साहित्य के छंदों और लोक-गीतों के छंदों में असंदिग्ध समानता साफ़ दिखाई पड़ती है। अतः यह अनुमान होता है कि प्रत्येक प्रान्त के लोक-गीतों से एक प्रकार की साहित्य-छेद शैली विकसित हुई। सूर अवश्य ही अपने प्रांत के लोक-साहित्य से परिचित थे और उन्होंने अनेक लोक-छंदों का प्रयोग किया होगा। परन्तु भाषा और साहित्य की दृष्टि से उन्होंने लोक-गीतों का परिमार्जित रूप उपस्थित किया, यह उनकी विशेषता है।

४ गीति-माधुर्य्य

अब तक साहित्य में पदों का प्रयोग अधिकतः निर्गुण भक्तों की साधना को प्रकाशित करने के लिए ही हुआ था। सगुण भक्तों में

विद्यापति और उमापति ही ने उनका थोड़ा बहुत प्रयोग किया था। "उत्तर-पश्चिम भारत में कृष्ण लीला वर्णन करने के लिए सूरदास ने ही पहले पहल इनका प्रयोग किया। जो पद निर्गुण उपासना को वहन करते आ रहे थे उन्हें सगुण रस से सरस करना सूरदास का ही काम था"[१]।

पुष्टि-मार्गी सम्प्रदाय में नैमित्तिक कार्यों की प्रधानता थी और प्रत्येक कर्म के साथ गीत-वादन का संबंध था। प्रातः काल होने पर कृष्ण को जगाया जाता, उनको खिला-पिला कर वन भेज दिया जाता, दोपहर के समय कृष्ण के दर्शन नहीं, हो सकते थे। भक्त कहते—कन्हैया गोचारण के लिये वन गये हैं। फिर भिन्न ऋतुओं पर फाग आदि की व्यवस्था की जाती। ऐसे प्रत्येक अवसर पर महाप्रभु किसी भक्त-कवि को रचना करने की आज्ञा देते और वह तानपूरा छेड़ता हुआ गीत गाता। इस प्रकार अधिकांश कृष्ण-साहित्य गान के स्वरों पर लिखा गया। उसका उद्देश्य नैमित्तिक कर्मों की पूर्ति थी जिनकी सम्प्रदाय में विस्तृत व्यवस्था थी।

परन्तु भक्तों की अपनी आत्म-प्रेरणा का भी स्थान अवश्य था। पदों में गीतात्मकता की पराकाष्ठा हो जाती है और गीत आत्मा की सबसे मुक्त उड़ान है। पुष्टि-मार्गी भक्ति की परिणति तन्मयासक्ति में थी। अतः कवि स्वयम् या तो भक्ति में विभोर होकर लिखता या पद-गान करते समय उच्च श्रेणी की आसक्ति को अपने भीतर उत्पन्न करने की चेष्टा करता। इस प्रकार, उसे गान और गीति-प्रधान पदों का माध्यम ही अधिक सुगम जान पड़ता।

यह भी सम्भव है कि व्रज में कृष्ण-भक्ति-संबंधी पदों का अस्तित्व लोक गीतों के रूप में हो और भक्तों को उनसे सहारा मिला हो अथवा उनको इस रूप में जन-साधारण को पहुँचाने की प्रेरणा मिली हो। इस

---

१. सूरसाहित्य पृ० ११७

संबंध में यह ध्यान रखना होगा कि पद प्रचलित लोक-छंद थे और वल्लभाचार्य्य से गुरु-दीक्षा लेने से पहले सूरदास पद ही गाया करते थे।

सूरदास के पदों का गीति माधुर्य्य छन्द, शब्द-चयन, भाव-सौन्दर्य्य-व्यंजना और अर्थ-माधुर्य्य इन सभी काव्यांगों के मेल से सुन्दर बन सका है।

जो सूरदास को सम्पूर्ण सुबोधिनी स्फुरी सो श्री आचार्य जी महाप्रभून ने जान्यो जो लीला को अभ्यास भयो पाछे श्री सूरदास जी ने नंद महोत्सव कियो सो श्री आचार्य जी महाप्रभून के आगे गायो सो पद—

१ छंद

व्रज भयो महर के पूत जब यह बात सुनी[1]।

इसमें पूत के आगे यति का स्थान है और छन्द की गति ऐसी है कि उसमें प्रवाह उत्पन्न हो गया है। पद का पिछला चरण पहले चरण से अधिक छोटा होने के कारण एक विचित्र ध्वनि-सौन्दर्य उपस्थित करता है। चौरासी वार्ता के अनुसार सूर की गाई हुई कृष्ण-लीला का यह पहला पद है परन्तु उसका विन्यास अद्भुत है। नीचे हम कुछ पदों की गीतात्मकता को प्रगट करेंगे।

(१) माई / आजु तो बधाई बाजै / मंदिर महर के।
फूले फिरैं गोपी-ग्वाल / ठहर-ठहर के॥
फूलीं धेनु / फूले धाम / फूलीं गोपी अंग-अंग।
फिर फूले तरुवर / आनंद लहर के॥

(२) नैन सलोने श्याम हरि / कब आवहिंगे।
वै जो देखे-देखे / राते-राते / फूलन फूले डार।
हरि बिनु फूल झरी सी लागत / झरि-झरि परत अंगार।
फूल बिनन ना जाऊँ सखीरी / हरि बिनु कैसे फूल।

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता।

सुन री सखि / मोहिं राम दुहाई / लागत फूल त्रिशूल।

(गीतों के स्थायी की गति शांत है, अन्तरे की गति तीव्र है। भिन्न-भिन्न चरणों में यति की संख्या और स्थान भेद होने के कारण गीत तन्मयासक्ति को अभिव्यंजित करने के लिए उत्कृष्ट बन पड़ा है)।

भोर भयो / जागो नंद-नंद।
तात / निशि विगत भई / चकई आनंद मई / तरनि से चंद / भयो मंद।
तम चुर खग रोर / अलि करैं तब शोर / वेगि मोचन करहु शुभ मंगल कंद।

(इस गीत में भई और मई, चंद और मंद, शोर और रोर की अनुप्रास मिलाकर मध्यानुप्रास[२] की सृष्टि की गई है। एक ही पंक्ति में यति के इतने अधिक स्थान लेने एवं उनमें मध्यानुप्रास की उपस्थिति ने छंद को सागर-हिल्लोल का रूप दे दिया है शब्द जैसे हिंडोले में झूल रहे हों)।

४ शब्द चयन

"चौरासी वार्ता" पढ़ने से सूरदास के समय की ब्रजभाषा पर थोड़ा बहुत प्रकाश पड़ता है। यदि लोक-गीतों में यही भाषा प्रयोग में आती होगी तो उनमें सरसता और सहृदयता के लिए इतना स्थान न रहता होगा। "वार्ता" की भाषा को काव्योपयोगी बनाना और उसे माधुर्य से भर देना सूर का ही काम था। सूर का शब्द-चयन अद्वितीय है। उन्होंने माधुर्य को कहीं भी अपने हाथ से जाने नहीं दिया। प्रत्येक अवसर पर वह भाव और रस के प्रकाशनार्थ सबसे उपयुक्त शब्द का प्रयोग करते हैं। जैसे—

मधुकर काके **मीत भये**।
दिवस चारि की **प्रीति सगाई** रस ले अनत गए।
डहकत फिरत आपने स्वारथ पाखंड **अग्र दिये**।
चांड सरै पहिचानत नाहिन प्रीतम करत नए॥

---

२. जिसे अंग्रेज़ी में middle rhyme कहते हैं।

अथवा—

प्रेम न रुकत हमारे बूते।
किहि गयंद बांध्यो सुन मधुकर पद्म नाल के काचे सूते॥
सोवत मनसिज आनि जगायो पठै संदेश श्याम के दूते।
विरह समुद्र सुखाई कवन विधि किरचक योग अग्नि के लूते॥

७ भाव-सौन्दर्य्य

सूर के गीत सुन्दर लय छंद और सुन्दर मधुर शब्द-चयन से ही उत्कृष्ट नहीं हुये। उनकी एक विशेषता उनका भाव-सौन्दर्य्य भी है। यह भाव-सौन्दर्य पाठक और श्रोता के मन में इस प्रकार घर कर जाता है कि देखते ही बनता है। लय और शब्द-माधुर्य काव्य के वाह्यांग हैं और सूर के काव्य के अंतरंग अंग—भाव-सौन्दर्य और अर्थ व्यजना—उनके गीतों की आत्मा है। गोपियाँ ऊधो से तर्क नहीं करतीं उनके सामने कृष्ण के साथ अतीत संबंध की स्मृति खड़ी हो जाती है। वह कहती है—

एक दिवस हरि अपने हाथन कर्ण फूल पहिराए।
दे मोहन माटी के मुक्ता मधुकर हाथ पठाये॥
वेनी सुभग गुही कर अपने हाथन चरणन जावक दीनों।
कहा कहौ वा श्याम सुंदर सो निपट कठिन मन कीनों॥

यहाँ पहिले मधुर व्यवहारों की स्मृति से मधुर भाव की सृष्टि हो जाती है और अंतिम पद तक आते-आते कृष्ण की निठुरता की व्यंजना। यही सूर के काव्य की उत्कृष्टता है। अनेक काव्यांग इस प्रकार मिले हुये हैं कि उन्हें अलग करके रखना भी कठिन हो जाता है।

८ अर्थ व्यंजना

परन्तु सूर जहाँ अत्यन्त मौलिक, अत्यन्त प्रतिभाशाली दिखलाई पड़ते हैं, वह है मधुर भाव की व्यंजना। यों तो व्यंगार्थ उनके भ्रमरगीत के प्राण ही हैं, परन्तु वहाँ व्यंजना का शास्त्रीय प्रयोग हुआ है। परन्तु अन्य

भी अनेक स्थल हैं जिन्हें कवि ने अपनी प्रतिभा के कारण व्यंजना के उपयुक्त समझा है और कहीं दो एक शब्द मात्र से, कहीं सकेत मात्र से और कहीं केवल पद-ध्वनि से ही व्यंजना की सृष्टि की है। उपालंभ के भीतर प्रेम की व्यंजना करने में तो वह अद्वितीय है। गोपियाँ यशोदा को उलाहना देती हैं—

तेरो लाल मेरो माखन खायो।
दुपहर दिवस जानि घर सूनो ढूँढ़ि ढँढोरि आप ही आयो॥
खोल किवार सूने मंदिर में दूध दही सब सखन खवायो।
सीके काढ़ि खाट चढ़ि मोहन कछु खायो कछु लै ढरकायो॥
दिन प्रति हानि होत गोरस की यह ढोटा कौने ढंग ढायो।
सूरदास कहती ब्रज नारी पूत अनोखो जायो॥

इस पद में जहाँ पिछली पंक्तियों में क्रोध और उलाहना है वहाँ अंतिम पद उलाहना देने वाली की आँखों में हँसी और हृदय में प्रेम की अभिव्यंजना करता है। एक 'अनोखो' शब्द ने सारे पद का वाच्यार्थ बदल दिया है।

परन्तु कहीं-कहीं व्यंगार्थ का इतना सकेत भी नहीं किया जाता सारे पद से उसकी ध्वनि होती है। जैसे—

ब्रज घर-घर यह बात चलावत।
जसुमति को सुत करत अचगरी यमुना जल को भरन न पावत॥
श्याम बरन नटवर वपु काछे मुरली राग मलार बजावत।
कुण्डल छवि रवि किरनहुँ ते दुति मुकुट इंद्रधनु ते शोभावत॥
मानत काहु न करत अचगरी, गागर धरि भुइँ जल ढरकावत।
सूरश्याम को मात पिता दोऊ ऐसे ढंग आपुनहिं पढ़ावत॥

इस पद में वाच्यार्थ में कृष्ण की निंदा है किन्तु साथ ही उनकी शोभा का भी वर्णन किया गया है। इस प्रकार कहने के ढंग से कहने वाले के प्रेम की व्यंजना होती है और निंदा छिप सी जाती है।

सूरदास प्रधानतया वात्सल्य, बाल-क्रीड़ा, प्रेम और सौन्दर्य के कवि हैं। उनकी कविता का एक प्रधान गुण चित्रमयता है। सारे सूरसागर में सहस्रों सौन्दर्यपूर्ण चित्र अंकित किये गये हैं जिनसे एक बार परिचित होकर उन्हें भुलाया नहीं जा सकता। सूरसागर के इन सौन्दर्यपूर्ण चित्रों को हम अनेक विभागों में उनके विषय के अनुकूल बाँट सकते हैं। सूरदास चित्रों के बिना सोच ही नहीं सकते। भक्ति, भाव, रस—सभी उनके सामने चित्र, मुद्रा और भाव-भंगी धारण करके आते हैं।

३ सौन्दर्यांकन और चित्रमयता

(१) कृष्ण जन्म के समय नंद के घर गोपियों की टोली

सुनि धाईं सबै बृज नारी सहज शृङ्गार किये।
तनु पहिरै नौ तन चीर काजर नैन दिये॥
कसि कंचुकि तिलक लिलार शोभित हार हिये।
कर कंकन कंचन थार मगल साज लिये॥
शुभ श्रवणनि तरल बनाइ बेनी शिथिल गुही।
सुर वर्षत सुमन सुदेश मानों मेघ फुही॥
मुख मंडित रोरी रंग सेंदुर मांग छुही।
ते अपने-अपने मेलि निकसीं भाँति भली॥
मनु लाल मनिन की पाँति पिंजर चूरि चली।

(२) बाल-कृष्ण

हौं बलि जाउँ छबीले लाल की।
धूसरि धूरि घुटुरुवन रेंगनि बोलन बचन रसाल की॥
छिटकि रहीं चहूँ दिशि जु लटुरियाँ लटकन लटकत भाल की।
मोतिन सहित नासिका नथुनी कंठ कमल दल माल की॥
कछुकै हाथ कछू मुख माखन चितवनि नयन विशाल की।

(३) किशोर कृष्ण की क्रीड़ा

खेलत श्याम ग्वालन संग।
सुबल हलधर अरु सुदामा करत नाना रंग॥

हाथ तारी देत भाजत सबै करि-करि होड़।
बरजै हलधर श्याम तुम जिनि चोट लगि है गोड़॥
तब कह्यो मैं दौरि जानत बहुत बल मों गात।
मेरी जोरी है सुदामा हाथ मारे जात॥
बोलि तबै उठे श्री सुदामा जाहुँ तारी मारि।
आगे हरि पाछे सुदामा धर्‍यो श्याम हँकारि॥

(४) यशोदा और नवनीत प्रिय

मैया मैं नाहीं दधि खायो।
ख्याल परै ये सखा सबै मिलि मेरे मुख लपटायो॥
देखि तुही सीके पर भाजन ऊँचे धर लटकायो।
तुही निरखि नान्हें कर अपने मैं कैसे करि पायो॥
मुख दधि पोंछि कहत नंद नंदन दोना पीठ दुरायो।
डारि साट मुसकाय तबहि गहि सुत को कंठ लगायो॥

(५) नट-खट कृष्ण

नंद घरनि सुत भलो पढ़ायो।
ब्रज की बीथिनि पुरनि घरनि घर बाट घाट सब शोर मचायो॥
लरिकन मारि भजत काहू के काहू को दधि दूध मिटायो।
काहू के घर करत भड़ाई मैं ज्यों त्यों करि पकरन पायो॥

(६) बलराम, कृष्ण और यशोदा

दाऊ जी कहि श्याम पुकार्‍यो।
नीलाम्बर पट ऐंचि दियो हरि मनु बादरते चंद उतार्‍यो॥
हँसत-हँसत दोउ बाहर आये माता ले जब बदन पखार्‍यो।

(७) वर्षा में वन से लौटते हुए राधा-कृष्ण

नयो नेह नयो गेहु नयो रस नवल कुँवरि वृषभानु किशोरी।
नयो पिताम्बर नई चूनरी नई-नई बूँदनि भीजत गोरी॥
नये कुंज, नये द्रुम सुभग यमुन जल पवन हिलोरी।

(८) हिंडोला झूलने का चित्र

हिंडोरनो माई झूलत गोकुल चंद।
संग राधा परम सुंदरि सबन करत अनंद॥
द्वै खंभ कंचन के मनोहर रतन जड़ित सुरंग।
चारि डाँडी परम सुंदरि निरखि सजत अनंग॥
पटली पिरोजा लाल लटकत झूमका बहु रंग।
मरुवेति माणिक चुनी लागी बिच-बिच हीरा तरंग॥
कल्पद्रुम तरु छाँह शीतल मंद-मंद समीर।
वर लता लटकहिं भार कुसुमनि परसि यमुना नीर॥
हंस मोर चकोर चातक कोकिला अलि कीर।
नव नेह नवल किशोर राधा नवल गिरिधर धीर॥
ललिता विशाखा देहि झोटा रीझि अँग न समाति।
अति लाड़ली सुकुमारि डरपति श्याम तन लपटाति॥

(९) विरही-व्रज

व्रज के विरही लोग दुखारे।
विन गोपाल ठगे से ठाढ़े अति दुर्बल तन कारे।
नंद यशोदा मारग जोवत नित उठि सांझ सवारे।
चहुँ दिशि कान्ह कान्ह करि टेरत अँसुवन बहत पनारे।
गोपी गाइ ग्वाल गोसुत सब अति ही दीन विचारे।
सूरदास प्रभु विन यों शोभित चंद्र बिना ज्यों तारे।

(१०) विरहिणी राधा

हरि आये सो भली कीन्हीं।
मोहि देखत कहि उठी राधिका अक तिमिर को दीन्हीं।
तनु अति कँपति विरह अति व्याकुल उर धुकधुकी खेद कीनी।
चलत चरण गहि रही गई गिरि स्वेद सलिल भये भीनी।
छूटी लट भुज फूटी वलिया टूटी लर फटी कंचुकी झीनी।
मानों प्रेम के परन परेवा याही ते पढ़ि लीनी।

ऊपर के अवतरण कृष्ण-लीला के अनेक प्रसंगों से लिए गये हैं। इन प्रसंगों में कृष्ण-जन्म से लेकर गोपियों के विरह तक की लीलाओं के चुने हुये चित्र मिलते हैं। इनमें अनेक रसों का विकास हुआ है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि सूर की तूलिका प्रत्येक प्रसंग और प्रत्येक रस पर समान अधिकार रखती है। सूरदास का विषय कृष्ण-लीला है। लीला नेत्रों का विषय है। उसको केवल रंग-रूप और चित्र से ही उपस्थित किया जा सकता है। यही कारण है कि सूरसागर एक विशाल चित्र-काव्य है। सूरसागर में कथा की विविधता अधिक नहीं है परन्तु यह बात एक प्रकार से सूरदास के लिये वरदान हो गई है। उन्हें चरित्र-चित्रण और चरित्रों के विकास का उतना ध्यान नहीं रखना पड़ा जितना उस समय रखना पड़ता जब उसमें कथा प्रधान होती और उन्हें उसके अनेक अंगों को विकसित करना पड़ता। सूरदास अत्यंत संतोष के साथ एक ही लीला पर सैकड़ों बार तूलिका चलाते रहे हैं। हाँ! उन्हें यह अवश्य ध्यान है कि उनके दो चित्र एक से न हो जायँ। उन्होंने अपने चित्रों में अत्यन्त सूक्ष्म भेद रक्खा है। पाठक के लिये वे कभी नीरस अथवा अति-परिचित नहीं हो पाते। उनकी नवीनता सदैव बनी रहती है।

सूर के चित्रों का अध्ययन करने के बाद हम उनके संबंध में कुछ सामान्य सिद्धान्त स्थिर कर सकते हैं।

(१) सूरदास की सबसे बड़ी सहायक उनकी कल्पना है। उनकी कल्पना चित्र-प्रधान है। कह देने पर इस बात का महत्व समझ में नहीं आ सकता। सूरसागर में कुछ इने-गिने पद ही ऐसे मिलेंगे जिनसे किसी प्रकार का स्पष्ट-अस्पष्ट अथवा परोक्ष-अपरोक्ष चित्र न बनता हो। हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई भी कवि नहीं है जिसे चित्र इतने प्रिय हों अथवा जिसकी कल्पना इतनी संख्या में इतने विभिन्न चित्र उद्भूत कर सकती हो।

सूर की कल्पना चित्रों को रूप-रंग और भाव-भङ्गी देकर उनके मस्तिष्क के सामने उपस्थित करती है। प्रत्येक रूप स्पष्ट और बड़े आकार में उनके सामने आता है। उसका प्रत्येक अंग जैसे उनके सामने

प्रत्यक्ष हो। राधा-कृष्ण के रूप-सौन्दर्य पर विचार करते हुये हमने जो अवतरण दिये हैं उनसे सूर के चित्रों के रूप की विशेषता प्रगट हो जायगी। वल्लभ सम्प्रदाय में रूपासक्ति का बड़ा महत्व था। आचार्य ने उसे भी एक प्रकार की साधना कहा है। यही कारण है कि सूरदास और अष्टछाप के अन्य कवि राधा-कृष्ण के रूप-माधुर्य का वर्णन करते हुए नहीं अघाते। उनके साहित्य को पढ़ने से ऐसा लगता है जैसे वे अपने इष्टदेव को अपने सामने अनेक मुद्राओं और भाव-भङ्गियों में रख कर उसकी रूप-छवि को मन में भर रहे हों। यह उनकी सहज साधना है। कृष्ण का त्रिभंगी रूप तो वल्लभ सम्प्रदाय में अत्यन्त मान्य है। उससे प्रभावित होकर परवर्ती काल के शृङ्गारिक कवियों ने भी अनेक सूक्तियाँ कही हैं। राजपूत चित्रकला में कृष्ण की त्रिभंगी छवि के चित्रों की संख्या बहुत अधिक है।

रंग भी सूर के लिए अत्यन्त सहज हैं। उन्होंने अधिकतः अत्यन्त चटकीले रंगों का वर्णन किया है। रोरी, सेंदुर, कंचन, मानिक, पीताम्बर, कालिन्दी का श्यामल नील रंग—अपने चित्रों के निर्माण में इनका बार बार प्रयोग करते हैं। श्यामल, नीला, पीला व लाल रंग उन्हें अधिक प्रिय हैं। रंगों की इसी विभिन्नता और प्रचुरता को देखकर सूरदास के आलोचक यह मानने के लिये तैयार नहीं कि वे जन्मांध थे। सूर के सभी चित्रों में रंग मिले, यह आवश्यक नहीं। उनके अनेक चित्र रंगहीन हैं परन्तु उनकी रूपरेखा अधिक स्पष्ट होने के कारण वह भी हमारे सामने उजले होकर आते हैं।

सूर की कल्पना पद पद पर अनेक मुद्राओं और भाव-भंगियों की सृष्टि करती है। इनमें कुछ भाव-भङ्गियाँ स्पष्ट रूप से अंकित मिलती हैं और कुछ की वार्तालाप अथवा प्रसंग से व्यंजना की गई है। इसी गुण के कारण सूर के यशोदा-कृष्ण अथवा राधा-कृष्ण की संयोग-लीला के प्रसंगों में उच्च श्रेणी की नाटकीयता को स्थान मिल सका है।

(२) चित्रांकन में सूर का दूसरा सहारा उनका मनोविज्ञान संबंधी

ज्ञान है। चित्रकला में रूपों और रंगो के द्वारा चित्र उपस्थित करने का स्थान निम्नश्रेणी में है। वे चित्र अधिक उत्कृष्ट माने जाते हैं जिनमें रूप और रंग के साथ भाव-सौन्दर्य का भी प्रकाशन हो। रूप-रंगहीन होने पर भी भाव-चित्र ही अधिक उच्च श्रेणी के माने जाते हैं। भाव-चित्रों के अंकन में मनोविज्ञान का विशेष हाथ रहता है। हमने ऊपर यशोदा और नवनीत प्रिय का एक चित्र उद्धृत किया है। यह सारा चित्र भाव-चित्र है। बाल-मनोविज्ञान और मातृ-हृदय के अध्ययन द्वारा सूरदास ने जो चित्र उपस्थित किया है, उसे उत्कृष्ट से उत्कृष्ट चित्रकार की तूलिका प्रगट नहीं कर सकती। सूरदास ने अंतिम पंक्ति में यशोदा के मुसकाने का निर्देश करके सारे चित्र पर वात्सल्य की छाया डाल दी। यह भी ध्यान देने योग्य है कि कृष्ण की उक्ति इस चित्र की वीथिका उपस्थित करती है।

(३) सूरदास के चित्रांकन में भाषा ने भी सहायता दी है। उन्होंने अनुप्रास (व्यंजनों की पुनरावृत्ति) और दीर्घ लघु स्वरों के स्थान-वैषम्य द्वारा अपने वर्णन में चित्रमय सजीवता डाल दी है। प्रसंग के अनुसार कोमल और परुष शब्दावली चुनने के लिए तो वह अद्वितीय हैं। उनके छंदों तथा उनके विविध आवर्तों की क्षिप्र, मंद गति ने चित्रों को स्पष्ट करने में सहायता दी है।

विहरत हैं जमुना जल श्याम।
राजत हैं दोऊ बाहीं जोरी दंपति अरु ब्रज बाम।

× × × ×

नटवर वेष धरे ब्रज आवत।
मोर मुकुट / मकराकृत कुण्डल / कुटिल अलक / मुख पर छवि छावत।

× × × ×

देखी मैं लोचन चुवत अचेत।
द्वार खड़ी इकटक मग जोवत ऊरध श्वास न लेत।

× × × ×

ठुमुक ठुमुक घरनी घर रेंगत जननी देखि दिखावें।

इसके अतिरिक्त सूर के चित्रों की यह विशेषता है कि उनका अत्यन्त सूक्ष्म है। जहाँ उन्हें व्यंजना करना नहीं है वहाँ वे प्रत्ये का वर्णन अत्यन्त विस्तार से करते हैं। इससे उनके चित्र हमारे खुल कर आते हैं। सूरदास स्थिर चित्र और चल चित्र—दोनों ... के चित्रों के अंकन में कुशल हैं। स्थिर चित्र राधा-कृष्ण के रूप-वर्णन और भ्रमरगीत के प्रसंग में मिलते हैं, अन्य चित्र अधिकांश रूप से चल चित्र हैं।

परन्तु सूरदास ने केवल चित्रों के द्वारा ही चित्रांकन किया हो यह बात नहीं। सौन्दर्य नेत्रों का विषय है किन्तु अन्य इन्द्रियों के विषय भी चित्र-सौन्दर्य को बढ़ाने में सहायता देते हैं और कहीं-कहीं उसकी पूर्णतः व्यंजना करते हैं। नीचे हम एक ऐसा चित्र उपस्थित करते हैं। जिसमें केवल नाद सौन्दर्य के द्वारा रूप सौन्दर्य की व्यंजना की गई है।

सुदर बोलत आवत बैन।
ना जानों तेहि समय सखीरी सब तन स्रवन की नैन।
रोम रोम में सब्द सुरति की नख सिख ज्यों चख ऐन।
एते मान बनी चंचलता सुनी न समुझी सैन।
तब तकि जकि ह्वै रही चित्र सी पल न लगत चित चैन।
सुनो सूर यह साँच कि संभ्रम सपन किधौं दिनरैन।

कुछ पदों में उन्होंने कृष्ण के अलौकिक सुन्दरता को इस प्रकार व्यंजित किया है कि हम विश्लेषण के द्वारा यह भी नहीं बता सकते कि सुंदरता कहाँ और कैसे व्यंजित हुई। इस प्रकार का एक पद है—

सखी री सुंदरता को रंग।
छिन छिन माँहि निरख परियत है कमल नयन के अंग।
स्याम सुभग के ऊपर वारों आली कोटि अनंग।
सूरदास कछु कहत न आवे गिरा भई मतिपंग।

'चौरासी वार्ता' की भाषा को सुरसागर की भाषा के सामने रखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास ने इस क्षेत्र

१० सूर की भाषा

में मौलिकता का प्रदर्शन किया है। इस पुस्तक के पहले अध्याय में 'चौरासी वार्ता' में दी हुई सूरदास की कथा उद्धृत की गई है। जिस भाषा-शैली का इस ग्रंथ में प्रयोग किया गया है वह किसी भी प्रकार काव्य के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। उसमें एक छोटे से अर्थ को प्रगट करने के लिये अनेक वाक्यों का प्रयोग हुआ है। वाक्य इतने ढीले हैं कि उनमें किसी प्रकार का सौष्ठव नहीं दिखाई पड़ता। उनका संगठन साधारण कथाकारों के वाक्यों ऐसा है। वास्तव में वार्ता का गद्य प्रत्येक प्रकार से असफल है। नमूने के लिये कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं।

"सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी को स्थल हूतो, सो सूरदास जो स्वामी हैं आप सेवक करते, सूरदास जी भगवदीय है गान बहुत आछो करते ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते सो श्री आचार्य जी महाप्रभू गऊघाट ऊपर उतरे सो सूरदास जी के सेवक देख के सूरदास जी सों जाय कही जो आज श्री आचार्य जो महाप्रभू आप पधारे हैं जिनके दक्षिण में दिग्विजय कियो है सब पंडितन को जीते हैं सो श्री वल्लभाचार्य जी यहाँ पधारे हैं"

वह भाषा उस ग्रंथ की है जो सूरदास की रचना के बाद लिखा गया। सूरदास ने उस भाषा को अपनी प्रतिभा की स्पर्श-मणि से छूकर जो कुछ बना दिया वह नीचे के पदों से स्पष्ट हो जायगा :—

(१) चलौ किन मानिन कुंज कुटीर।

तुव विन कुँवर कोटि वनिता तजि सहत मदन की पीर।
गद्गद् सुर पुलकित विरहानल नैन विलोकत नीर।
कासि कासि वृषभानु कुमारी विलपत विपिन अधीर।
मलयज गरल हुतासन मारुत शाखा मृग रिपु वीर।
हिय में हरषि प्रेम अति आतुर-चतुर चलहु पिय तीर।

(२) नवेली सुन नवल पिया नव निकुंज हेरी।
भावते लाल सो भावती केलि करि भावती भावतो रसिक रस लेरी।

(३) छवीले मुरली नेकु बजाउ।
बलि बलि जात सखा यह कहि कहि अधर सुधारस प्याउ।
दुर्लभ जन्म, दुर्लभ वृंदावन, दुर्लभ प्रेम तरंग।
ना जानिये बहुरि कब ह्वै है श्याम तुम्हारो संग।

(४) खेलन अब मेरी जात वलैया।
जबहिं मोहिं देखत लरिकन संग तबहि खिजत बलभैया।
मोसो कहत तात वसुदेव को देवकी तेरी मैया।
मोल लियो कछु दै वसुदेव को करि करि जतन बढ़ैया।
अब बाबा कहि कहत नंद सों यशुमति को कहै मैया।
ऐसे ही कहि सब मोहि खिझावत हौं उठि चलौ खिसैया।

(५) कहाँ लौ कहिये ब्रज की बात।
सुनहु श्याम तुम विनु उन लोगइ जैसे दिवस विहात।
गोपी गाई ग्वाल गोसुत वै मलिन वदन कृश गात।
परमदीन जनु शिशिर हिमीहत अंबुज गन विन पात।
जाकहुँ आवत देखि दूर ते सब पूँछत कुशलात।

ऊपर के अवतरणों से कई बातें प्रगट होती हैं—

एक—सूरदास की भाषा 'वार्ता' की भाषा की तुलना में अत्यन्त सुन्दर, मधुर एवं आकर्षक है।

दो—उसमें रसों को प्रस्फुटित करने की शक्ति है। ऊपर के पद वात्सल्य, वाल-क्रीड़ा एवं शृङ्गार से संबंध रखते हैं। प्रत्येक पद की भाषा अन्य पदों की भाषा से अनेक बातों में समानता रखती हुई भी कुछ भिन्न है। वास्तव में रसानुकूल भाषा लिखने में सूरदास सिद्धहस्त हैं।

तीन—सूर की भाषा में वाच्यार्थ के अतिरिक्त-व्यंगार्थ भी भली-भाँति

प्रगट हो जाता है। उसी के सहारे सूरदास अनेक सूक्ष्म मनो-भावों को व्यंजित कर सके हैं।

चार—उनकी भाषा भाव की अनुयायी है उसमें राग-विराग, प्रेम प्रतीति और भजन-भाव अच्छी तरह प्रगट हो सकते हैं।

यह तो हुई सूर की भाषा के संबंध में सामान्य बातें अब हम विशेष रूप से उनकी भाषा का अध्ययन करेंगे।

सूरदास के तीन रूप हमारे सामने आते हैं। वे भक्त हैं, वे भक्त तथा कवि हैं और अन्त में कथा-गायक हैं। उनकी भाषा भी इन तीनों स्वरूपों में बदली हुई आती है। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के कुछ भागों और विनय के पदों को छोड़ कर अन्य सारी कथाओं में सूरदास के कथा-गायक रूप का हमें परिचय मिलता है। इन कथाओं की भाषा में न प्रवाह है न शक्ति। ऐसा जान पड़ता है कि सूरदास प्रबंध पूरा करने के लिये एक बोझ स्वीकार कर बैठे हैं तथा अनमने मन से उसे शीघ्र ही उतार डालना चाहते हैं। इन समस्त पदों में उनकी कवित्व शक्ति तथा उनके भक्त-हृदय के कहीं भी दर्शन नहीं होते। यह भाषा 'वार्ता' के कोटि की है। राजा परीक्षित की कथा इस प्रकार लिखी गई है—

भारत युद्ध जीतत जब भयो।
दुर्योधन अकेल तहँ रह्यो।
अश्वत्थामा तापै जाई।
ऐसी भाँति कह्यो समुझाई।
हमसों तुमसों बाल मिताई।
हमसों कछु न भई भलाई।
अब जो आज्ञा मोको होई।
छाँड़ि विलम्ब करों अब सोई।
राज्य गयो को दुःख न सोई।

पाण्डव राजा भयो जो होई।
उनके मुये हीय सुख होई।
जो करि सको करो अब सोई।
हरि सर्वज्ञ बात यह जान।
पाण्डुसुतनि सो कह्यो बखान।

इस अवतरण में भाषा की दृष्टि से कोई काव्यगत विशेषता नहीं है। कथा-गायक सूर का ध्येय केवल वर्णनात्मक-प्रबंधात्मकता है। उसमें उनकी रुचि नहीं। अतः भाषा का रूप गौण और हीन है। सूर की भाषा का दूसरा रूप वह है जिनमें उनके भक्त हृदय के दर्शन होते हैं। हमारा तात्पर्य सूर के विनय के पदों की भाषा से है। इस स्थान पर अलंकारों का प्रयोग अधिक नहीं हुआ है। यदि अलंकारों का प्रयोग कहीं किया भी गया है तो दृष्टान्त और उदाहरण का। विनय के पदों की भाषा में प्रवाह तथा आत्मानुभूति की तीव्रता के कारण उसमें सरलता के साथ शक्ति का भी सामंजस्य हो गया है। इसी से उनके ये पद प्रत्यंचा से छुटे हुये तीर की तरह हृदय में सीधे उतर जाते हैं।

इन पदों की भाषा अपने साथ एक शांत और भक्ति पूर्ण वातावरण की सृष्टि करती चलती है। सूर की इस प्रकार की भाषा की तुलना संत-कवियों की भाषा से की जा सकती है।

१. अबकी राखि लाज भगवान।

हम अनाथ बैठे द्रुम डरिया पारधि साधे बान।
याके डर भाज्यो चाहत हौं ऊपर ढुक्यो सचान।
दुऊ भाँति दुख भयो आनि यह कौन उबारे प्रान।

२. अब हौं नाच्यौं बहुत गोपाल।

काम क्रोध को पहिरि चोलना कंठ विषय की माल।
महा मोह की नूपुर बाजत, निंदा शब्द रसाल।
भरम भरो मन भयो पखावज, चलत कुसंगति चाल।

इन सब पदों में आत्म-निवेदन की मात्रा अत्यंत गहरी है। उसी ने इस अलंकार-विहीन काव्य को उज्ज्वल बना दिया है।

परन्तु सूरदास की भाषा का चमत्कारी रूप देखना हो तो उनके द्वारा कही हुई कृष्ण की व्रज-लीला में देखिये। वहाँ पर वे सब गुण मिलेंगे जिनका उल्लेख हमने अध्याय के प्रारम्भ में किया है। उसमें भी जहाँ प्रेम का प्रसंग आता है वहाँ सूरदास की भाषा की चमत्कारिकता और अधिक बढ़ जाती है वहाँ सूरदास प्रधानतया कवि हैं यद्यपि परोक्ष में गौण रूप से वे भक्त भी हैं। इस प्रकार की भाषा में काव्य के अंगों का प्रयोग इतनी अधिकता से हुआ है कि सूरदास की प्रतिभा पर मुग्ध हो जाना पड़ता है। यह भाषा अलंकार और ध्वनि से पुष्ट है। रूपक, उत्प्रेक्षा, यमक और उपमा की भीड़ लगी रहती है। सूरदास एक ही विषय पर बीसों पद कहते हुए नहीं थकते। उनका कोष शेष नहीं हो पाता। यह सूरदास की भाषा का ही गुण है कि एक ही लीला पर अनेक पद होते हुये भी पाठक को अरुचि नहीं होती। सूरदास का काव्य बहुत बृहत् है। वह कहीं भी नीरस नहीं हो पाया है।

९

सूर की भक्ति

सूर की भक्ति अनन्य कोटि की भक्ति है। सारे सूरसागर के अध्ययन से ही इस मूल बात का पता नहीं चलता वरन् फुटकर पदों में उन्होंने कृष्ण के प्रति आपकी अनन्य भक्ति को स्वीकार किया है—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज़ को पक्षी फिर जहाज़ पर आवै॥
कमल नयन को छांड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छांड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुजरस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै[1]॥

सूरदास में दशम स्कंध तक की कथा में भगवान के नव अवतारों की कथा का वर्णन है। रामावतार को छोड़कर अन्य अवतारों की कथा अत्यन्त संक्षेप में कही गई हैं। उनमें सूरदास की वृत्ति रमी नहीं जान पड़ती। उन्होंने जैसे भागवतकार का अनुसरण करके प्रथा का पालन किया है। रामावतार कुछ विस्तार से कहा गया है। परन्तु उसमें भी उस सूझ, सरसता और मौलिकता के दर्शन नहीं होते जो उनकी कृष्ण-कथा की विशेषता है। यह हम पहिले ही दिखा चुके हैं कि सूरदास राम-कृष्ण में अधिक अंतर भी नहीं देखते। परन्तु फिर भी अनन्य भक्त-सूर को कृष्ण से विशेष मोह है।

इस भक्ति की गहराई का अनुमान सूर के निम्नलिखित पद से हो जाता है—

---

१. सूरसागर स्कं० १ पद १०७

तुम्हारी भक्ति हमारे प्रान।

छूटि गये कैसे जन जीवत ज्यों पानी बिन प्रान॥
जैसे मगन नाद सुनि सारँग बधत बधिक तनु बान।
ज्यों चितवै शशि-ओर चकोरी देखत ही सुख मान॥
जैसे कमल होत परिफूलित देखत दरशन भान।
सूरदास प्रभु हरि गुण मीठे नितप्रति सुनियत कान[१]॥

भक्ति के नौ प्रकार हैं जो नवधा भक्ति कहलाते हैं। ये इस प्रकार हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण-सेवन, अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्म-निवेदन। इनमें सूर की भक्ति किस प्रकार की है? इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए हमें तनिक ठहरना होगा। वस्तुतः ये नव प्रकार भक्त के भगवान की ओर अग्रसर होने के नव चरण हैं। इनके द्वारा भक्त और भगवान के संबंध में क्रमिक विकास दिखलाया गया है। इन प्रकार-भेदों को मानने से भक्ति का कोई भी विशेष गुण सामने नहीं आता। सच तो यह है कि भक्ति का कोई भी प्रकार नहीं। उसके लिए केवल एक गुण की आवश्यकता है—भक्त एकाग्र चित्त से अपने भगवान के प्रति अनन्य प्रेम करे। हम पहले बता चुके हैं कि सूर की भक्ति अनन्यासक्ति की कोटि की है। इसी कारण उनके पदों में इतनी तीव्र विरह-संवेदना की अभिव्यक्ति हो सकी है—

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पच्छी फिरि जहाज पर आवै।

अथवा—

तुम्हरी भक्ति हमारे प्राण।

अथवा—

हमें नंद नदन मोल लिए।

---

१. सूरसागर स्कं० १ पद १०६

आदि पदों से सूरदास का अनन्य-भक्ति भाव स्पष्ट हो जाता है। परन्तु फिर भी यदि हमें सूरदास की भक्ति को शास्त्रीय दृष्टिकोण से देखना है तो हम उसे विनय और सख्य दो नामों से पुकारेंगे।

सूरदास की विनय-भक्ति के पद सूरसागर के स्कंध १ में संगृहीत हैं

१. विनय-भक्ति वल्लभाचार्य द्वारा पुष्टिमार्ग में दीक्षित होने से पहले जब सूरदास गऊघाट पर रहते थे तब वे यही भक्ति के पद बनाया करते थे और उन्हें गाते भी थे। इन विनय के पदों में निम्नलिखित भावों की पुष्टि होती है।

(क) प्रपत्ति अथवा अनुकूल होने का संकल्प (दास्य भाव)

रे मन कृस्न नाम कहि लीजै।
गुरु के वचन अटल करि मानों साधु समागम कीजै॥
पढ़िये गुनिये भगति भागवत और कहा कथि कीजै।
कृस्न नाम बिनु जनम वादि ही वृथा जीवन कहा जीजै॥
कृस्न नाम रस बह्यो जात है तृसावंत ह्वै पीजै।
'सूरदास' हरिसरन ताकिये जनम सफल करि लीजै॥

(ख) 'प्रतिकूलस्य वर्जनम्' ('भगवदेच्छा के प्रतिकूल कुछ न करूँगा'—ऐसा भाव)

रे बौरे छाँड़ि विषय को रचिबो।
कत तू सुआ होत सेंवर को अंत कपासन पचिबो॥
कनक कामिनी अनंग तरंगन हाथ रहैगो लचिबो।
तजि अभिमान कृस्न कहि बौरे न नरक ज्वाला तचिबो॥
सद्गुरु कह्यो कह्यों हौं तासों कृस्न रतन धन सचिबो।
सूरदास स्वामी सुमिरन बिनु जोगी कपि ज्यों रचिबो॥

(ग) रक्षिष्यतीति विश्वासो (भगवान की रक्षा में विश्वास)

अब मैं नाच्यो बहुत गोपाल।
काम क्रोध को पहिरि चोलनो कंठ विषय की माल।
महा मोह के नूपुर बाजत निंदा शब्द रसाल॥
× × × ×
सूरदास की सबै अविद्या दूरि करहु नंद लाल।

अथवा—

हरि सों ठाकुर और न जन को।
या हरि सों मीत न देख्यो कोई।

(घ) गोप्तृत्वा वर्णनम् (भगवान को मुक्ति-दाता और भक्त-वत्सल जानना)

चरण कमल वंदौ हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै अँधरे को सब कछु दरसाई।
बहिरो सुनै मूक पुनि बोलै रंक चले सिर छत्र धराई।

अथवा—

हम भक्तन के भक्त हमारे (भगवान-वचन)
या हमारे भक्त वछल भगवान॥

(ङ) आत्मनिक्षेप (समर्पण भाव)

हमें नंद-नंदन मोल लिए।
यम की फाँसि काटि अभय अगात किए।
मूड़ मुड़ाय कण्ठ वन माला चक्र के चिन्ह दिये॥
माथे तिलक श्रवण तुलसी दल मटिवउ अंग विये।
सब कोउ कहत गुलाम श्याम के सुनत सिरात हिये।
सूरदास प्रभू जू के चेरे जूठन खाय जिए॥

(च) कार्पण्य (भगवान के प्रति दीनता का भाव)

विनती करत मरत हौं लाज।
नख सिख लौं मेरी यह देही है पाप की जहाज॥

अथवा—

कृपा अब कीजिए बलि जाऊँ।
नाहिन मेरे अनत कहूँ अब पद अम्बुज बिनु ठाऊँ॥
हौं अशुची अकृती अपराधी सनमुख होत लजाऊँ।
तुम कृपाल करुनानिधि केशव अधम उधारन नाऊँ॥

इस कार्पण्य (दीनता) की भावना का उदय भक्त के पापबोध के कारण होता है।

प्रभु हम हौं पतितन कौ टीकौ।
और पतित सब द्यौस चारि को हौं तो जनमत ही कौ॥

पाप-बोध और कार्पण्य की इसी भावना के उपस्थित होने के कारण ईसाई-आलोचक भक्तों के दास्य-भाव और मध्ययुग के ईसाई मर्मियों के दास्य भाव में साम्य देखकर यह कहने लगे थे कि भक्तों पर ईसाई-मर्मियों की छाप अवश्य है। परन्तु जहाँ ईसाई मर्मी और संत पाप को मनुष्य-स्वभावज और आन्तरिक मानते हैं, वहाँ भक्त-कवि पाप को स्वभावज नहीं मानते। उनके लिए पाप स्वाभाविक वस्तु नहीं है। वह तो माया का ही एक विस्तार है, अतएव असत्य, नाशवान और वैयक्तिक है। उनकी पाप-भावना उनकी दीनता के ही कारण उत्पन्न होती है जिसके मूल में अनन्य भक्ति की भावना है। सूरदास की पाप भावना ईसाई-संतों की पाप-भावना की तरह स्थूल नहीं वरन् सूक्ष्म है। ईसाई-भक्त भगवान के ऐश्वर्य से स्तब्ध होकर उनकी दासता की ओर प्रेरित होते हैं, सूर की दास्य-भावना भगवान तक पहुँचने का साधन मात्र है। भगवान की भक्ति पाने पर तो उन्हें पाप का किंचित भी भय नहीं रह जाता।

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हो प्रभु दीनदयाल॥
चित चरणनन निरंतर अनुरत रसना चरित रसाल।

लोचन सलल प्रेम पुलकित तन कर कंजनि दलमाल ॥
ऐसो रहत लिखत छन-छन यम अपने भायो भाल ।
सूर सुयश रागी न डरत मन सुनि यातना रसाल ॥

इस तरह के उद्‌गार ईसाई मर्मियों में मिलना असम्भव है, जैसे —

अपनी भक्ति देहु भगवान।

× × × ×

पर्‌यो हौं प्रण किए द्वारे लाज प्राण की तोहिं ।
नाहिनै काचों कृपानिधि करौं कहा रिसाय ।
सूर तबहूँ न द्वार छांडै डारि हौ कढ़राइ ॥ १ । ४७

अथवा—

आजु हौं एक-एक करि टरिहौं ।
कै हम हीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ॥

× × × ×

अब हौं उघरि नयन चाहत हौं तुम्हें विरद बिनु करिहौं ।

भक्त भगवान की भक्त-वत्सलता को ढाल बनाकर उन्हें उपालम्भ देने और इस प्रकार साग्रह निवेदन करने से भी नहीं चूकता—

जन के उपजत दुख किन टारत ?
जैसे प्रथम अषाढ़ के वृक्षनि खेतहर निरखि उपारत ।
जैसे मीन किलकिला दरशत ऐसे रहो प्रभु डारत ॥
पुनि पाछे अघ सिंधु बढ़त है सूर खार किन पाटत !

विनय के पदों में ही उद्बोधन के पद भी मिलते हैं जिनमें भक्त अपने मन को पुण्य-पथ की ओर अग्रसर होने का आश्वासन देता है :—

यह सब मेरियै कुमति ।
अपने ही अभिमान देख सुख पावत हौं मैं अति ॥
जैसे केहरि उझक कूपजल देखे आप परत ।
कूप पर्‌यो पुनि मर्म न जान्यो भई आप सुइगत ॥

ज्यों गज फटिक शिला में देखत दशनन जाइ अरत ।
जो तू सूर सुखहिं चाहत है तो क्यों विषय परत ॥ १ । १७८

सच तो यह है कि विनय के पदों में वैष्णव सम्प्रदाय के विनय-संबंधी सिद्धान्तों का पूरा-पूरा परिचय मिल जाता है। वैष्णव सम्प्रदाय के अनुसार विनय में सात प्रकार की भूमिकायें होती हैं। १—दीनता, २—मान-मर्षता, ३—भय-दर्शन, ४—भर्त्सना, ५—आश्वासन, ६—मनोराज्य, ७—विचारण। इन सात भूमिकाओं के अभाव में विनय अपूर्ण समझी जाती है। सूर के विनय के पदों में ये सातों प्रकार की भूमिकायें मिलती हैं। अतः साम्प्रदायिक सिद्धान्तों की दृष्टि से भी सूर के विनय-पद उत्कृष्ट हैं।

(१) दीनता—अपने को अति तुच्छ समझना और असफलता का सारा दोष अपने सिर लेना—

हौं हरि सब पतितन को राव ।
को करि सकै बराबरि मेरी सो तो मोहिं बताव ॥

(२) मान-मर्षता—अभिमान रहित होकर इष्टदेव की शरण में जाना—

माधव जू सो अपराधी हौं

(३) भय-दर्शन—जीव को भय दिखाकर इष्टदेव के सम्मुख करना—

गोविंद पद भज मन वच क्रम करि।

अजहूँ मूढ़ चेत चहुँ दिशिते उपजी काल अगिनि झक झरहरि।
जब जम जाल पसार परैगो हरि बिनु कौन करैगो धरहरि ॥

(४) भर्त्सना—मन को शासित करना और डाँटना—

(क) छांड़ि मन हरि विमुखन को संग ।
जाके संग कुबुद्धि उपजत है परत भजन में भंग ।

(ख) जनम सिरानो अटके अटके ।
सुत संपति गृहराज मान को फिरो अनत ही भटके ।

(५) आश्वासन—इष्टदेव के गुणों पर विश्वास रखना और उसी की कृपा के भरोसे मन को धीरज देना—

गोविंद प्रीति सबन की मानत।
जो जेहि भाय करै जनु सेवा अन्तर गति की जानत॥

(६) मनोराज्य—अपने मन में बड़ी-बड़ी अभिलाषायें करना और इष्टदेव से उनकी पूर्ति की आशा करना—

ऐसो कब करिहौ गोपाल।
मनसा नाथ मनोरथ दाता हौ प्रभु दीनदयाल॥

(७) विचारण—माया-जाल की जटिलता दिखाकर मन को संसार से विरक्त करना और भक्ति-मार्ग के प्रति उसमें आसक्ति उत्पन्न करना—

जा दिन मन पंछी उड़ि जैहै।
ता दिन तेरे तन तरुवर के सबै पात झरि जैहैं॥
कहँ वह नीर, कहाँ वह शोभा, कहँ रंग रूप दिखैहैं।
जिन लोगन सों नेह करतु है तेहि देखि घिनैहैं॥
अजहुँ मूढ़ करो सत संगति संतन में कछु पैहै।
नर वपु धरि जाने नहिं हरि को जम की मारु जो खैहै॥
सूरदास भगवंत भजन बिनु वृथा सुजन्म गवैहै।

२ सख्य-भक्ति

पुष्टि मार्ग में भगवल्लीला का महत्वपूर्ण स्थान था। वल्लभाचार्य को दास्य भाव की दैन्य-प्रधान भक्ति प्रिय नहीं थी यह उनकी और सूरदास की प्रथम भेंट के प्रसंग से ही स्पष्ट है। उनकी भक्ति-पद्धति में लीला, कीर्तन आदि को ही विशेष स्थान था और सखा-भाव से कृष्ण का सान्निध्य प्राप्त किया जाता था। इसीसे हम सारे सूरसागर को सख्य-भक्ति से भरा पाते हैं।

सख्य-भक्ति सूरसागर में दो रूपों में प्रगट हुई है। एक, गोपों-ग्वालों और कृष्ण-प्रसंग में। गोप ग्वाल कृष्ण के प्रति सख्य-भक्ति के

अन्यतम उदाहरण हैं। वह कृष्ण के मिलन-सुख में विभोर रहते हैं और न कोई उनका भाव कृष्ण से छिपा है, न कृष्ण का कोई चरित्र ही उनके लिए गोप्य है। राधा और गोपियों के साथ कृष्ण की प्रेम-लीला में भी उनके मित्र उनके साथ रहते हैं। उन्हें कृष्ण की लीला देखकर प्रसन्नता होती है। सूरसागर में कहीं भी गोप-ग्वालों और कृष्ण के सम्बन्ध में मालिन्य का चिन्ह नहीं। न ईर्ष्या, न द्वेष। झगड़ते हैं परन्तु शीघ्र ही फिर मिल जाते हैं। वे कृष्ण को अपनी वैयक्तिक संपत्ति ही नहीं, अपने से बिलकुल अभिन्न समझते हैं। और जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं तो गोपियों की भाँति कृष्ण-सखा भी उनके विरह में विभोर रहते हैं। उनके दैनिक कर्मों में व्याघात पड़ जाता है और पूर्व दिनों की सुख-स्मृति उन्हें चंचल किए रहती है।

भक्त गोप-ग्वालों के भाव से ही कृष्ण से प्रेम करता है। सूरदास ने कृष्ण की कैशोर लीला को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। वे जैसे उन ग्वाल-बालों में से एक हों और कृष्ण की प्रत्येक बन-लीला में उपस्थित हों।

दूसरे, सारा सूरसागर सखा-भाव से गाया गया है। भक्त भगवान के प्रत्येक लीला में भाग लेता है। संस्कृत नाटककारों के विदूषक-राजमित्र की तरह वह कृष्ण के चरित्र के अंतःपुर में भी स्वतंत्रतापूर्वक प्रवेश कर सकता है। वह राधा कृष्ण के प्रेम-प्रसंग को तटस्थ, मित्रभाव से वर्णन करता चला जाता है। जैसे वह केवल एक अभिन्न मित्र का केलि कौतूहल-मात्र हो जिसमें वर्जित और अग्राह्य कुछ भी नहीं। यही कारण

१—राग धनाश्री—प्रभुहौं सब पतितन को टीकौ आदि ऐसो पद श्री आचार्य जी महाप्रभून के आगे सूरदास जी ने गायो सो सुनि श्री आचार्य जी महा प्रभून ने कह्यो जो सूर है के ऐसो काहे को घिघियात है कछू भगवल्लीला वर्णन करि

—चौरासी वैष्णवन की वार्ता

है कि उसे अनौचित्य की सीमा लाँघने तक का ध्यान नहीं आता, लज्जा की तो बात ही क्या ? उदाहरण के लिए देखिये—

नीवी ललित गही यदुराई ।
जबहिं सरोज घरो श्रीफल पर तब यशुमति तहँ आई ॥

अथवा—

नंद बबा की बात सुनो हरि ।
मोहिं छाँडि के कबहुँ जाहुगे ल्याहुँगी तुमको धरि ॥
मेरी बाँह छाँडि दे राधा, करत उपरफट बातैं ।
सूरश्याम नागर नागरि सौं करत प्रेम की घातैं ॥

अथवा—

ऐसे जनि बोलहु नंद लाला ।
छाँड़ि देहु अंचरा मेरो नीके जानत हौं श्री बाला ।
बार बार मैं तुम्हहिं कहति हौं परिहैं बहुरि जंजाला ॥
जोवन रूप देखि ललचाने अबहीं ते ए ख्याला ।
तरुनाई तन आवन दीजै कित जिय होत बिहाला ॥
सूरश्याम उर ते कर टारहु टूटै मोतिन माला ।

भले ही आधुनिक-समालोचक सूर पर विलासिता या गंदी शृङ्गार-प्रियता का दोषारोपण करें, कृष्ण के अनन्य मित्र को इसकी चिंता नहीं। वास्तव में, सूर के कृष्ण उन्हें इतने सहज-सुलभ, सामान्य, मानव, मित्र लौकिक हो गए हैं कि उनका काव्य भी शास्त्र के विधि-निषेध से परे हो गया है।

वे एक अलौकिक व्यक्ति की लौकिक लीला को मित्र-रूप से देख रहे हैं, उनके लिये कैसी गंदगी, कैसी विलासिता ! उनकी तो सखा-भाव की मधुर-साधना है जो उन्होंने सारे सूरसागर के दशम स्कंध में बिखेर दी है।

परन्तु जैसा अन्यत्र दिखलाया है सूरसागर आसक्ति (भगवद्भक्ति) के अन्य प्रकारों से खाली नहीं है। डा० रामकुमार वर्मा ने अपने हिन्दी-साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में आसक्ति के प्रकार-भेदों की दृष्टि से सूरसागर की कृष्ण-लीला को इस प्रकार रक्खा है* :—

१—गुण माहात्म्यासक्ति	(श्रवण, कीर्तन)	भ्रमर लीला
२—रूपासक्ति	(वंदन)	दान लीला
३—पूजासक्ति	(चरण-सेवन, अर्चन)	गोवर्धन धारण
४—स्मरणासक्ति	(स्मरण)	गोपिका वचन परस्पर
५—दास्यासक्ति	(दास्य)	मुरली-स्तुति (विनयपद)
६—सख्यासक्ति	(सख्य)	गोचारण
७—कान्तासक्ति	(,,)	गोपिका-विरह
८—वात्सल्यासक्ति		यशोदा-विलाप
६—आत्मनिवेदनासक्ति	(आत्मनिवेदन)	भ्रमर-गीत
१०—तन्मयतासक्ति	(,,)	,,
११—परम विरहासक्ति	(,,)	,,

इस प्रकार हम देखते हैं कि सूरसागर की कथा-वस्तु में नवधा-भक्ति के अंगों की पूर्णतः पुष्टि होती है, जहाँ जहाँ सूर ने इन प्रसंगों का वर्णन किया है; वहाँ वहाँ उनके अन्तर्गत उनकी भक्ति भी सन्निहित हो गई है। एक प्रकार से सूरसागर भक्ति के अनेक प्रकारों का उदाहरण है।

इसके सिवाय भक्ति के कुछ ऐसे अंग हैं जो सूरसागर में पहली बार पाये जाते हैं। शास्त्रीय वर्गीकरण में स्थान उन्हें भले ही नहीं मिल सका हो परन्तु वह भी भक्ति के विशिष्ट अंग हैं, अन्यथा हो सकते हैं।

---

* डा० रामकुमार वर्मा :—हि० सा० का आलोचनात्मक इतिहास पृ० ६०१ (कोष्ठक में जो भक्ति के नवधा रूप दिये हैं, वे हमारे हैं)

(१) वात्सल्य भाव की भक्ति

नन्द यशोदा और कृष्ण के सम्बन्ध में इस प्रकार की भक्ति-भावना का उदाहरण है। नारद भक्ति सूत्र[1] में वात्सल्य को स्थान अवश्य ही दे दिया गया है, परन्तु इस प्रकार की भक्ति को अपनाने का उदाहरण मध्ययुग से पहले नहीं मिलता। सूरदास ने ही पहले पहल वात्सल्य-भक्ति-रस का उद्घाटन किया।

(२) दाम्पत्य-भाव की भक्ति या मधुर-भाव की भक्ति

भागवतकार का उद्देश्य इस भाव की भक्ति को प्रस्फुटित करना ही था और प्राचीन समय से संतों, सूफियों तथा शैव-वैष्णव भक्तों ने माधुर्य्य-भाव की भक्ति (जिसमें भक्त और भगवान में कांत-कांता सम्बन्ध होता है) को अपनाया था। किन्तु सूरदास से पहिले राधा-कृष्ण और गोपियों के संयोग-वियोग की कथा से यह मधुर भाव इतना विस्तारपूर्वक कभी भी प्रकाशित नहीं किया गया था। संतों और सूफ़ियों के मधुर-भाव की उपासना को सगुण मधुर-भाव की भक्ति का रूप दे कर और उसे कृष्ण-राधा के लोक-विश्रुत-प्रेम-चरित्र पर आश्रित करके सूरदास ने सगुण-भक्ति की उपासना पद्धति में क्रांति ही कर दी जिसके कारण उनके पश्चात् अनेक मधुर भक्ति-मार्गी सम्प्रदायों की सृष्टि हुई।

(३) सगुण-रहस्यात्मक-भक्ति

इसका रूप स्वयं भक्ति की रहस्यात्मक सत्ता के प्रति भक्त के प्रेम के सम्बन्ध में स्पष्ट होता है। इसके अतिरिक्त "चकई री चलि चरण सरोवर जहाँ न मिलन-वियोग" आदि रहस्यवादी पदों से भी कवि का लक्ष्य यही भक्ति है।

१—सूत्र सं० ८१।

१०

सूरसागर और पुष्टि-मार्ग

सूरसागर का पुष्टि-मार्ग के भक्तों में विशिष्ट स्थान है। उसमें चाहे पुष्टि-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्त भले ही न हों, परन्तु उसकी मुख्य बात, कृष्ण लीला, इसमें होने के कारण वह भक्तों को प्रिय है।

राधा-कृष्ण के नित्य-प्रति के कार्यों का विशद वर्णन हमें सूरसागर के दशम स्कंध में मिलता है। बाल-कृष्ण के जागरण से लेकर कलेऊ, दधि-माखन-प्रसंग, गौ-दोहन, गौ-चारण, यमुना-तट क्रीड़ा, संध्या-समय गृह-आगमन और शयन तक के सभी कार्यों का वर्णन हमें दशम स्कंध में मिल जाता है। सूर जैसे कृष्ण के साथ लगे हुए हैं; वह उनकी छोटी सी बात को भी दृष्टि की ओट नहीं करते। सभी विस्तारपूर्वक लिखते चले जाते हैं।

परन्तु सूरसागर के पीछे एक रहस्य छिपा हुआ है जिसका उद्घाटन कर देने पर उसकी यह विशेषता स्पष्ट हो जायगी। सूर ने कृष्ण की दिनचर्या विशद रूप से केवल इसी लिए नहीं लिखी है कि वह उनके काव्य के नायक अथवा उनके उपास्य हैं। एक बात और भी है। कृष्ण-काव्य के निर्माण में पुष्टि-मार्ग की नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का बड़ा हाथ है। उसने केवल सिद्धान्त-रूप से ही कृष्ण-काव्य का आविर्भाव और तदनंतर उसे प्रभावित नहीं किया, वरन् उसने जैसे कृष्ण-काव्य के भक्त लेखकों का हाथ पकड़ कर कृष्ण-चरित लिखाया।

श्री नाथ जी के मंदिर की उपासना-पद्धति अन्य देवताओं और अवतारों की उपासना पद्धति से भिन्न थी। प्रभात होते ही भक्त पुजारी गा-बजा कर कृष्ण को जगाता; फिर कुछ समय बाद मुँह धुला

कर उन्हें कलेऊ खिलाता, वन में भेजने के लिए उन्हें ओढ़ा पहना कर सजाता। जब कृष्ण वन में चले जाते तो फिर मंदिर के कपाट बंद हो जाते। पूछने पर पुजारी कहता—श्रीनाथ जी गौचारन को गये हुए हैं। साँझ होती तो मंदिर के द्वार फिर खुलते और भक्त नंद-यशोदा भाव से वन से लौटे हुए कृष्ण का स्वागत करता। फिर कलेऊ, भोजन, हास-विनोद और तदनंतर शयन का प्रबंध समय-समय होता। शयनान्तर एक बार फिर मंदिर के द्वार बंद हो जाते।

इस प्रकार का उपासना क्रम दैनिक रूप से चलता रहता। उसमें गीत-वाद्य का महत्वपूर्ण स्थान था। महाप्रभू वल्लभाचार्य की आज्ञा से प्रत्येक भक्त-कवि को समय-समय पर कुछ गाना पड़ता था। जैसा समय होता उसी के अनुसार प्रसंग का ध्यान रख कर वह गीत का निर्माण करता। सूरदास ने भी अनेक पद इसी प्रकार रचे होंगे। यदि पुष्टि-मार्ग की उपासना-पद्धति की इतनी सुन्दर प्रतिष्ठा वल्लभाचार्य ने न की होती, तो कृष्ण-चरित इतने विशद रूप में हमें न मिल सकता था और हम एक ही प्रसंग पर अनेक भाव-पूर्ण पदों से वंचित रह जाते। यह अवश्य हुआ कि इस प्रकार एक ही प्रसंग पर प्रत्येक दिन पद बनाने से पुनरुक्ति भी बहुत हुई। परन्तु सूरदास की कवि-प्रतिभा ने प्रत्येक अवसर पर कुछ न कुछ नवीनता अवश्य उपस्थित की, अतः कोई विशेष हानि नहीं हुई।

इसी कारण हम देखते हैं कि जहाँ एक पद में एक ओर प्रसंग वश यशोदा कृष्ण को जगा रही हैं उधर उसी पद में भक्त भी कृष्ण के सामने अप्रकट रूप से उपस्थित है और लीला गान के साथ अपने हृदय के भावों को भी भगवान के सामने रख रहा है। उदाहरण के लिए एक पद—

जागिये गुपाल लाल आनंद निधि नंद बाल
यशुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।

१०

सूरसागर और पुष्टि-मार्ग

सूरसागर का पुष्टि-मार्ग के भक्तों में विशिष्ट स्थान है। उसमें चाहे पुष्टि-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्त भले ही न हों, परन्तु उसकी मुख्य बात, कृष्ण लीला, इसमें होने के कारण वह भक्तों को प्रिय है।

राधा-कृष्ण के नित्य-प्रति के कार्य्यों का विशद वर्णन हमें सूरसागर के दशम स्कंध में मिलता है। बाल-कृष्ण के जागरण से लेकर कलेऊ, दधि-माखन-प्रसंग, गौ-दोहन, गौ-चारण, यमुना-तट क्रीड़ा, संध्या-समय गृह-आगमन और शयन तक के सभी कार्य्यों का वर्णन हमें दशम स्कंध में मिल जाता है। सूर जैसे कृष्ण के साथ लगे हुए हैं; वह उनकी छोटी सी बात को भी दृष्टि की ओट नहीं करते। सभी विस्तारपूर्वक लिखते चले जाते हैं।

परन्तु सूरसागर के पीछे एक रहस्य छिपा हुआ है जिसका उद्घाटन कर देने पर उसकी यह विशेषता स्पष्ट हो जायगी। सूर ने कृष्ण की दिनचर्य्या विशद रूप से केवल इसी लिए नहीं लिखी है कि वह उनके काव्य के नायक अथवा उनके उपास्य हैं। एक बात और भी है। कृष्ण-काव्य के निर्माण में पुष्टि-मार्ग की नित्य और नैमित्तिक क्रियाओं का बड़ा हाथ है। उसने केवल सिद्धान्त-रूप से ही कृष्ण-काव्य का आविर्भाव और तदनंतर उसे प्रभावित नहीं किया, वरन् उसने जैसे कृष्ण-काव्य के भक्त लेखकों का हाथ पकड़ कर कृष्ण-चरित लिखाया।

श्री नाथ जी के मंदिर की उपासना-पद्धति अन्य देवताओं और अवतारों की उपासना पद्धति से भिन्न थी। प्रभात होते ही भक्त पुजारी गा-बजा कर कृष्ण को जगाता; फिर कुछ समय बाद मुँह धुला

कर उन्हें कलेऊ खिलाता, वन में भेजने के लिए उन्हें ओढ़ा पहना कर सजाता। जब कृष्ण वन में चले जाते तो फिर मंदिर के कपाट बंद हो जाते। पूछने पर पुजारी कहता—श्रीनाथ जी गौचारन को गये हुए हैं। साँझ होती तो मंदिर के द्वार फिर खुलते और भक्त नंद-यशोदा भाव से वन से लौटे हुए कृष्ण का स्वागत करता। फिर कलेऊ, भोजन, हास-विनोद और तदनंतर शयन का प्रबंध समय-समय होता। शयनान्तर एक बार फिर मंदिर के द्वार बंद हो जाते।

इस प्रकार का उपासना क्रम दैनिक रूप से चलता रहता। उसमें गीत-वाद्य का महत्वपूर्ण स्थान था। महाप्रभू वल्लभाचार्य की आज्ञा से प्रत्येक भक्त-कवि को समय-समय पर कुछ गाना पड़ता था। जैसा समय होता उसी के अनुसार प्रसंग का ध्यान रख कर वह गीत का निर्माण करता। सूरदास ने भी अनेक पद इसी प्रकार रचे होंगे। यदि पुष्टि-मार्ग की उपासना-पद्धति की इतनी सुन्दर प्रतिष्ठा वल्लभाचार्य ने न की होती, तो कृष्ण-चरित इतने विशद रूप में हमें न मिल सकता था और हम एक ही प्रसंग पर अनेक भाव-पूर्ण पदों से वंचित रह जाते। यह अवश्य हुआ कि इस प्रकार एक ही प्रसंग पर प्रत्येक दिन पद बनाने से पुनरुक्ति भी बहुत हुई। परन्तु सूरदास की कवि-प्रतिभा ने प्रत्येक अवसर पर कुछ न कुछ नवीनता अवश्य उपस्थित की, अतः कोई विशेष हानि नहीं हुई।

इसी कारण हम देखते हैं कि जहाँ एक पद में एक ओर प्रसंग वश यशोदा कृष्ण को जगा रही हैं उधर उसी पद में भक्त भी कृष्ण के सामने अप्रकट रूप से उपस्थित है और लीला गान के साथ अपने हृदय के भावों को भी भगवान के सामने रख रहा है। उदाहरण के लिए एक पद—

जागिये गुपाल लाल आनंद निधि नंद बाल
यशुमति कहै बार बार भोर भयो प्यारे।

नैन कमल से विशाल प्रीति वापिका मराल
मदन ललित वदन ऊपर कोटि वारि डारे ॥
उगत अरुन विगत शर्वरी शशांक किरन हीन
दीन दीपक मलिन छीन द्युति समूह तारे।
मनहुँ ज्ञान घन प्रकाश बीते सब भव विलास
आस त्रास तिमिरि तोष तरनि तेज जारे ॥
बोलत खग मुखर निखर मधुर है प्रतीत सुनहु
परम प्राण जीवन धन मेरे तुम बारे।
मनौं वेद बंदी मुनि सूत वृन्द माधव गण
विरद वदत जै जै जै जैत कैटभारे ॥

उपस्थित किया जाता है। इस प्रकार यद्यपि सूरदास ने कृष्ण-लीला का वर्णन किया परन्तु अधिकांश लीला श्रीनाथ जी के सामने नैमित्तिक रूप से गाई गई है और उसमें भक्त के उपासना भाव का गुंफन आप ही आप होगया है।

कृष्ण के चरित्र में इस प्रकार जो विस्तार-पूर्ण उनके नैमित्तिक कार्य्यों का वर्णन हुआ है और उनके ऐश्वर्य्य और तदनन्तर विलास को पूर्णतः चित्रित किया गया है उसके विषय में डा० धीरेन्द्र वर्मा का कहना है कि इसका अपरोक्ष कारण आगरा का नैकट्य है, जहाँ मुग़ल-सम्राट ऐश्वर्य्य और विलासिता को बड़े आडम्बर से चला रहे थे। यह बात सत्य है। चौरासी वैष्णव की वार्ता आदि कथा-ग्रंथ पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भक्तों के मन में एक विशेष मनोवृत्ति चल रही थी। भक्त मुग़लों के वैभव से प्रभावित अवश्य थे। उसके सम्मुख उन्होंने उससे भी अधिक महान् वैभव, ऐश्वर्य्य और विलास की सृष्टि की रचना की। इस वैभव और ऐश्वर्य्य के आगे वे देशाधिपति के वैभव और ऐश्वर्य्य को नितान्त क्षुद्र समझते थे।

जो हो, कृष्ण की कथा को इतनी विस्तारपूर्वक कहलवाने के लिए हमें पुष्टि-मार्ग की उपासना-पद्धति को भी महत्त्वपूर्ण श्रेय देना पड़ता

है। सूरसागर दर्शन-ग्रंथ नहीं है। उसमें पुष्टि-मार्ग के दार्शनिक सिद्धान्त प्रासंगिक रूप से मिलते हैं। परन्तु उसके निर्माण पुष्टि-मार्ग के धार्मिक सिद्धान्तों और नित्य तथा नैमित्तिक-क्रिया-कलापों ने ही प्रधान भाग लिया है। सम्पूर्ण सूरसागर से पुष्टि-मार्ग की पुष्टि ही हुई है। वल्लभाचार्य्य ने जिस ओर इंगित किया था, सुरदास उसी ओर बढ़े और यद्यपि उन्हें चित्र का सारा रंग स्वयं ही भरना पड़ा परन्तु उसकी रूप रेखा उन्हें महाप्रभु के इन शब्दों से मिली जिन्हें हम पहले भी दूसरे प्रसंग में उद्धृत कर चुके हैं। षोडश ग्रंथ में महा प्रभु लिखते हैं—जो दुख यशोदा नन्दादिकों एवं गोपीजनों को गोकुल में हुआ, वह दुख मुझे कब होगा ? गोकुल में गोपी जनों एवं सभी व्रजवासियों को जो भली-भाँति सुख हुआ वह सुख भगवान मुझे कब देंगे। उद्धव के आने पर वृन्दावन और गोकुल में जैसे महान उत्सव हुआ था क्या वैसा मेरे मन में कभी होगा[1]। सूरदास ने इस सुख-दुःख को अपने मन में इतना प्रत्यक्ष किया कि उनका काव्य इतना सजीव और सफल होगया। उन्होंने यशोदा-नन्दादि के दुःख और गोपी-गोप-जनों के सुख का अपनी आत्मा में अनुभव किया और उनके कवि-हृदय के अलंकारों और काव्य-गुणों से सजाकर उसे छंदों में प्रकाशित किया। सूर जिस प्रसंग का वर्णन करते हैं वे उसी में रंग जाते हैं वे एक साथ यशोदा-नंद, गोपी-गोप और व्रजवासी सभी हैं। इसी कारण उनका काव्य इतना सफल हुआ है।

पुष्टि-मार्ग के नित्य-कर्म (कृष्ण का दैनिक कार्यक्रम) और नैमित्तिक कीर्तन (हिंडोला, चाचर, फाग और वसन्त) ने सूरसागर के दशम स्कंध को बृहदाकार बनाने में सहायता दी है। भागवत की मूल कथा को जहाँ एक ओर सूरदास की सौन्दर्य्य-प्रियता और लीला-भक्ति ने आगे बढ़ाया, वहाँ दूसरी ओर उन्हीं नित्य और नैमित्तिक कामों ने

---

१ षोडश ग्रंथ—(निरोधलक्षणम्) द० २—४।

उसकी वृद्धि की एवं रस और भाव-परिपाक के अनेक सुन्दर स्थल उपस्थित किये। बहुत सम्भव है सूरसागर का मूल कथा-भाग भागवत के आधार पर पहले रच लिया गया हो और बाद में सूरदास ने जो सहस्रों पद श्रीनाथ जी और नवनीत-प्रिया जी के समक्ष कीर्तन के रूप में गाए उनको प्रसंगानुसार छाँट कर मूल-कथा में स्थान-स्थान पर जोड़ दिया गया हो। नित्य कार्य्यों ने सूरसागर को कहाँ तक प्रभावित किया है यह एक इसी बात से स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदाय की श्रीकृष्ण को भोग-समर्पण की प्रथा ने कितने ही ऐसे पदों की सृष्टि करवाई है, जिनमें षट्-रस व्यंजनों की नामावली के अतिरिक्त कुछ भी नहीं परन्तु नित्य कर्म में भोज्य सामग्री का स्थान होने के कारण सूरदास ने उसे भी छंद-बद्ध कर दिया है।

११

सूरसागर का रहस्यवादी पक्ष

सूरसागर के कुछ पद सगुण-रहस्यवाद के सुन्दर उदाहरण हैं। रहस्यवाद भक्त की आत्मा की सबसे ऊँची उड़ान है जब वह परमात्मा की ओर अग्रसर होता हुआ उसके अत्यंत निकट पहुँच जाता है।

यों तो भगवान की सारी लीला ही रहस्यात्मक है। संत का अनंत का अनुभव—यह अचरज की बात है ही। जिस भगवद् कृपा (अनुग्रह या पुष्टि) के द्वारा यह अचरज सत्य हो जाता है वह स्वयं कम रहस्य की वस्तु नहीं। इसीलिए सूरदास ने अनेक पदों में भगवान की लीला और उनकी अनुकम्पा के प्रति आश्चर्य प्रगट किया है[१]।

परन्तु यहाँ हमारा तात्पर्य उन पदों में से है जिनमें भक्त की आत्मा भगवत्-वियोग के दुख से कातर होकर एक अलौकिक, अकल्पित रहस्य लोक की सृष्टि की है। निर्गुण-संतों का रहस्यवाद मूर्त-चित्रों की उपेक्षा करता है परन्तु भक्त सूरदास के रहस्यवादी पदों में भी मूर्त-चित्र स्पष्ट रूप से आते हैं। पं० रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में उनमें रहस्यमयी "अव्यक्तता या धुँधलापन[२]" नहीं है। इस प्रकार के रहस्यवाद को हमने "सगुण रहस्यवाद" का नाम दिया है। वह नाम-रूप और गुणों का सहारा मात्र लेकर रूप गुण का अतिक्रमण करने की चेष्टा

---

१. निगम ते अगम कृपा भारी।

अविगति गति कछु कहत न आवै।

ज्यों गूँगे मीठे फल को रस अन्तरगत ही भावै।

२. भ्रमरगीत सार पृ० ३२।

करता है। संतों के रहस्यवाद की तरह एकदम इनका तिरस्कार नहीं कर देता।

इन सगुण-रहस्यवाद के पदों में सूरदास ने अन्योक्ति पद्धति का प्रयोग किया है और रूपक के सहारे नकारात्मक चित्र को स्पष्ट करने की चेष्टा की है। एक आदर्श-रहस्यमय लोक की कल्पना करते हुए सूरदास लिखते हैं—

चकई री ! चलि चरन सरोवर जहाँ न मिलन वियोग।
निसिदिन राम राम की वर्षा, भय रुज नहिं दुख सोग।
जहाँ सनक से मीन, हंस शिव, मुनि जन-रन-रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुवास॥
जेहि सर सुभग मुक्ति मुक्ता फल सुकृत अमृत रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि विहंगम ! इहाँ कहाँ रहि कीजै॥[१]

इस प्रसिद्ध पद में एक परोक्ष जगत की धुंधली-सी झलक दिखलाई गई है।

कबीर के इसी तरह के पद को सामने रखने से सूरदास के पद की व्यंजना और साहित्यिकता स्पष्ट हो जायगी। कबीर का पद इस प्रकार है—

हंसा प्यारे ! सरवर तजि कहँ जाय ?
जेहि सरवर विच मोती चुनते बहु विधि केलि कराय॥
सूख ताल पुरइनि जल छोड़ै कमल गयो कुम्हिलाय।
कह कबीर जो अबकी बिछुरै बहुरि मिलि कब आय॥

वास्तव में इस प्रकार के पद अनेक संतों और भक्तों ने कहे हैं उनकी रूढ़ि सी चलती जान पड़ती है। परन्तु कबीर और सूरदास के पदों में विषय और पद्धति में साम्य होते हुए भी अन्तर है। रूपक के प्रयोग से सूरदास ने अपने रहस्यलोक को अधिक मूर्त, भावमय, सुन्दर और सरस बना दिया है।

---

१. सूरसागर स्कं० १ पद १८४

सूरदास ने अपनी रहस्यात्मक-अन्योक्तियों में चकई, सखि, भृङ्गी और सुवे को संबोधन किया है। ये सब आत्मा के प्रतीक हैं। यह बात समझ लेने से इन पदों की व्यंजना स्पष्ट हो जाती है और हम उच्चतम रहस्यमयता का अनुभव करने लगते हैं। चकई वाला पद उद्धृत किया गया है अन्य पद इस प्रकार हैं।

१. चलि सखि तिहि सरोवर जाहिं।
जिहि सरोवर कमल कमला रवि कहाँ विकसाहिं॥
हंस उज्ज्वल पंख निर्मल अंक मिलि मिलि न्हाहिं।
मुक्ति मुक्ता अंबु के फल तिन्हें चुनि चुनि खाहिं॥
अतिहि मगन महा मधुर रस रसन मध्य समाहिं।
पद्म बास सुगंध शीतल लेत पाप नसाहिं॥
सदा प्रफुलित रहै जल बिनु निमिष नहिं कुम्हिलाहिं।
देखि नीर जो छिलछिलो अति समझु कछु मन माहिं॥
सघन गुंजत बैठ उन पर भौंर हैं बिरमाहिं।
सूर क्यों लहि चलो उड़ि तहाँ बहुरि उड़िबो नाहिं॥[1]

२. भृङ्गी री भजि चरण कमल पद जहँ नाहिं निशि को त्रास।
जहाँ विधि भानु समान प्रभा नख सो वारिज सुख रास।
जिहिं किंजल्क भक्ति नव लक्षण याम ज्ञान रस एक।
निगम सनक शुक नारद शारद मुनिगन भृङ्ग अनेक।
शिव विरंचि खंजन मन रंजन छिन छिन करन प्रवेश।
अखिल कोश तहाँ बसत सुकृत जन प्रगटत श्याम दिनेश।
सुनु मधुकरी भरम तजि निर्भय राजिव रवि की आश।
सूरज प्रेम सिंधु में प्रफुलित तहँ चलि करे निवास।[2]

---

१. सूरसागर स्कं० १ पद १८५
२. " " १८६

३. सुवा चलि तो वन को रस पीजै।
जा वन राम नाम रस अमृत श्रवण पात्र भरि लीजै।
को तेरो सुत पिताहू काको घरनी घर को तेरो।
काम कराल श्वान को भोजन हू कहै मेरो मेरो।
बड़ी वाराणसी मुक्ति क्षेत्र है चलि तोको दिखराऊँ।
सूरदास साधुन की संगति बड़ो भाग्य जो पाऊँ।[1]

इन सब रहस्यवादी पदों का विश्लेषण करने से इतनी बातें स्पष्ट होती हैं।

(१) सरस भावुक-हृदय कवि होने के कारण सूर की कल्पना कबीर आदि संतों के समान अधिक 'नकारात्मक' नहीं हो पाई है। परन्तु सूरदास ने कहाँ क्या है इसी बात को स्पष्ट करके सगुण रहस्यमय लोक की सृष्टि की है।

(२) रूपक के प्रयोग से चित्र स्पष्ट उतर सका है। इन पदों में उन्होंने सरोवर और वाराणसी की दो उपमाओं का प्रयोग किया है और उनके द्वारा यदि रूपक नहीं तो कुछ कुछ उसी-जैसे अलंकार की सृष्टि की है।

(३) भिन्न-भिन्न वस्तुओं (भृङ्गी, मधुकर, शुक, सखी और चकई) को एक ही वस्तु (आत्मा) का प्रतीक बनाने के कारण विनय की अलौकिकता स्पष्ट हो जाती है।

(४) कवि ने सामान्य द्वारा असामान्य की व्यंजना की है और असामान्य गुणों को प्रत्यक्ष करने के लिये या तो 'नकारात्मक' पद्धति का प्रयोग किया है अथवा सामान्य वस्तु को ही कोई विशेष गुण प्रदान कर दिया है।

---

१. सूरसागर स्कंध १ पद १८७

१२

सूर का प्रकृति-वर्णन

सूरदास के काव्य-नायक श्रीकृष्ण हैं और व्रजभूमि उनकी रंगस्थल है। कृष्ण का जन्म, तदनंतर विकास, इसी व्रजभूमि में हुआ। मथुरा जाने से पहिले की सारी बाल किशोर लीलाएँ व्रज में ही हुईं। अतएव कृष्ण से संबंधित होने से भक्त सूरदास का व्रजभूमि और उसकी प्रकृति से प्रेम होना आवश्यक था। यह सच है कि कृष्ण मथुरा चले गए। उन्होंने द्वारका बसाई और हस्तिनापुर, कुरुक्षेत्र आदि अनेक स्थानों की रज को अपने चरण चिन्हों से अंकित किया, परन्तु सूरदास के कृष्ण का संबंध केवल गोकुल (व्रज) तक ही है। उन्हें कृष्ण के तरुण और प्रौढ़ जीवन के प्रति अनुराग नहीं अतः उनके लिए कृष्ण की लीलाभूमि व्रज मात्र है। व्रज के प्रति सूरदास का प्रेम इन पदों से प्रगट होता है :—

कहाँ सुख व्रज को सौं संसार।
कहाँ सुखद बंशी वट यमुना यह मन सदा विचार ॥
कहाँ वनधाम कहाँ राधा संग कहाँ संग व्रज बाम।
कहाँ रस रास बीच अंतर सुख कहाँ नारि तनु ताप ॥
कहाँ लता तरु तरु प्रति झूलनि कुंज कुंज वन धाम।
कहाँ विरह सुख विनु गोपिन संग सूरश्याम मम काम ॥

अथवा—

सेहि बसिए व्रज की बीथिन।
साधुनि के पनवारे चुनि चुनि उदरजु भरिए सीतनि ॥
पैड़े में के बसन बीनि तन छाया परम पुनीतनि।
कुंज कुंज तर लोटि लोटि रचि रज लागौं रंगी तनि ॥

निस दिन निरखि यसोदा नंदन और जमुना जल पीतनि ।
दरसन होत सूर तन पावन दरसन मिलन अनीतनि ॥

हिन्दी-काव्य में प्रकृति का पहला विशद वर्णन सूर-काव्य में मिलता है। उसके कई कारण हैं। एक श्रीकृष्ण की जीवन-लीला का संबंध एक ऐसे स्थान से लगा हुआ था जो प्राकृतिक विभूतियों से पूर्ण है। कृष्ण गोपालक-जाति के बालक हैं; वे अहीर बालक-बालिकाओं में बढ़ते हैं। गो-चारण के लिये यमुना तट पर जाते हैं; गोप बालिकाओं से उनका प्रेम-प्रसंग चलता है। यह प्रेम-लीला किसी राज प्रासाद के निर्जन-प्राङ्गण में नहीं चलती। ब्रज की प्रकृति का विस्तृत खुला प्राङ्गण इसके लिए ख़ाली पड़ा है। उसमें यमुना-तट के करील कुंज, कदम्ब और तमाल के वृक्ष हैं, वीथिका में सघन मधुवन है। प्रकृति राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला में कितनी सहायक होती है, यह बात युगल जोड़ी के प्रेम के विकास का अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाती है। इस लीला-क्षेत्र में कृष्ण की लीला के साथ साथ प्रकृति की जो लीला चला करती है उसे छोड़ कर कोई भी कवि कृष्ण-काव्य की चर्चा नहीं कर सकता था। इसी लिए सूरदास को अपने नायक कृष्ण के जीवन के साथ यमुना, कदम्ब-कुंज, ऋतु परिवर्तन, दावानल और न जाने प्रकृति के कितने अंग गूंथ देने पड़े।

दूसरे, सूरदास का जीवन स्वयम् प्रकृति के निकट था। उनका अधिकांश जीवन यमुना के तट पर और ब्रजभूमि में ही बीता। उन्होंने ब्रज की सारी भूमि से निकटतम परिचय प्राप्त किया और स्वभावतः वह उनके काव्य का विषय बन गया।

तीसरे, वल्लभाचार्य्य ने ब्रजभूमि की महत्ता स्थापित कर ही दी थी। उन्होंने श्रीनाथ की स्थापना के लिए वही स्थान चुना था। लीला-नायक कृष्ण का जन्म-स्थान होने के सिवाय वह पुष्टि-मार्गी भक्तों की इष्ट देव-मूर्ति का निवास स्थान भी था।

इन सब कारणों ने सूर को व्रज-प्रकृति को अपने काव्य में महत्वपूर्ण स्थान देने के लिए बाधित किया। वास्तव में सूर-काव्य प्रकृति में डूबा हुआ है। कृष्ण का विकास जैसे व्रज का प्रकृति में होता है उसी प्रकार सूर-साहित्य का विकास भी व्रज प्रकृति की छाया में ही होता है। व्रज की प्रकृति ने उन्हें केवल उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं के लिए ही सामग्री नहीं दी है, वह उनके काव्य के केन्द्र में प्रतिष्ठित हुई है।

किन्तु सूरदास ने जिस व्रज को देखा है उसके दो पहलू हैं। जब तक सूरदास के दृष्टिकोण को हम समझ नहीं लेंगे तब तक हम सूरदास के प्रकृति-वर्णन का सच्चा महत्त्व नहीं ग्रहण कर सकते। सूरदास का व्रज जहाँ एक ओर हमारे लोक का वह प्रांत है जहाँ जमुना, वृन्दावन, गोवर्धन, मधुवन, करील-कुंज आदि की सत्य सत्ता है वहाँ दूसरी ओर वह हमारे लोक का नहीं भी है। वह लोकोत्तर है। कवि ने उसे स्पष्ट ही नित्य कहा है[1]। वहाँ कुंज, हिंडोर, समीर सभी नित्य हैं। वहाँ वसंत ही वसंत है। अलबत्ता,

---

१. नित्य रूप वृन्दावन धाम।
× × × ×
नित्य कुंज सुख नित्य हिंडोर।
नित्यहि त्रिविधि समीर झकोर।
सदा वसंत रहत जहाँ वास।
सदा हर्ष जहाँ नहिं उदास।
कोटिक कीरा सदा तलरोर।
सदा रूप मन्मथ चित चोर॥
विविध सुमन वन फूले डार।
उन्मत मधुकर भ्रमर अपार॥
नव पल्लव वन शोभा एक।
विहरत हरि संग सखी अनेक॥
कुहू कुहू कोकिला सुनाई।
सुनि सुनि नारि भई हरषाई॥

व्रज के फूल-वन-डार, मधुकर, नव पल्लव और कोयल को वह नित्य विशेषण से विभूषित नहीं करता, परन्तु इंगित इसी ओर है यह स्पष्ट है। सूरदास के लिए व्रज भूमि और उसका प्रकृति-व्यापार अलौकिक, अनत, और नित्य है जहाँ चित्सत्ता का लीला व्यापार चलता रहता है। वस्तुतः अनंत की लीला-भूमि शांत हो ही नहीं सकती।

यह बात सूरदास की मौलिक कल्पना हो ऐसी बात नहीं। महाप्रभु वल्लभाचार्य्य ने दर्शन में जिस गोलोक की स्थापना की थी वह दृष्टिकोण इसी का परिणाम है। कृष्ण गोलोक-वासी है। वह भक्तों के लिए अपने गोलोक की समस्त विभूतियों के साथ पृथ्वी पर अवतार लेते हैं और वह जिस व्रज में क्रीड़ा-लीला करती हैं वह गोलोक की प्रतिच्छाया ही होता है। कवि ने व्रज-धाम को नित्य बना कर इसी सिद्धान्त की व्यंजना की है, परन्तु यह सूरदास की विशेषता है कि वह अपने प्रतीकों का रूप केवल कुछ ही स्थानों में खोलते हैं। सूफी-कवियों की तरह सदैव ही प्रतीकार्थ पुकारते हुए नही चलते। इसी से उनका काव्य इतना सहज-सरल है। उन्होने अपने ग्रंथ में अलौकिक नायक और उसकी अलौकिक लीला-भूमि का वर्णन किया है। परन्तु फिर भी उनका नायक और उसकी लीला-भूमि दोनों हमारे लिए सामान्य हैं। कृष्ण सामान्य गोप हैं। उनकी लीला मानवी है और उनकी लीला-भूमि भी हमारी परिचित व्रज-भूमि ही है।

व्रज मण्डल की सारी प्रकृति कृष्ण-लीला की पृष्ठ-भूमि है। व्रज-मण्डल का विस्तार अधिक नहीं है। एक अलौकिक-दिव्य-चरित्र की लीला-भूमि होने के कारण उसमें अनंत विस्तार की व्यंजना हुई है। भागवत में कृष्ण की इस लीला-भूमि का वर्णन इस प्रकार है।

> दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
> मही मंगलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा ॥
> नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
> द्विजालिकुलसन्नादस्तवका वनराजयः ॥

यह दशवीं शताब्दी की ब्रज-भूमि का चित्रण है। सूरदास ने इस प्रकार का प्रबंधात्मक, वर्णन उपस्थित नहीं किया परन्तु उनके सम्पूर्ण काव्य के अध्ययन से ब्रज मण्डल की यही छवि हृदय में उतरती है। इसी आनंद भूमि और उसकी प्रसन्न प्रकृति की छाया में सूर के नायक ने क्रीड़ायें की हैं, सूर का अध्ययन करते समय हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिये।

सूरदास ने अपने चरित्र-नायक को अलग रख कर उसकी लीला-भूमि का कहीं भी चित्रण नहीं किया है। उनके काव्य में उनके पात्र और ब्रजमण्डल एवं उसकी प्रकृति मिलकर एकात्म हो गए हैं। सूर सागर में कृष्ण की लीलाओं और गोपियों की विप्रलम्भ-भावना के साथ साथ प्रकृति के शतशः संश्लिष्ट-चित्र उपस्थित होते हैं। इन चित्रों में प्रकृति के अनेक रूप हमें मिलते हैं। अधिकांश रूप कोमल हैं। जिस प्रकार परुष रसों में सूर की वृत्ति नहीं रमती उसी प्रकार प्रकृति के परुष चित्र भी अधिक नहीं दिये गये। उनकी प्रकृति मूलतः कोमल और आनंदमय है। उसमें आनंद तत्त्व की प्रधानता इतनी अधिक है कि गोपियाँ वियोगावस्था में उसके आनंदमय रूप को सहन नहीं कर सकतीं। उनके उलाहना देने पर भी मधुवन के वृक्ष अवश्य ही हरे रहते हैं[1]। इससे यह स्पष्ट होता है कि सूरदास के द्वारा चित्रित की गई ब्रज की प्रकृति भागवत की प्रकृति के समान ही आनंदमय है। साथ ही वह कोमल और नित्य भी है।

इसी आनन्दमय, नित्य और प्रसन्नवदना प्रकृति में पात्रों की हृदय-भावनाओं के अनुसार थोड़ा परिवर्तन होता रहता है। श्याम के वियोग में गोपियों को उसके सुन्दर फूल अंगारे जैसे लगते हैं[2], उसमें इन्द्र के

---

१. मधुवन तुम कत रहत हरे।

२. वे जो देखे राते राते फूलन फूले डार।
हरि बिनु फूल झरी सी लागति झरि झरि परत अंगार।

भेजे हुये बादल प्रलय की वर्षा करते हैं और दावानल 'झरझराता' हुआ आता है परन्तु इन सभी परिवर्तनों के पीछे ब्रज की प्रकृति अपरिवर्तनशील है यह इस बात से स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास उसके आनंदमय कोमलरूप को ही नित्य मानते हैं। ऐसा लगता है जैसे ब्रज की प्रकृति के मूलतः आनंदमय रूप में कुछ समय के लिए विकार आ गया हो। आनंदमय की लीला भूमि और उसकी प्रकृति बीज रूप से निरंतर आनंदमय है।

ब्रज की प्रकृति की सबसे बड़ी महत्ता है कि उसकी गोद में एक अलौकिक चरित्र पल कर बड़ा हुआ है और उसी की अंचल छाया में उसने क्रीड़ा की है। कृष्ण लीला का भक्त इस बात को जानता है और इसीलिये वह कहता है—

दुर्लभ जन्म, दुर्लभ वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम तरंग[1]

यह केवल इसलिये कि वह वृन्दावन की सत्ता को कृष्ण से अलग सत्ताधारी नहीं समझता। एक तो वह कृष्ण की लीला भूमि है, दूसरे उसने कृष्ण के विकास में यथेष्ट भाग लिया है।

कृष्ण के जन्म और तदनंतर उनकी लीला में साथ देने के कारण अस्पष्ट रूप से ब्रज की प्रकृति का थोड़ा अपना व्यक्तित्व भी विकसित होगया है। कृष्ण के जन्म लेते ही हम उसे उनकी लीला में साथ देने के लिये तत्पर पाते हैं। रात अधिक अंधेरी हो जाती है, बिजली चमकने लगती है तथा भयंकर वर्षा होने लगती है[2] जो वसुदेव को कृष्ण को गोकुल पहुँचाने में सहायता देती है। प्रकृति की सहकारिता का दूसरा दर्शन हमें

---

१. गोपियों की उक्ति है—

हम न भई वृन्दावन रेनु।
जिन चरणन डोलत नंद नंदन नित प्रति चारत धेनु।
हमते धन्य परम ये द्रुम वन बालक बच्छ अरु धेनु।

२. निशि अँधेरी बीजु चमकै सघन बरषै मेह।

राधा-माधव के प्रेम-प्रसंग में मिलता है। घटायें घिर रही थीं, बिजली चमक रही थी। नंद को डर हुआ। उन्होंने राधा को बुलाकर कहा 'श्याम को घर ले जा। उसी दिन वर्षा-झड़ी में श्याम-श्यामा के हृदय में प्रेम का अंकुर उत्पन्न होता है—

गगन गरजि घहराइ जुरी घटा कारी।
पवन झकझोर चपला चमकि चहुँ ओर
सुवन तन चितै नंद डरत भारी॥
कह्यो वृषभानु को कुँवरि सो बोलि कै
राधिका कान्ह घर लिये जा री।
दोऊ घर जाहु संग नभ भयो
श्याम रंग कुँवर गह्यो वृषभान वारी॥
गये वन ओर नवल नंद किशोर
नवल राधा नये कुंज भारी।
अंग पुलकित भये मदन तिन तन
जपे सूर प्रभु श्याम श्यामा विहारी॥

इसके बाद तो ऐसे अनेक अवसर आते हैं जब ब्रज के लता, कुंज और उसकी ऋतुएँ राधा कृष्ण के मिलने का साधन उपस्थित करती हैं। कृष्ण-लीला का अधिक भाग गोकुल ग्राम से बाहर कालिन्दी तट पर बसे हुये लता-कुंजों में होता है। संयोग शृङ्गार के अवसर पर प्रकृति राधा-माधव के आनंद में वृद्धि करती है। ऋतुओं के परिवर्तन के साथ लीला प्रसंग का भी परिवर्तन हो जाता है[1]। ऐसा जान पड़ता है जैसे कृष्ण क लीला प्रकृति पर ही आश्रित हो। वसंत ऋतु आने पर लीला इस प्रकार चलती है—

---

१. जैसिय शरद चाँदनी निमल तैसोइ रास रग उपजायो।
तैसिय कनक बरन सब सुंदरि यह शोभा पर मन ललचायो।
तैसी हंस सुता पवित्र तट तैसेइ कल्पवृक्ष सुखदायो।

सुन्दर संग ललना विहरी, वसन्त सरल ऋतु आयी।
लै लै छरी कुँवर राधिका, कमल नयन पर धायी।
द्वादस वन रतनारे देखियत, चहुँ दिसि टेसू फूले।
बौरे अँबुआ और द्रुम वेली, मधुकर परिमल भूले।
सरिता सीतल बहत मंद गति, रवि उत्तर दिसि आयो।
प्रेम उमंगि कोकिला बोली विरहिन विरह जगाओ।
ताल-मृदंग, बीन बाँसुरि, डफ, गावत माधुरी बानी।
देत परस्पर गारि मुदित ह्वै, तरुनी बाल सयानी।

उसी लीला का शरद-ऋतु के आगमन पर यह रूप हो जाता है—

शरद निशि देखि हरि हरषि पायो।
विपिन वृन्दावन सुभग फूले सुमन रास रुचि श्याम के मनहिं आयो।
परम उज्ज्वल रैनि छिटकि रही भूमि पर सद्य फल तरुन प्रति लटकि लागे।
तैसोइ परम रमणीक यमुना पुलिन त्रिविधि बहे पवन आनंद जागे।
राधिका रमन वन भवन सुख देखिके अधर धरि बेनु सुललित बजाई।
नाम लै लै सकल गोप कन्यान के सबन के श्रवन वह ध्वनि सुनाई।

इस प्रकार हम देखते हैं प्रत्येक ऋतु में कृष्ण-लीला और प्रकृति में विशेष सामंजस्य उपस्थित हो जाता है। सूरदास के लीला-नायक और उनकी लीला को प्रकृति की पृष्ठ-भूमि से अलग करके देखना कठिन है।

भागवत में यह बात नहीं। वहाँ लीला और प्रकृति में इतना संबंध स्थापित नहीं किया गया है। भागवत में प्रकृति का अपना कोई व्यक्तित्व नहीं है। उसका प्रयोग केवल दो अर्थों में हुआ है। या तो उसका संबंध कृष्ण-भक्ति से जोड़ा गया है अथवा नीति और दर्शन-ज्ञान के कुछ सिद्धान्तों से। प्रत्येक स्थान पर जहाँ प्रकृति का कुछ परिचय मिलता है, भागवतकार उपदेशक बनाना नहीं भूला है। वस्तुतः सूरसागर का वह अंग जिसमें प्रकृति का चित्रण हुआ है पूर्णतः मौलिक है। सूरदास का प्रयोजन कृष्ण की लीला-भूमि और उसकी प्रकृति का वर्णन है। उन्हें

नीति और दर्शन से थोड़ा भी लगाव नहीं। उन्होंने प्रकृति के संश्लिष्ट चित्रों को नीति और दर्शन के आघात से खण्डित नहीं किया है। सूर का हृदय प्रकृति की ओर नैसर्गिक रूप से जाता है उन्हें दर्शन, नीति और धर्म के माध्यम की आवश्यकता नहीं। सूर की राधा और यशोदा की तरह सूर की प्रकृति भी संयोग में पूर्णतः संयोग और वियोग में पूर्णतः वियोग का अनुभव करती है। सच तो यह है कि वियोग में उसका रूप अधिक निखर जाता है क्योंकि तब वह हमारे हृदय के अधिक निकट आ जाती है। व्रज की प्रकृति गोपियों के हृदय का दर्पण है। कृष्ण की उपस्थिति और अनुपस्थिति का प्रभाव जिस प्रकार गोपियों पर पड़ता है उसी प्रकार व्रज की प्रकृति पर भी। सूर की संयोग लीलायें प्रकृति के इतनी निकट हुई हैं कि यदि ऐसा न होता तो हमें आश्चर्य होता। इसके साथ ही व्रज की प्रकृति अत्यन्त भाव प्रवण है। जहाँ कृष्ण के वियोग में उसकी यह दशा थी—

> नाचत नहीं मोर ता दिन ते बोले न वर्षा काल।
> मृग दूबरे तुम्हारे दरश बिनु सुनत न वेणु रसाल।
> वृन्दावन हर्यो होत न भावत देखो श्याम तमाल।

वहाँ कृष्ण का संदेश पाते ही—

> फूले व्याल दुरे ते प्रगटे पवन पेट भरि खायो।
> फूचो यश मूचो को बरणन तेहु तो सब बिसरायो॥
> निकसि कंदरा हू ते केहरि शिर पर पूँछ हिलायो।
> गहवर ते गजराज आइ अंग ही सर्व गर्व बढ़ायो॥
> ऊँचे वेसि विहंगम भामै शुक वनराइ कहायो।
> किलकि किलकि कुल सहित आपने कोकिल मंगल गायो॥

सूर ने प्रकृति के कोमल अंगों का ही चित्रण विशेष रूप से किया है। जहाँ वे कृष्ण की संयोग लीला का प्रसंग लिखते हैं, वहाँ वे प्रकृति को लीला की भूमि के रूप में देखते हैं। उस समय ऐसा जान पड़ता है

जैसे वे स्वयं उस लीला में भाग ले रहे हों और प्रकृति का ऐश्वर्य और कौतुक का खेल उनके सामने ही चल रहा हो। परन्तु जब कृष्ण मथुरा चले जाते हैं सूर प्रकृति को चित्रित करने का अपना दृष्टिकोण बदल देते हैं। वे गोपियों को अपना माध्यम बना लेते हैं और उन्हीं की आँखों से देखकर प्रकृति का चित्रण करते हैं—

ब्रज ते द्वै ऋतु पै न गईं।
ग्रीषम अरु पावस प्रवीन हरि तुम बिनु अधिक भईं।
उरध उसास समीर नयन घन सब जल जोग जुरे।
बरषि प्रगट कीन्हे दुर दादुर हुते जुदूर जुरे।

तथा—

पिक चातक बन बसन न पावहिं वायस बलिहि न खात।

विप्रलंभ के उद्दीपन के लिए उन्होंने प्रकृति का चित्रण नहीं किया यद्यपि संयोग-शृङ्गार के उद्दीपन के लिये उन्होंने सारी संयोग-लीलाओं में प्रकृति को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। विप्रलभ में सूर की प्रकृति गोपियों की तरह ही क्षीण, हीन और व्याकुल है। वह रूप रंग दिखाकर, गोपियों के विरह को बढ़ाती नहीं।

अब तक हम यह देख चुके हैं कि सूरदास के प्रकृति-वर्णन के चित्र अधिकतर कोमल हैं। सूर की प्रकृति स्वयम् कोमलता और सुन्दरता-प्रिय है। उनके चरित्र नायक की लीला का स्वरूप कोमल एवं सुन्दर होने के कारण उनकी वीथिका भी इसी प्रकार की हो सकती थी। परन्तु सूरदास ने अनेक स्थलों पर प्रकृति के कठोर और भयानक चित्र भी उपस्थित किये हैं; उनमें वे पूर्णतः सफल भी हुये हैं। प्रकृति का इस प्रकार का चित्रण केवल प्रसंग वश हुआ है और उससे परोक्ष में कृष्ण के शक्ति और शौर्य की व्यंजना होती है। गोवर्धन की पूजा से अप्रसन्न होकर इन्द्र ने मेघों को बुलाकर ब्रज को डुबाने की आज्ञा दी। उस समय सूरदास ने मेघों की भयानक प्रकृति का वर्णन इस प्रकार किया है—

मेघदल प्रवल वृज लोग देखैं।
चकित जहँ तहँ भये निरखि बादर नए ग्वाल गोपाल डरि गगन पेखैं।
ऐसे बादर सजल करत अति महाबल चलत घहरात करि अंधकाला।
चकृत भये नंद सब महरि चकृत नर नारि हरि करत ख्याला।
घटा घनघोर घहरात अररात दररात सररात ब्रज लोग डरपैं।
तड़ित आघात तररात उतपात सुनि नर नारि सकुचि तन प्राण अरपैं।

इस चित्र में एक ओर ब्रजवासियों के भयाकुल मनोभावों के द्वारा मेघों की भयंकरता की व्यंजना की गई है और दूसरी ओर श्रुत्यानुप्रास और दीर्घ स्वर की पुनरावृत्ति द्वारा भी यही बात प्रगट की गई है।

वृज पर बरसते हुये प्रलय मेघों का वर्णन सूरदास ने इस प्रकार किया है—

बादर घुमड़ि घुमड़ि आये ब्रज पर बरषत कारे धूमरे घटा अति ही जल।
चपला अति चमचमाति ब्रज जन सब डरडरात टेरत शिशु पिता
मात ब्रज गलबल।
गर्जत ध्वनि प्रलय काल गोकुल भयो अंधकार चकृत भये ग्वाल बाल
घहरत नभ करत चहल।

अथवा—

गिरि पर बरषन आये बादर।
मेघवर्त जलवर्त सैनि सजि आये लै लै आदर।
सलिल अखण्ड धार धर टूटत कियो इन्द्र मन सादर।
मेघ परस्पर इहै कहत हैं धोइ करहु ब्रज खादर।
देखि देखि डरपत ब्रजवासी अतिहिं भये मन कादर।
यहै कहत ब्रज कौन उबारै सुरपति किये निरादर।

तुलसीदास ने 'घन घमंड गरजत नभ घोरा' वाली पंक्ति में जिस कलापूर्ण ढंग से वर्षा की भयंकरता स्पष्ट की थी सूरदास उस कला से अपरिचित नहीं थे। उन्होंने अनुप्रास, कर्ण कठोर शब्दों और दीर्घावृत्ति

१३

सूर-साहित्य की कुछ अन्य ज्ञातव्य बातें

१ सूरसागर में अति प्राकृत[1] और अति प्राकृतिक[2]

सूरसागर तथा भागवत की तुलना करने से यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है कि भागवत में ही अतिप्राकृत और अति प्राकृतिक को स्थान मिल चुका है। भागवत के कृष्ण मानवोपरि हैं। वे अतिप्राकृत हैं और राधा उनकी लीला संगिनि प्रकृति अथवा माया हैं। वह भी अतिप्राकृत हैं। भागवत की कथा को ध्यान से पढ़ने पर पता चलेगा कि गोपी-गोप और व्रज-भूमि सभी अतिप्राकृतिक है। गोपी-गोप वास्तव में भगवान की प्रकृति अथवा माया के अनेक रूप हैं। व्रज-भूमि गोकुल की प्रतिमूर्ति है। भागवत में जो घटनायें घटती हैं उनमें से कितनी ही इस लोक के लिये असम्भव हैं। उनके पीछे यही ध्वनि होती है कि वे करण-कारण के संबंध से मुक्त हैं और एक अतिप्राकृत सत्ता के साथ उनका संबंध होने के कारण वे मूल में असम्भव होती हुई भी प्राकृतिक है।

सूरसागर भी इस प्रकार की घटनाओं से भरा पड़ा है। उसके कृष्ण भी मानवोपरि हैं। वह पूर्ण ब्रह्म हैं जो लीला मात्र के लिए पृथ्वी पर अवतीर्ण हुये हैं। इसीलिये उनके संबंध में ऐसी अनेक बातों का घटना असम्भव नहीं है जो अति प्राकृतिक हों। उनसे एक लाभ भी होता है। अति प्राकृतिक घटना का संबंध चरित्र से जुड़ जाने पर उसकी अलौकिकता स्पष्ट रूप से व्यंजित हो जाती है। उसका दैविक रूप भक्त को ग्राह्य होने

---

१. Supernatural power.

२. Supernatural object or event.

लगता है। सूरदास ने इस क्षेत्र में कुछ भी नवीनता नहीं दिखाई है। उन्होंने कृष्ण के अलौकिक चरित्र को स्पष्ट करने वाली सभी घटनाओं को भागवत से जैसा का तैसा ले लिया है। यह सूरदास की विशेषता है कि उन्होंने मौलिक कल्पना के द्वारा मानवीय चरित्र और मानवीय घटनायें ही उपस्थित कीं। अपनी प्रतिभा के बल से लौकिक और अलौकिक में इतना सामंजस्य उपस्थित कर दिया कि दोनों एक जैसी हो गईं। कृष्ण लीला के पाठकों को कृष्ण की मानवीय एवं अमानवीय लीलाओं में कुछ भेद अधिक नहीं देख पड़ता। सूरदास ने उनकी मानवीय और लौकिक लीलाओं को भी अमानवीय और अलौकिक लीलाओं के ऊँचे स्तर तक उठा दिया है। नीचे इस संबंध में कुछ अति प्राकृतिक स्थलों के उदाहरण दिये जायंगे।

(१) बंदी गृह में कृष्ण-जन्म संबंध की आश्चर्य-घटना—

चारि भुजा जाके चार आयुध निरखिले करताउ।
जो पै मन परतीत आवै नंद घर ले जाउ॥
श्वान सूते पहरुआ सब नींद उपजी गेह।
निशि अंधेरी बीजु चमकै सघन बरषै मेंह॥

(२) देवता, किन्नर, गंधर्व आदि की उपस्थिति—

आनंदे आनंद बढ्यो अति।
देवन दई दुंदुभी बजाइ सुनि मथुरा प्रगटे यादवपति॥

(३) माटी प्रसंग में—

देखो रे यशुमति बौरानी।
घर घर हाथ दिखावत डोलत गोद लिए गोपाल बिनानी।
जानत नाहिं जगत गुरु माधव यहि आये आपदा नसानी॥
जाको नाँव शक्ति पुनि ताकी ताही देत मंत्र पढ़ि पानी।
अखिल ब्रह्माण्ड उदर गति जाकी ज्योति जल थलहिं समानी॥

(४) ब्रज-भूमि के संबंध में सूरदास की धारणा—

नित्य धाम वृंदावन श्याम।
नित्य रूप राधा व्रजवाम॥
नित्य रास जल नित्य विहार।
नित्य मान खंडिताभिसार॥

इन कुछ अवतरणों के अतिरिक्त सूरदास सारे सूरसागर में इसी बात की व्यंजना करते हैं। चाहे प्रसंग असुर-वध का हो चाहे मुरली वादन का, यह स्पष्ट हो जाता है कि यह साधारण मनुष्य की लौकिक-लीला नहीं है। कृष्ण की अलौकिकता दिखाने के लिये सूरदास ने कई नवीन प्रयोग भी किये हैं। कुछ स्थानों पर उनका नाम न लेकर उनके स्थान पर किसी उपमान का नाम दे देते हैं। यह उपमान प्रतीक रूप से कृष्ण की अलौकिकता की व्यंजना करता है। अनेक पदों में उन्होंने कृष्ण को कमल कहा है। यद्यपि इस बात का निर्देश उन्होंने नहीं किया कि वे इस प्रकार किसी रहस्य की सृष्टि कर रहे हैं।

२. युग का चित्र[1]

उस युग में साधारण मनुष्य के जीवन का स्रोत जैसे सूख-सा गया था। सामान्य संस्कार उसी प्रकार होते थे जिस प्रकार आज भी होते हैं परन्तु जीवन में विलास की मात्रा अधिक बढ़ गई थी। समाज पतनोन्मुख था। मनुष्य का जीवन आलिंगन, चुम्बन, परिरम्भन और निरर्थक हँसी-खुशी में बीत जाता था। लोगों में संयम की थोड़ी भी मात्रा नहीं रही थी। परकीया के प्रति प्रेम का चलन समाज की जड़ को खा रहा था।

---

१. चौपडि जगन मडे जुग बीते।

× × ×

आलिंगन चुम्बन परिरंभन।
नख छत चारु परस्पर हासी॥
केतिक करुना वेलि चमेली।
सुमन सुगंध सिचाये॥

वैभव और ऐश्वर्य को प्रगट करने की मात्रा में भी वृद्धि थी। ग्राम पति बड़े-बड़े महल बनाकर द्वार पर हाथी बाँधते थे। जन-समाज उपासना के बाह्य अंगों पर अधिक बल देता, व्रत रखता और तीर्थ करता। उपासना की पद्धति कठिन थी। लोग जप तप, संयम, नियम धर्म और व्रत का कठिन मार्ग साधने का प्रयत्न करते थे किन्तु इस प्रकार का कठिन योग उनसे सधता था जो लोग धार्मिक प्रवृत्ति के होते थे। वे झूठे आडंबर के साथ ब्राह्मण और साधुओं को भोजन करा कर अपने पुण्य कर्म की इति समझ लेते थे। उनके जीवन में अस्थिर भावनाओं की प्रधानता थी। उनके सामने कोई आदर्श नहीं था। वे अपना सारा समय हास-विलास, चौपड़ और कलह में बिता देते।

सूरसागर से उस समय की धार्मिक परिस्थिति पर विशेष प्रकाश पड़ता है। उनके समय में नाथ-पंथी योगियों की प्रधानता रही होगी। भ्रमरगीत में इन गोपियों की कठिन साधना के सम्मुख भक्ति की सहज साधना की चेष्टा स्पष्ट दिखाई देती है। इन योगियों की साधना का उल्लेख भ्रमर-गीत में विशेषरूप से हुआ है। इनके साधन के अंग थे आसन ध्यान

रचहिं तल्प निशि भोग चतुर सम बहु एकादश पाये ॥
परसत सब अंग विलोकत क्रीड़त सुख सुख जीके।
ग्री चीर अलक भूषण फिरि साजत पिय भवनीके ॥
। सिख साजि सिंगार सकल त्रिय सुंदर बदन निहारत।
वेधि विलास सकल कौतुक रस छ दस अंग भरि डारत ॥
वन मद जन मद मादक मद धन मद विघ मद भारी।
म विवश पर नारि भजत दुइ पंच शरहि फिरि मारी ॥
रि पगारि महल मंदिर रचि राजत रंग अटारी।
भीतर भवन विचित्र विराजत पंच दुआदश द्वारी ॥

इसके आगे की पंक्तियाँ भी देखिये।

और आराधना। ये मुद्रा, भस्म, विषाण और मृग-चर्म धारण करते थे[१]। ये योगी गोरख का नाम लेकर अलख जगाया करते थे[२]। इनका कहना था कि सारे संसार को ब्रह्ममय देखो। ये अलख निरंजन के उपासक थे। इनका उपदेश इस प्रकार था। सब आसनों में पद्मासन सर्वोत्तम है। इस आसन पर बैठकर आँख मूँद कर ध्यान करो। उस समय तुम्हारे हृदय कमल में ज्योति का विकास होगा एवं तुम्हारा जीवात्मा इला, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों में होता हुआ ब्रह्मरंध्र तक पहुँच कर अच्युत, अविगत और अविनाशी ब्रह्म को प्राप्त कर लेगा[३]।

योग के अतिरिक्त उस समय निर्गुण उपासना का भी प्राधान्य था। निर्गुणोपासक ज्ञान को मुक्ति की प्राप्ति का साधन बताते थे। वेद-पुराणों की महत्ता अवश्य थी परन्तु उनके अध्ययन का लोप हो गया था। सर्व साधारण के लिए वे नाम मात्र थे। काशी सन्यासियों और तार्किक पंडितों का केंद्र था[४]।

---

१. आसन ध्यान, वाइ आराधन अलि मन चित तुम ताये।
मुद्रा भस्म विसान त्वचा मृग ब्रज युवतिन मन भाये॥

२. गोरख शब्द पुकारत आरत रस रसना अनुराग।

३. इंगला पिंगला सुषमना नारी।
सून्यो सहज में बसी मुरारी॥
ब्रह्म भाव करि मैं सब देखो।
अलख निरंजन ही को लेखो॥
पद्मासन इक मन चित लाओ।
नैन मूँदि अन्तर्गत ध्याओ॥
हृदय कमल में ज्योति प्रकाशी।
सो अच्युत अविगत अविनाशी॥

४. ऊधो तुम हो निकट के वासी।
यह निर्गुण लै ताहि सुनावहु
जे मुड़िया बसै कासी॥

सूर के चरित्र-चित्रण के संबंध में हम अन्यत्र लिख चुके हैं। परन्तु सूरदास जड़-चेतन, पशु-पक्षियों के स्वभाव के भी पारखी हैं। उन्होंने उपमा, उत्प्रेक्षा, उदाहरण एवं रूपक आदि अलंकारों के रूप में इनके स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया। सूरसागर ऐसी सामग्री से भरा पड़ा है। अतः इस विषय पर विशेष विवेचना की आवश्यकता नहीं जान पड़ती। एक स्थल से हम एक उदाहरण मात्र उठा लेते हैं—

३ स्वभाव-चित्रण

जैसे मीन जाल मों कूदत गनै न आपु लखाई हो।
तैसे कंस काल ढूक्यो है ब्रज में यादवराई हो।।
जैसे सिंह आपु मुख निरखै परे कूप में दाकै हो।
तैसेहिं कंस परम अभिमानी भूल्यो राजसभा के हो।।

सूरसागर में ब्रज का बड़ा सुन्दर चित्रण हुआ है। उसमें ब्रज के प्राकृतिक घन के चित्र तो हैं ही, वहाँ के गार्हस्थ्य जीवन का भी विस्तारपूर्ण वर्णन मिलता है। अनेक गार्हस्थ्य रीति-रिवाजों और आचार-विचारों का परिचय हमें इस ग्रंथ में मिलता है। यह लौकिक आचार अधिकतर कृष्ण की बाल-लीला-संबंधी पदों में मिलते हैं। भागवत में इस प्रकार के आचारों के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं लिखा गया अतः सूरसागर का वह भाग उनकी मौलिक कृति है। उन्होंने अपने समय के आचार-विचारों से जैसा परिचय प्राप्त किया वैसा उन्हें उपस्थित किया। जन्मोत्सव, छठी, नामकर्म, बरही, अन्नप्राशन, वर्ष-गाँठ, कनछेदन, गोवर्धन-पूजा आदि अनेक प्रसंग ऐसे हैं जिनमें सूरदास ने अपने समय के ब्रज के आचार-विचारों का चित्रण किया है। यह आचार-विचार पूर्णतः ग्राम्य है। सूरदास ने बड़ी स्वाभाविकता से इनका वर्णन किया है। ऐसे प्रसंगों में उन्होंने मनोविज्ञान की सामग्री उपस्थित की है।

४ ब्रज के आचार-विचार

१ जन्मोत्सव

ग्रह, लग्न और नक्षत्रों का शोध किया गया, पण्डितों ने वेद-मंत्र का उच्चारण किया। ग्वालिनों ने गाय और बालक समेटे, गुंजा और धातुओं को घिस कर उनके ऊपर चित्र बनाये, अपने सिर दही और मक्खन के मटके रक्खे, हाथों में झाँझ और मृदंग लिये गाय तथा बालकों के पीछे बजाती हुई नंद-घर की ओर चलीं। वे नाचती जाती थीं और पथ में दूध-दही छिड़कती जाती थीं।

नंद ने स्नान करके अपने हाथ में कुश लिया और खड़े होकर ब्राह्मणों के मस्तक पर चंदन किया। गुरुजनों (बड़ों) और ब्राह्मण को वस्त्र पहनाकर उनके पैरों पड़े।[1]

२ छठी

मागध सूतों ने आकर बधाई दी और दान-याचना की। सखियों ने सोहलो गाया, बाजे बजने लगे। मालिन आँगन में तोरण व वंदनवार बाँधने लगी। छोटी पालकी (डोलना) में बिठाकर बालक को आँगन में लाया गया। नाइन ने दधि-काँदो, सूत, नारंगी और महावर उपस्थित किये। सखियों ने बालक की आरती की। बालक को ढोलनी से उठाकर पालने में लिटा दिया गया। दाई को नेग मिला। अन्य भृत्यों को भाँति भाँति के कोरे कपड़े और पकवान बाँटे गये। सखियाँ पीले कपड़े पहन कर आईं। काजल रोरी लेकर छठी का कर्म किया।[2]

३ नामकरण

पुरोहित घर आये, उनका चरणोदक लेकर आसन दिया गया। विप्र, स्वजन, चारण और वंदी भी उपस्थित हुए। दूब को सिर में बँधाया ...र नई हल्दी तथा दही से बालक का टीका किया गया।[3]

---

१. सूरसागर स्कं० १० पद १८ पृ० १२८
२. " " ३५ पृ० १३२
३. " " ०६ पृ० १४०

४ अन्नप्राशन

लगभग छः महीना बीतने पर अन्नप्राशन संस्कार किया गया। पुरोहित को बुलाकर यशोदा शुभ राशि शोध कराई। शुभ दिन यशोदा ने सखियों को बुलाकर गीत गाया। यशोदा का नाम लेकर गालियाँ भी गाई गई।[1]

यशोदा ने स्वजाति की स्त्रियों को निमंत्रण दिया। उनके आने पर एक बड़ी जेवनार हुई। यशोदा के कहने पर नंद ने स्वजाति व अन्य जातियों के लोगों को भीतर बुलाया। उन्हें आदर के साथ बिठाया गया। यशोदा ने कृष्ण को उपटन करके नये वस्त्राभूषणों को पहनाया। पुत्र को जुठारने की घड़ी आई समझ कर नंद उन्हें गोद में लेकर बैठे। पुरुषों की मंडली उनके साथ आनन्द-विनोद करने लगी। थाल में खीर भर कर सामने रक्खी गई। नंद ने जब खीर कृष्ण के मुख में लगाई तो सब स्त्रियाँ गाने लगीं।[2]

५ *वर्ष-गाँठ*

यशोदा ने कृष्ण को उबटन लगाया, उन्हें स्नान कराया, उन्हें वस्त्राभूषण पहिनाया। माता ने पुत्र का मुख चुंबन करके वर्ष-गाँठ का डोरा खोला। सबको निमंत्रण दिया गया, आँगन लिपाया गया, चौक पुरा। विप्र बुलाये गये। अक्षत दूध के साथ बधावा उपस्थित किया गया। पँचरंग साड़ियाँ मँगाकर स्वजनों में बाँटी गई। नाच हुआ। गीत गाये गये। सखियाँ थाल में दही रोचन और फूल सजाकर बालक को देखने आईं। वर्ष-गाँठ की डोर में गाँठ लगाई गई।[3]

६ कनछेदन

नाई आया। बालक के हाथ में सोहारी और भेली दी गई। सींक में

---

१. सूरसागर स्कं० १० पद ८०   पृ० १४०

२. " " ८१

३. " " ८७, ८८ पृ० १४२

रोचन भर कर यशोदा ने कान पर चिन्ह किया। नाई ने उसी स्थान पर कान छेद दिया। उसी समय भीतर बैठी हुई स्त्रियाँ ढोलक पर ताल देकर गीत गाने लगीं। बालक पर न्योछावर किया गया। नंद ने ग्वाल वालों को वस्त्र पहनाया।[१]

७, गोबर्धन पूजा

शकट सजा कर सब ग्वाल-बाल गोबर्धन की ओर चले। साथ में बाजे बजते जाते थे और गीत चलते थे। ग्वाल बाल और नंद अपने साथ जो षटरस भोजन लाये थे उनको लेकर उन्होंने गोबर्धन की पूजा की। मक्खन, दही, दूध एवं छाछ के मटके पाँति में रक्खे गये। विप्र को बुलाकर यज्ञारम्भ किया गया। अन्नकूट को इस प्रकार ढेर के रूप में रक्खा गया कि उससे गोबर्धन का आकार बन गया। ग्वाल पर्वत के शिखर पर चढ़ कर जहाँ तहाँ दूध डालने लगे और उस पर वस्त्राभूषण चढ़ाने लगे। लौट कर घर-घर मंगलाचार हुआ और दीपमालिका का उत्सव मनाया गया।[२]

५ नाट्य

जिस प्रकार कृष्ण के अनेक रूपों में त्रिभंगी रूप भक्तों के अधिक प्रिय है उसी प्रकार अनेक लीला-प्रसंगों में वे प्रसंग उन्हें अधिक प्रिय हैं जिनमें नाट्य को स्थान मिला। लीला शब्द से स्वयं कौतुकमय कार्य्य-कलाप की व्यंजना होती है। अतः लीला को ही मोक्ष मानने वाले वल्लभ सम्प्रदाय के काव्य में यदि नाट्य को विशेष स्थान मिला है तो कोई आश्चर्य्य की बात नहीं। कृष्ण नटनागर हैं, वे अनेक व्यक्तियों की प्रेमानुभूतियों को जगाकर लोप हो जाते हैं और उनकी लीलाएँ बाद के प्रसंग में सीधे चित्रित न होकर स्मरण के रूप में उपस्थित हुई हैं। इस प्रकार सारे सूरसागर में संयोग की लीलाएँ ही प्रधान हैं।

---

१. सूरसागर स्कं० १० पद १, २ पृ० १४२।

२. गोबर्धन लीला प्रसंग पृ० २६६।

वियोग के प्रसंग में भी अपरोक्ष-रूप से सामने रहती हैं। इन लीलाओं में मुद्रा, भाव-भङ्गी और नाट्य को महत्वपूर्ण स्थान मिला है। एक तो ये वस्तुएँ रसोद्रेक के लिये आवश्यक हैं। दूसरे, भक्ति-पक्ष में इन्हीं लीलाओं एवं नाट्य मुद्राओं के द्वारा भगवान भक्त के लिये सहज सुलभ हो पाते हैं।

नाट्य दो प्रकार से प्रगट हुआ है। साधारण वर्णन द्वारा तथा उपालंभ और वार्तालाप के रूप में व्यंजना द्वारा।

१. भाजि गये मेरे भाजन फोरी।
लरिका सहस एक संग लीने नाचत फिरत साँकरी खोरी॥
माखन खाइ जगाइ बालकन बनचर सहित बछुरुआ छोरी।
सकुच न करत फागु सी खेलत गारी देत हँसत मुख भोरी।

२. बाँधों आजु कौन तोहि छोरे।
वहुत लँगरई कीनी मोसो भुजगहि रजु ऊखल सो जोरे।
जननि अतिरिस जानि बँधायो चितै वदन लोचन जल ओरे।
यह सुनि व्रज युवती उठि धाई कहत कान्ह अब क्यों नहिं चोरे।
ऊखल सो गहि बाँध यशोदा मारन को साँटी कर तोरे।
साँटी लखि ग्वालिन पछितानी विकल भई जहँ तहँ मुख मोरे।
सुनहु महरि ऐसी न बूझिये सुत बाँधत माखन दधि थोरे।
सूर श्याम को वहुत सतायो चूक परी हमते यह भोरे।

६ साम्प्रदायिक आचार

वल्लभ सम्प्रदाय में यद्यपि दार्शनिक दृष्टिकोण से पुष्टि (ईश्वरानुग्रह) की व्यवस्था की गई थी परन्तु स्वयं भक्त की ओर से उपासना रूप में सहज साधना भी वांछित थी। यों तो अन्य सम्प्रदायों में भी थोड़ी बहुत उपासना (आरती पूजा आदि) प्रतिष्ठित थी परन्तु वल्लभ सम्प्रदाय में इसे महत्वपूर्ण विस्तार दे दिया गया। इस विस्तार का कारण यह था कि कृष्ण-लीला में आदि से अन्त तक कृष्ण की मानवीयता

को महत्व मिला था। इसी से श्रीनाथ जी की प्रतिमा की पूजा-विधि में सारी कृष्ण-लीला का आरोप हो जाता था। साधारणतः इस वल्लभ सम्प्रदाय की उपासना के आचार-संबंधी अंग को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(१) नित्य आचार—इनमें श्रीकृष्ण का सारा दैनिक कार्य्यक्रम आ जाता था। प्रातःकाल सोकर उठने से रात्रि में शयन तक की दिन-चर्य्या में श्रीनाथ जी के आठ दर्शन होते थे जो इस प्रकार हैं १ मंगलाचार, २ शृङ्गार, ३ ग्वाल, ४ राजभोग, ५ उत्थापन, ६ भोग, ७ संध्या-आरती, ८ शयन। इन नित्य आचारों में कृष्ण के नवनीत प्रिय और गोपाल कृष्ण रूप को ही स्थान मिला है। इसमें राधा और गोपियों तथा उनके साथ की हुई शृङ्गार-लीला का कोई स्थान नहीं। सम्प्रदाय की पूजा-विधि में नित्य कर्मों की ही प्रधानता थी और प्रत्येक दिन प्रत्येक कर्म के साथ कुछ-गान-वादन कीर्तन का भी प्रबंध था। 'वार्ता' की कथा से मालूम होता है कि महाप्रभु ने कीर्तन का काम सूरदास को सौंपा था। सूरदास ने अनेक पद कीर्तन के समय ही गाये होंगे। सम्भव है उन्होंने बालकृष्ण, गोपाल कृष्ण और नवनीत प्रिय के संबंध में जितने पद कहे हैं उनके एक बड़ा भाग का निर्माण इसी प्रकार हुआ हो। अब ये सब पद बाल लीला के अंग हो गये हैं। उनमें से अधिक को अलग करके निकाल लेना कठिन है। सूरसागर में प्रत्येक पद के प्रारम्भ में यह लिख दिया गया है कि वह पद किस राग में गाया गया है। संगीत शास्त्र में प्रत्येक राग का समय नियत है। प्रत्येक नित्य आचार का एक निश्चित समय था। यदि सूर के पदों का रागों और उनके गाने के समय के अनुसार वर्गीकरण किया जाय तो सम्भव है कि इस विषय पर विशेष प्रकाश पड़े और हम उन पदों को अलग कर सकें जो नित्य कर्मों के लिये कीर्तन करते समय गाये गये थे।

नित्य आचारों ने सूर के काव्य को प्रभावित किया है यह दिखाना कठिन नहीं है। अनेक पद ऐसे भी मिलते हैं जिनमें व्यंजनों की नामावली

१४

सूर-साहित्य पर विहंगम दृष्टि

पिछले अध्यायों में हमने सूर-साहित्य का अध्ययन कर लिया। इस अध्याय में हम अपने अध्ययन की सामग्री पर एक बार मुड़कर दृष्टिपात करेंगे तथा यह देखेंगे कि सूर-साहित्य की सामान्य विशेषतायें क्या हैं और उसमें सूर कहाँ तक मौलिक हो सके हैं।

१. सूर-साहित्य का विषय गोपाल कृष्ण की गोकुल अथवा ब्रज-लीला है। यह ब्रज-लीला सूर-साहित्य का एक बड़ा भाग समाप्त कर देती है। इस लीला के अतिरिक्त कृष्ण-संबंधी अन्य प्रसंग भी हैं; अवतारों की कथायें भी हैं परन्तु उनमें न हमें भक्त सूरदास के दर्शन होते हैं न उनके कवि हृदय के। उनके केन्द्र में सूर नीरस उन्मन भाव से बैठे हुये हैं, वहाँ वे केवल कथा-गायक हैं।

२. इसके अतिरिक्त सूर-साहित्य में कुछ विनय के पद हैं। उनमें सूरदास अत्यन्त दीन भाव से आत्मनिवेदन करते हुये दिखाई देते हैं। सूर-साहित्य का यह भाग तुलसीदास की विनयपत्रिका के समान है किन्तु उतना उत्कृष्ट नहीं। इस भाग में सूर भक्त हैं। उनकी कवित्व शक्ति के दर्शन यहाँ हमें नहीं होते।

३. सूरसागर इन्हीं तीनों भागों का संश्लेष मात्र है, सामान्य ढंग पर हम उसके तीन भाग कर सकते हैं—

(क) विनय के पद (पहले स्कंध का प्रधान भाग)

(ख) अवतारों की कथायें (दूसरे स्कंध से नवें तक) और गोकुल के बाहर की कृष्ण-लीला (दशम स्कंध उत्तरार्द्ध)

(ग) गोकुल की कृष्ण-लीला (दशम स्कंध पूर्वार्द्ध)। उसके अतिरिक्त सूरसागर का एक अंश सूरसारावली के नाम से प्रसिद्ध है यह मुख्य भाग (स्कंधों) की अनुक्रमणिका मात्र समझा जाता है।

जैसा कि अन्यत्र सिद्ध किया गया है कि सूरसागर और भागवत में बहुत अधिक संबंध नहीं है। इसे भागवत का स्वतंत्र अनुवाद भी नहीं कह सकते। हाँ! जिस रूप में हमें वह आज प्राप्त है, उसका ढाँचा अवश्य भागवत के आधार पर खड़ा किया गया है। परन्तु किसने यह किया—सूरदास ने अथवा सूरसागर के प्रथम संग्रहकर्त्ता ने—इस बात को हम बिलकुल नहीं जानते। यदि सूरदास ने इसका ढाँचा खड़ा किया तो कब? ग्रंथ आरम्भ करने के पहिले यह ढाँचा उनके मन में था या अधिकांश पद समाप्त हो जाने पर उन्होंने स्वयं अथवा किसी अन्य की प्रेरणा से भागवत के ढाँचे पर क्रमबद्ध कर दिया और बीच की कड़ियों को स्वयं पूरा कर दिया।

४. सूरसागर अपनी भाषा और छंद दोनों के प्रयोग में मौलिक है। यह बात नहीं कि सूरदास से पहिले पद लिखे ही नहीं जाते थे। उनसे पहले कबीर एवं नानक आदि संत कवि पद-साहित्य का निर्माण कर चुके थे। उनसे भी पहले नाथ और सिद्ध-पन्थ के कवि-साधकों ने इसी प्रकार के पद लिखे थे यह आधुनिक खोजों से सिद्ध हो चुका है। संस्कृत-साहित्य में जयदेव के गीत गोविंद के पद इस समय प्रसिद्ध थे। वे बारहवीं शताब्दी में ही लिखे जा चुके थे। चौदहवीं शताब्दी में विद्यापति और चंडीदास ने भी इस प्रकार के पदों का व्यवहार किया था किन्तु जहाँ तक पता चला है, उत्तर-पश्चिम भारत में सगुणोपासना के लिए पदों का पहले पहल प्रयोग सूरदास ने ही किया। पश्चिम भारत में इससे पहले के जो पद मिलते हैं वे निर्गुण संतों के उपासना भाव को व्यक्त करते हैं। सम्भव है कि लोक-गीतों के रूप में इस तरह के गीत सगुणोपासना के लिये भी प्रचलित हों। ब्रज-भूमि में श्रीकृष्ण के लीला के पदों का लोक-गीतों के रूप में प्रचलित होना

असम्भव नहीं परन्तु साहित्य और रस से पूर्ण कृष्ण लीला के पद लिखने वालों में सूरदास का स्थान ही सर्व प्रथम है। जो साहित्य और कला के आन्तरिक रस को पहचानते हैं वे जानते होंगे कि इतनी मौलिकता भी बहुत अधिक है। सूरदास ने अपने प्रान्त के प्रचलित पदों को ही अपना कर उन्हें साहित्य, काव्य, रस और कला से इतना परिपूर्ण कर दिया, यह कुछ कम प्रतिभा की बात नहीं। संत कवियों के पदों के सामने सूर के पदों को रखने से उनका साहित्य-रस भली भाँति प्रगट हो जायगा। इस साहित्य-रस की सृष्टि सूरदास का ही काम था।

ब्रज भाषा की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृति से आठवीं-नवीं शताब्दी के लगभग हुई होगी। उसी समय भारत की अन्य आधुनिक भाषाओं का जन्म हुआ था। यह सम्भव नहीं कि दो शताब्दियों तक ब्रज भाषा ने कुछ विकास न किया हो अथवा उसमें लोक-साहित्य की रचना न हुई हो। परन्तु विकास अधिक नहीं हुआ। यह बात 'वार्ता' की भाषा से स्पष्ट होती है। यदि हम 'चौरासी वार्ता' की भाषा को सूरदास के समय की भाषा का उदाहरण मान लें तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सूरदास की प्रतिभा ने उसको शब्द कोष, माधुर्य्य और ध्वनि से कितना पुष्ट किया है। "उन्होंने एक इतः पूर्व काव्य में अप्रयुक्त भाषा को इतना सुन्दर, मधुर एवं आकर्षक बना दिया है कि लगभग चार सौ वर्षों तक उत्तर पश्चिम भारत की कविता का सारा राग-विराग, प्रेम प्रतीति, भजन-भाव इसी भाषा के द्वारा अभिव्यक्त हुआ"।[1]

५ सूर-साहित्य में हमें जीवन के एक ऐसे अंग का परिचय मिलता है जिसका सूरदास से पहले के भारतीय-साहित्य में कोई भी चिन्ह दिखलाई नहीं पड़ता। यह है बाल लीला। वल्लभाचार्य्य ने बालकृष्ण की भक्ति और पूजा की प्रतिष्ठा करके धार्मिक साहित्य के लिये एक नये प्रसंग की सृष्टि कर दी थी लेकिन कौन जानता है कि यदि सूरदास न होते तो

---

१. सूर साहित्य की भूमिका पृ० १७८

नवनीत प्रिय की लीला का परिचय संसार को इस रूप
यह आवश्यक है कि अष्टछाप के कुछ अन्य कवियों
कुछ पद बनाये हैं। वे इतने उत्कृष्ट नहीं जितना
और न उनमें बाल-जीवन के सब अंगों का इतना स्पष्ट
बहुत सम्भव है कि बाल-लीला के संबंध में पहला पद सूरदास ने ही बनाया हो।

सूरदास के बाद भी किसी हिन्दी कवि ने बाल-जीवन को इतने निकट से नहीं देखा। अन्य किसी वैष्णव कवि ने भी बाल-लीला का चित्रण इतनी सफलता से नहीं किया है।

६. सूर-साहित्य काव्य-शास्त्र के नव रस से भली भाँति पुष्ट है। इस क्षेत्र में सूरदास की मौलिकता यह है कि उन्होंने तीन ऐसे रसों की सृष्टि की है जिनका प्रयोग साहित्य में पहले नहीं हुआ था, अथवा जिनका कोई रूप उस समय तक स्थिर न हो सका था। ये तीनों रस हैं—वात्सल्य, मधुर और भक्ति। वात्सल्य-रस की सृष्टि सूरदास ने ही सबसे पहले की। उनसे पहले यह प्रसंग ही काव्य का विषय नहीं बनाया गया था। मधुर रस से हमारा तात्पर्य शृङ्गार के उस रूप में है जो राधा-कृष्ण के प्रेम में प्रस्फुटित होता है। काव्य-शास्त्र की दृष्टि से इसे शृङ्गार रस ही माना गया है परन्तु भक्त के लिये भगवान की शृङ्गार-लीला वास्तव में शृङ्गार नहीं, वह भक्त के लिए सहज और मधुर साधना है। भक्त भगवान के साथ सख्य भाव से रहता है और भगवान की यह लीला उस रस की सृष्टि करती है जिसका कोई नाम न होने के कारण हम उसे मधुर रस कहते हैं। राधा-कृष्ण के भक्तों के लिए उनकी विलास-लीला का स्मरण और गायन, हरि भजन तथा साधना से कम नहीं। मधुर रस की सृष्टि का श्रेय वास्तव में जयदेव को मिलना चाहिये। उन्होंने अपने 'गीत गोविंद' के संबंध में लिखा है—

अस "यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलास कला सु कुतूहलम् ।
मधुर कोमल कान्त पदावलिम्
शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम् ।"

और उनके बाद विद्यापति और चण्डीदास ने भी इस रस को साहित्य में उपस्थित किया था। परन्तु उनकी भाषा हिन्दी नहीं थी। हिन्दी साहित्य में इस रस की सृष्टि सूरदास ने ही की। विनय के पदों में भक्ति रस का सृजन हुआ है। सूरदास से पहले के सगुण भक्तों में भी भक्ति रस के दर्शन होते हैं। परन्तु सूरदास की भक्ति-भावना अत्यन्त सजीव है और उनका आत्मनिवेदन अत्यन्त तीव्र होगया है। इसलिये उनका भक्ति रस भी अत्यन्त परिपक्व रूप से हमारे सामने आता है। यहाँ हमें यह कह देना है कि यह भक्ति रस संतों की कविता के उज्ज्वल रस से भिन्न है।

७. सूरदास ने हमारे सामने कुछ सफल चरित्र उपस्थित किये हैं। नंद, यशोदा, कृष्ण राधा, उद्धव और गोपियाँ इन सबकी कल्पना में सूरदास की प्रतिभा ने अनेक स्थान पर मौलिकता दिखाई है। भागवत के चरित्रों से उनके चरित्र भिन्न हैं। उनका प्रभाव प्रत्येक पाठक पर पड़ता है। सूरदास ने अपने चरित्रों के जीवन के अनेक अंगों को नहीं छुआ है किन्तु जिन अंगों को छुआ है उसमें वे बहुत गहराई तक प्रवेश कर सके हैं। सूरदास ने अपने पात्रों की जीवन के किसी विशेष अंग को चित्रित करते हुए तत्संबंधी अनेकों पद कहे हैं। उनके पात्रों के जीवन में वही अंग विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। इस प्रकार पात्र के चरित्र की अनेक बार पुनरावृत्ति होने के कारण वह पाठक के अधिक निकट आ जाता है तथा उसका चित्र उसके मानस-पट पर इस दृढ़ता से अंकित हो जाता है कि वह उसे कभी भी नहीं भूल सकता। सूर की इतनी अधिक सहृदयता ने ही उनके चरित्रों को इतना प्रभावशाली बना दिया है कि उनमें से दो चरित्र (राधा-कृष्ण)

लगभग चार शताब्दियों तक साहित्य और कला पर अपना अधिकार जमाये रहे।

८. सूर-साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसका विषय अलौकिक होते हुए भी वह इतना सामान्य है कि बुद्धि और हृदय की साधारण से साधारण साधना वाला व्यक्ति भी उससे आनन्द उठा सकता है। उसके संस्कार उसके द्वारा परिष्कृत होकर ऊँचे तल पर उठ जाते हैं। स्वयं उसे सूर के काव्य की भाषा एवं विषय तक पहुँचने के लिये अधिक साधना नहीं करनी पड़ती। सूर के समस्त चित्र मानवी और सामान्य हैं। यशोदा माँ है, नन्द पिता हैं। कृष्ण पुत्र, सखा और विलास पटु प्रेमी हैं। गोपियाँ अनन्य प्रेम की अधिकारी प्रेमिकायें हैं। राधा चंचल लड़की है, अल्हड़ किशोरी है, विलास-चतुरा नायिका है, प्रोषितपतिका है और अंत में सामान्य भार्या है जो अपने पति के दोषों को भुला देती है और अपनी सौत को भी स्वीकार कर लेती है। चरित्रों की इसी सामान्यता के कारण सूर साहित्य प्रत्येक पाठक के निकट पहुँच जाता है।

९. सूरदास की कविता की सर्वप्रथम आलोचना कदाचित् महाप्रभु वल्लभाचार्य के मुख से हुई और वास्तव में यह सूर-साहित्य की सबसे महत्व-पूर्ण और सबसे अधिक सत्य आलोचना है। जब सूरदास जी ने श्री आचार्य जी महाप्रभु के आगे यह पद गाया... .. . ...'ब्रज भयो महर के पूत' जब यह बात सुनी, तो वार्ताकार के शब्दों में "श्री आचार्य जी महाप्रभू बहुत प्रसन्न भये और अपने श्री मुख ते कहे जो सूरदास जी मानों निकट ही हुते।" वस्तुतः किसी भी कवि की इससे अधिक प्रशंसा नहीं हो सकती कि उसने काव्य-विषय से पूर्णतः तादात्म्य स्थापित कर लिया है। यही कारण है कि सूर का काव्य हमें इतना प्रभावित करता है। वह उतना ही सजीव है जितना कि उसके नायक कृष्ण।

१०. सूर-साहित्य की दूसरी समालोचना कदाचित् नाभादास ने की है—

उक्ति चोज़ अनुप्रास बरन अस्थिति उचारी।
वचन प्रीति निर्वाह अर्थ अद्भुत तुकधारी।
प्रतिविम्वित दिवि दृष्टि हृदय हरि लीला भासी।
जनम करम गुन रूप सबै रसना परकासी।

इस आलोचना में सूरदास की कविता के लगभग सभी अंगों पर प्रकाश डाला गया है। उसकी उत्कृष्टता का कारण भी बता दिया गया है। नाभादास के अनुसार ये गुण हैं—

(क) उक्ति (२) चोज़ (३) अनुप्रास (४) बरन-स्थिति (५) वचन निर्वाह (६) प्रीति निर्वाह (७) अर्थ-निर्वाह (८) तुक (पदों के विषयों की अनेक प्रकार से पुनरुक्ति)। इस गणना में काव्य के सभी अंग आ गये हैं। सूर-साहित्य में इन सभी अंगों की पुष्टि बड़ी उत्तमता से हुई है। काव्य के अंतरंग के विषय में नाभादास मौन हैं। इसका कारण है कि वे भक्त हैं। उनके दृष्टिकोण से सूर-साहित्य के अन्तरंग की इससे अच्छी समालोचना नहीं हो सकती कि भगवान की कृपा से कवि को दिव्य-दृष्टि मिल गई है।

११. संक्षेप में, सूरसागर का विषय प्रेम की महान साधना है। यहाँ प्रेम शब्द का व्यापक अर्थ अभीष्ट है। उसमें स्त्री पुरुष के प्रेम-संबंध के अतिरिक्त मनुष्य-जीवन के अन्य प्रेमपूर्ण संबंधों का समावेश हो जाता है। वात्सल्य और सख्य प्रेम के ही रूप हैं। स्वयं भगवद्-भक्ति भी एक प्रकार से भगवान और भक्त का प्रेम संबंध है। इन प्रेम-संबंधों को कृष्ण-लीला में आरोप करके सूरदास ने वस्तुतः अपने भावों को ही पूर्ण आधार दे दिया है। कृष्ण-लीला के सभी प्रसंगों में अपरोक्ष रूप से एक पक्ष उनका है। इस प्रकार कृष्ण-लीला-गान के साथ-साथ उन्होंने अपने ही प्रेम को अधिक दृढ़ किया है। उनकी साधना, कृष्ण-लीला और गान एक रूप होकर हमारे सामने आते हैं। इसी साधना-भाव के कारण ये गोपियों के विरह-कथा को इतने विस्तार से कह सके हैं। "सूर के कृष्ण जब आँखों की ओट हुये तब से

अंत तक उन्होंने उन्हें हृदय से जाने नहीं दिया। संयोग में कृष्ण की मूर्त्ति आँखों में थी, वियोग में अंतस्थल में। सूर साहित्य में अंत तक वियोग की क्लेश कथा है जिसको सूर जैसे भावना भावभक्त ही सह सकते थे, शृङ्गारी कवियों के लिये यह असाध्य साधन था।"[1]

१२. सूर का पाठक यह भूल जाता है कि सूर कवि भी हैं वे केवल भक्त ही नहीं हैं। इसीलिये सूरसागर में रसिकता को स्थान पाता देखकर उसको आघात पहुँचता है। परन्तु 'भक्त' संज्ञा देकर सूर को अन्य कवियों की कोटि से अलग नहीं किया जा सकता। भक्ति तो व्यक्ति की एक विशेष धारणा या मनोवृत्ति[2]" है। यही कारण है कि सूर के साहित्य पर उस समय की काव्य-धाराओं का प्रभाव भी लक्षित है। उसमें नायिका भेद अलंकार प्रभृत्ति काव्यांगों को भी स्थान मिला है।

१३. कृष्ण-काव्य के तीन प्रधान गायक चण्डीदास, विद्यापति और सूरदास की तुलना करना महत्वपूर्ण सिद्ध होगा।

चण्डीदास ने सुख के बीच में दुख को देखा है तथा दुख के बीच में सुख को। वह मिलन-सुख में वियोग से आशंकित रहता है और विरह दुख में मूर्त्तिमान अनुराग बन जाता है[3]। उसकी राधा का प्रेम लोकोत्तर एवं स्वर्गीय है। उसमें हृदय-माधुर्य के सिवाय और कुछ भी नहीं है[4]। विद्यापति की कविता में रचना-कौशल, पद-लालित्य, वर्णना-माधुर्य और शब्द-विन्यास अत्यन्त उत्कृष्ट रूप में मिलता है। नारी-जीवन की कुतूहल स्थली वयःसन्धि और नवोढ़ा नायिका के विलास-विभ्रम का जितना

---

१. नंददुलारे वाजपेयी—सूरदास के विरहकाव्य की सुषमा।

२. वही।

३. सुखेर लागिया ये करे पीरिति।
दुख पाव तार चाहे।

४. निकषित हेम काम गन्ध नाहिं ताये।

सुन्दर चित्रण विद्यापति ने किया उतना किसी भी कवि ने नहीं किया परन्तु वे इससे ऊपर नहीं उठ सके। उन्होंने मिलन-सुख और विरह-दुख को अवश्य जाना है परन्तु हृदय के और भी गम्भीर स्थल उनकी पहुँच से बाहर रहे। उनकी कविता में प्रेमी की कठोर साधना, दुख की कठोर तपस्या और प्रेम का स्वर्गीय भाव उस प्रकार उज्ज्वल नहीं हो उठे जिस प्रकार चण्डीदास के काव्य में जिसमें आत्मा की आभा में शरीर-तत्व अदृश्य हो गया है[1]। जहाँ चण्डीदास सदैव ही अनुभव करते हैं—

नितु है नूतन पीरिति दुजन
तिल तिल बाड़ियाय

वहाँ विद्यापति केवल एक बार इस ऊँचे भावस्थल को स्पर्श कर सके हैं—

सखी रे कि पूछसि अनुभव मोय।
सहे पिरीत अनुराग बखानित
तिल तिल नूतन होय॥

चण्डीदास की कविता में यही 'नित नूतनता' है। उसमें भाव का महत्व और आवेग की गम्भीरता है। विद्यापति भोग के कवि हैं; चण्डीदास विशुद्ध प्रेम के। विद्यापति विरह-कातर रहते हैं, चण्डीदास को

---

१. मिलन के समय चण्डीदास की राधा की उक्ति—

दारुन ऋतुपति एति दुख देल।
हरिमुख हेरइते सब दुख गेल॥
यतहुँ आछिल मधु हृदयक साध।
सो तब पूरल पिया परसाद॥
रभस आलिंगन पुलकित भेल।
अधरहि पान विरह दुख गेल॥

चण्डीदास की राधा ऐसे अवसर पर भी अतृप्त रहती है—

दुहूँ दुहूँ कांदे विच्छेद भारिया

संयोग में भी सुख नहीं[1] । चण्डीदास ने मनुष्य की आत्मा में प्रवेश किया है । विद्यापति ने केवल वहिर्जगत के चित्र उपस्थित किये हैं[2] । विद्यापति की भाषा में जहाँ रचना-चातुर्य, प्राकृतिक चित्रांकन, शब्द विन्यास एवं पाण्डित्य है वहाँ चण्डीदास सहज भाव और सहज भाषा का कवि[3] है। उनकी कविता में मानुषी प्रेम क्षण-क्षण ऊपर उठता है और उन्नत होकर अमानुषिक प्रेम-राज्य की सामग्री बन जाता है[4] ।

सूरदास लीला के कवि हैं। उन्होंने कृष्ण चरित्र के उन स्थलों को छुआ है जिन पर चण्डीदास और विद्यापति ने ध्यान ही नहीं दिया । वात्सल्य, संयोग-वियोग एवं भक्ति उनके विषय हैं। इस प्रकार जहाँ वे विद्यापति और चण्डीदास की भूमि में उतरते हैं वहाँ उन्होंने अपने लिये मौलिक भूमि भी निर्माण की है। यह भूमि वात्सल्य की है। इन सभी भूमियों पर वे समान रूप से कुशल दीख पड़ते हैं। उनका भाव पक्ष उतना ही पुष्ट है जितना उनका काव्य पक्ष। उन्होंने प्रेम की व्यापकता का अनुभव किया है और उसे जीवन के अनेक संबंधों से अलग करके केवल एक पुरुष और एक स्त्री में केन्द्रित करके नहीं देखा। माता-पिता का प्रेम, सखा का प्रेम, सखियों का प्रेम, प्रमी-प्रेमियों का प्रेम और दाम्पत्य प्रेम इतना व्यापक क्षेत्र उपस्थित करते हैं कि हमें आश्चर्य होता है कि चण्डीदास अथवा विद्यापति इतने भिन्न क्षेत्रों में काम करके सफल भी हो सकते थे या नहीं। चण्डीदास के प्रेम की तरह उनके प्रेम में परकीया भावना नहीं। अपनी राधा की तरह उनका व्यक्तित्व भी विश्वासपूर्वक कृष्ण के व्यक्तित्व में मिल गया है। संयोग में पूर्णतः संयोग और वियोग में पूर्णतः वियोग। उनके प्रेम में आशंका का स्थान ही

---

१. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

२. नगेन्द्रनाथ वसु

३. दिनेश चंद्र सेन

४. रवीन्द्रनाथ ठाकुर

नहीं। उनके भ्रमर गीत में जिस विरह का चित्रण हुआ है वह विशदता, गाम्भीर्य और तन्मयता की दृष्टि से अद्वितीय है। अपनी राधा के सहारे चण्डीदास विरह की तन्मयता का अद्भुत चित्र उपस्थित अवश्य कर सके हैं परन्तु उनके काव्य में गोपियाँ कहाँ, ग्वाल-बाल कहाँ और ब्रज की व्याकुल प्रकृति कहाँ जिसकी विशाल रंगस्थली में राधा-कृष्ण का अलौकिक संयोग-प्रसंग चित्रित हुआ था। इनके अभाव में चण्डीदास के काव्य में भावुकता का समावेश हो गया है।

सूरदास ने अपने इष्टदेव से भक्ति का संबंध किया है मोह का नहीं। उनकी सख्य-भक्ति ने शृङ्गार के क्षेत्र में उन्हें वह बल दिया है जो न चण्डीदास को मिला, न विद्यापति को। उनके शृङ्गार-चित्रण में केवल अपने सखा की प्रेम-लीलाओं के चित्र उपस्थित करने का भाव है। स्वयं उनकी चित्त-वृत्ति इन लीलाओं की ओट में अपनी वासना का उद्घाटन नहीं करती। उन्होंने वासनाजन्य शृङ्गार को भस्मसात् करके लेखनी उठाई है और उनके काव्य का एक मात्र आश्रय अनन्य भाव से भगवान की अलौकिक लीलाओं का रूप-चित्रण है[1]।

चण्डीदास में भाव की गम्भीरता है, विद्यापति में काव्य-कौशल है। सूरदास में दोनों हैं[2]। वे सहजभाव से चण्डीदास और विद्यापति की काव्य-भूमि पर बढ़ते चले जाते हैं। उन्हें शृङ्गार की कालिमा लग जाने की तनिक भी चिन्ता नहीं। परन्तु वे पिछले दोनों कवियों की एकाङ्गी भूमि पर ठहर नहीं जाते। वे अपनी मौलिक काव्य-भूमि पर लौट आते हैं। इस काव्य-भूमि का आधार उनकी भक्ति है जो अपनी व्यापकता में वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति का अतिक्रमण करके अन्य सम्प्रदायों की भक्ति भावना के क्षेत्रों में भी पहुँचती है।

---

१. पं० नंद दुलारे वाजपेयी

२. सूर के काव्य कौशल के लिए इस पुस्तक का आठवाँ अध्याय देखिये।

१५

सूर के दृष्ट कूट पद

ज्ञान और साधना इतने सरल साधारण न हो जायँ कि उनमें विकार आ जाये इस प्रकार की भावना हमारे देश में प्राचीन काल से चली आती है। ऋषियों ने इसे वाञ्छनीय समझा कि जिस ज्ञान को उन्होंने अत्यंत कष्ट से प्राप्त किया था वह उपयुक्त पात्र को ही मिले। ऋग्वेद में बहुत कुछ प्रतीक रूप में कहा गया है। नरमेध और अश्वमेध को मानसिक बलि का प्रतीक बनाया गया। उपनिषद में प्रेय को प्राप्त करने के लिये इन्द्र को सहस्रों वर्ष तप करना पड़ा।

हिन्दी में इस प्रकार की प्रवृत्ति का परिचय हमें सिद्धों की कविताओं में ही मिल जाता है। नाथ-पंथी हठयोगियों और कबीर-पंथियों ने भी साधना द्वारा प्राप्त ज्ञान को छिपाने के लिये कूट पद कहे। कबीर की उलटबासियाँ प्रसिद्ध हैं। लोक-साहित्य में पहेलियाँ-मुकरियाँ आदि चलती थीं। उनमें कौतुक के लिये कूट उपस्थित किया जाता था। इन्हीं दोनों उद्गमों से प्रभावित होकर साहित्य में भी यह प्रवृत्ति आई। कुछ ऐसा कहा जाय जिसमें चमत्कार हो, अर्थ को छिपाने की चेष्टा हो, पाण्डित्य का प्रदर्शन हो सके। यमकालंकार ने इस कार्य में विशेष सहायता की।

भक्ति-साहित्य में हमें कूटों का पहला प्रयोग विद्यापति में मिलता है। अलंकार द्वारा उसकी सृष्टि की जाती है—

हरि सम आनन हरि सम लोचन हरितह हरिवर आगी।
हरिहि चाहि हरि-हरि न सोहावए हरि-हरि कए उठि जागी॥

माधव हरि रहु जलधर छाई।
हरि नयनी जनि हरि घरनी जनि हरि हेरइत दिन जाई॥

(यमक)

इस पद में हरि शब्द तेईस बार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।

विद्यापति के बाद सूर का साहित्य आता है। उनके दृष्टकूटों का अध्ययन करने से यह पता चलता है कि कदाचित् वे विद्यापति से प्रभावित हुये थे। उन्होंने कूट पदों को केवल यमक तक ही सीमित नहीं किया। उन्होंने अनेक प्रकार से उनका निर्माण किया और उनसे चमत्कार उत्पन्न करने के साथ-साथ काव्य-सौन्दर्य की सृष्टि में भी सहायता ली—

(१) अर्थ को स्पष्ट करने के लिये; परन्तु साथ ही साथ चमत्कार सृष्टि की भावना लिये हुये। इस प्रकार के कूट पदों में यमक का प्रयोग हुआ है।

सारँग[1] सम कर नीक-नीक सम सारँग[1] सरस बखाने।
सारँग[2] बस भय, भय बस सारँग[2] सारँग विसमै माने॥
सारँग[3] हेरत उर सारँग[4] ते सारँग[4] सुत ढिग आवै।
कुंती सुत[6] सुभाव चित्त समुझत सारँग[5] जाइ मिलावै॥
यह अद्भुत कहिवे न जोग जुग देखत ही बनि आवै।
सूरदास बिच समें समुझ करि विपई विपै मिलावै॥[1]

(२) रहस्यात्मक सौन्दर्य की सृष्टि करने के लिये। इस प्रकार के कूट पदों में यमक का प्रयोग नहीं है। इनमें उपमेय को छिपा कर केवल उपमान उपस्थित किये गये हैं और शरीर के अवयवों का क्रम लेकर उन्हें एक दूसरे के ऊपर अवस्थित कहा गया है।

गृह ते चली गोप कुमारि।
परक टाढ़ो देख अद्भुत एक अनुपम मार॥

---

१. हरिन, २ राग सारंग, ३ कृष्ण, ४ कमल, ५ हृदय, ६ कुंती-सुत = कर्ण (महाभारत का वीर योद्धा) = श्रवणेंद्रिय।

कमल ऊपर सरल कदली कदलि पर मृगराज।
सिंघ ऊपर सर्प दोई सर्प पर ससि साज॥
मद्ध ससि के मीन खेलत रूप कांत सुजुक्त।
सूर लखि भई मुदित सुन्दर करत आछी उक्ति॥

यह कृष्ण का सौन्दर्य चित्रण हुआ। कमल = चरण; कदलि = जंघ; मृगराज (सिंह) = कटि; सर्प = भुजा; ससि = मुख; मीन = आँखें।

अद्‌भुत एक अनूपम बाग।
जुगल कमल पर गज क्रीड़त है ता पर सिंह करत अनुराग॥
हरि पर सरवर, सर पर गिरिवर, गिरि पर फूले कंज पराग।
रुचिर कपोत बसे ता ऊपर, ता ऊपर अमृत फल लाग॥
फल पर पुहुप-पुहुप पर पल्लव, ता पर सुकपिक मृग मदकाग।
खंजन धनुष चंद्रमा ऊपर, ता ऊपर इक मनिधर नाग॥

यह राधा का चित्र है। कुछ प्रतीक ऊपर के पद में स्पष्ट कर दिए गये हैं। गजक्रीड़ा = चाल (नितंब भार भी निर्दिष्ट है) ; सरवर = नाभि; गिरिवर = कुच; कंज = कुचाग्र (पराग से लालिमा अर्थात् हेम वर्ण इंगित है); कपोत = कंठ; अमृत फल = मुख; पुहुप = चिबुक; पल्लव ॥ ओष्ठ; शुक = नासिका; पिक = स्वर; खंजन = नेत्र; धनुष = भौंह; चन्द्रमा = मस्तक; मणिधर नाग = सिंदुर-बिंदु के ऊपर की लट।

(३) विरह की कठिनता को स्पष्ट करने के लिये विद्यापति ने दृष्ट कूट को राधा और कृष्ण के सौन्दर्यांकन तक ही सीमित किया है। सूरदास ने इसका प्रयोग अन्य प्रसंगों के लिए भी किया है। वास्तव में दृष्टकूट उनके लिए एक काव्य-शैली हो गया है। इसमें वाक्यांश का वाच्यार्थ कुछ और है परन्तु उससे ठीक-ठीक भावार्थ निकालना पड़ता है, तब अर्थ निकलते हैं।

सखी री सुन परदेसी की बात।
अरध बीच दे गये धाम को हरि अहार चलि जात॥

ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध कर को बरजै मुहि षात।
रवि पंचम संग गये स्याम घन ताते मन अकुलात॥

इस पद में वाक्यांश का जो अर्थ निकलता है उस अर्थ के द्योतक शब्द के ध्वनि-साम्य वाले अन्य शब्द को लेकर उसका अर्थ लगाया जाता है।

धाम को अरध=पक्ष=पख (पखवाड़ा); हरि अहार=मांस, मास (महीना); ग्रह नक्षत्र अरु वेद अरध करि को बरजै मुहि पात=(ग्रह ६; नक्षत्र २७, वेद ४=४०; अर्द्ध=२०=बीस) विष; रवि पंचम=बृहस्पति (वार)=जीव (जीवन)

कहीं-कहीं दृष्टकूट वाक्यांशों की माला चलती है। यह माला एक पंक्ति पर समाप्त हो सकती है अथवा पूरे पद पर। एक भी कड़ी का अर्थ स्पष्ट न होने से सारा पद अस्पष्ट हो जाता है। यह कूटपदों का सबसे कठिन भेद है।

निस दिन पंथ जोहत जाइ।
दधि को सुत सुत तासु आसन विकल हो अकुलाइ॥
गंधवाहन पूत बाँधव तासु पतनी भाइ।
कबै दृग भर देखवो जू सबो दुख बिसराइ॥
अजा भख की हानि हमको अधिक ससि मुप चाइ।

दधि को सुत=उदधि में उत्पन्न होने वाला कमल; सुत तासु=ब्रह्मा (पुराणों में ब्रह्मा की उत्पत्ति कमल से मानी गई है); तासु आसन=हंस=जीव। (संत साहित्य में हंस जीवात्मा का प्रतीक है); गंधवाहन=पवन; पूत=पवन पुत्र भीम; गंधवाहन-पूत बाँधव=भीम के सहोदर अर्जुन; तासु पतनी भाइ=सुभद्रा के भाई कृष्ण; अजा भष=पत्ते=पत्र।

जहाँ कूट अधिक क्लिष्ट नहीं है अथवा उसका थोड़ा पुट है वहाँ वह रस के उद्रेक में सहायता करता है। ऐसे अवसर पर अर्थ-वैचित्र्य अनुचित

नहीं है, वह काव्य का गुण हो जाता है। उदाहरण के लिए हम एक पद उपस्थित करते हैं—

तैं जु नील पट ओट दियो री।
सुनि राधिका स्याम सुन्दर सों बिनहि काज अति रोस किया र।॥
जल सुत बिंब मनहु जल राजत मनहु सरद ससि राहु लियो री।
भूमि घिसनि किधौं कनक षंभ चढ़ि मिलि रस ही रस अमृत पियो री॥
तुम अति चतुर सुजान राधिका कत राष्यो भरि मान हियो री।
सूरदास प्रभु अंग-अंग नागरि मनो काम कियो रूप बियो री॥
(जलसुत =कमल; भूमिघिसन =सर्प अथवा यमुना)

यहाँ यह प्रश्न होता है कि दृष्ट कूटों के लिखने में सूर का क्या तात्पर्य है? सूर की सहज काव्य-प्रकृति इस ओर क्यों झुकी? क्या इसमें कुछ रहस्य है? इस अध्याय को आरम्भ करते हुए हमने कहा है कि साधना को छिपाने की एक प्रवृत्ति हमारे यहाँ चली आती है परन्तु हमें स्पष्ट करना होगा कि सूर की साधना किस प्रकार की थी और उन्होंने उसे क्यों गोपनीय समझा।

सूरदास की साधना का केन्द्र राधा कृष्ण का रूप था। अनेक भंगिमाओं, लीलाओं और मुद्राओं में इस रूप को रख कर उस पर ध्यान जमाना भक्त का ध्येय था। सूरदास ने एक स्थान पर इसे सहज समाधि कहा है। कूट-पदों में कृष्ण के ऐसे चित्र सुरक्षित हैं जिनमें इसी प्रकार के रूप हैं जो भक्त की ध्यान, धारण और समाधि के लिए आवश्यक हैं। हाँ, इन चित्रों में कुछ साधारण समाज को कलुषित लग सकते थे। भक्त को इनमें किञ्चित भी दूषण दिखलाई नहीं देता। परन्तु उनका विकृत होकर निरादर पाना संभव था। इसीलिए उन्हें गोप्य रखा गया। वास्तव में शुद्धता-अशुद्धता मन और हृदय की वस्तु है। पाप पुण्य और नैतिकता-अनैतिकता की भावनाएं बदलती रही हैं। इसीलिए हम इस युग में भक्त साधकों की हँसी उड़ाते हैं और उन्हें विकृतमनः समझते हैं। कुछ उदाहरण देकर हम अपने मंतव्य को स्पष्ट करेंगे—

(१) देखत आजु नाहीं दोइ।
नंद नंदन श्रो छबीली राधिका रुचि भोइ।
मघ बादर बीच मनि में स्याम सूरत देप।
पुंडरीक विचार लागो लेन गंध विशेप।
इन्द्र सुत-सुत बीच उन लप लगे चूमन चाहि।
हँसत दोऊ दुहुन को लस सूर वलि वलि जाहि।

(बादर = पयोधर; इन्द्र सुत-सुत = बाली का पुत्र अंगद = बाजूबन्द)

(२) देषि सखी पांच कमल द्वौ संभु।
एक कमल बृज ऊपर राजत निरपत नैन अचंभु ॥
एक कमल प्यारी कर लीन्हें कमल सकोमल अंग।
जुगल कमल सुत कमल विचारत प्रीत न कबहूँ भंग ॥
षटजु कमल मुख सनमुख चितवत बहुविधि रंग तरंग।
तिन में तीन सोम बंसीवट तीन तीन सुक सीपज अंग ॥
जेई कमल सनकादिक दुर्लभ जिनते निकसी गंग।
तेई कमल सूर नित चितवत नीठ निरन्तर संग ॥

झाँकी इस प्रकार है। राधा ऊँचे पर खड़ी हैं। कृष्ण का मुख उनके हृदय पर है। उनके मुकुट में राधा की झाईं पड़ रही हैं।

(पाँच कमल = १ कृष्ण का मुख (१)। २ उनके दोनों नेत्र (२) ३ उनके हाथ (२) जो राधा के पयोधर पर हैं। दो संभु = राधा के दो पयोधर; एक कमल व्रज ऊपर राजत = राधा का मुख अथवा चंद्रमा; एक कमल प्यारी कर लीन्हीं = एक हाथ कृष्ण का राधा अपने हाथ में पकड़े हैं; जुगल कमल = राधा-कृष्ण; सुत कमल = ब्रह्मा; षटजु कमल = राधा की झाईं कृष्ण के मुकुट में व कृष्ण का मुख (१ मुख + दो नेत्र)। इस प्रकार एक अपूर्व झांकी उपस्थित की गई है।

(३) देखे चारि कमल एक साथ।
कमलहि कमल गहे लावति है कमलहि मध्य समात ॥

सारँग पर सारँग खेलत हैं सारँग ही सो हँसि-हँसि जात।
सारँग श्याम और हू सारँग संरँग सो करै बात॥

(इस पद में मधुर भावना की वह मूर्ति है जिसे आज की साहित्यिक नैतिक भावना कलुषित कहेगी।)

(४) राधे आज मदन-मदमाती।
सोहत सुन्दर स्याम संग के खरचत कोट काम कल थाती॥
अंतरिच्छ श्री वंधु लेत हरि त्योंहीं आप आपनी घाती।
ग्रीषम पवन लेत हरि हरि करि ग्रीषम पवन लेत निज छाती॥
यह कौतुक विलोकि सुनु सजनी माला दीपक की चित थाती।
सूरदास बल जात दुहुन की लिपि-लिपि हृदय कथा चित पाती॥

(अंतरिच्छ=अधर; श्री वंधु=सुधा; ग्रीषम पवन=लपट; दीपक माला=अलंकार। इस पद में सूरदास जयदेव से होड़ करने चले हैं।)

अलंकार स्पष्ट करने और नायिका भेद का निरूपण करने के लिये भी कूट का प्रयोग किया गया है। यह सूर की मौलिकता है।

ठाढ़ी जलज-सुता कर लीन्हें।
दधि सुत वाहन हित सजनी भप विचारवित दीने॥
को जानै केहि कारन प्यारी सो लष तुरते उठाने।
चपला औ बारह रस आखर आग देख झपटाने॥
तद्गुन देख सबै मिल सजनी मन ही मन मुसुकानी।
सूरश्याम को लगी बोलावन आपु सयानप मानी॥

(दधिसुत-वाहन=हंस; जलजसुत=मोती; चपला औ बारह रस आखर=च [पला]+को [ल]+र [स]=चकोर। अंगारा समझ कर हंस चला गया, चकोर झपटा। अज्ञात योवना में यौवन का प्रादुर्भाव हुआ, यह समझ कर सखियाँ हँसी और कृष्ण को बुलाने लगीं।)

सच तो यह है कि साहित्य लहरी में संग्रहीत सूरदास के दृष्टकूट पदों पर अभी विचार ही नहीं हुआ है। इन पदों का अध्ययन करने से हम

सूरदास की भक्ति-साधना के संबंध में बहुत सी नवीन ब. कर सकेंगे। संभव है, अन्य किसी पुस्तक में हम स्वय. अंतर्हित साधना पद्धति*[1] पर विशेष प्रकाश डाल सकें और साधनार्थ का उद्घाटन*[2] कर सकें। जब तक यह काम : और हम कृष्ण-भक्तों की साधना की उचित पृष्ठभूमि उपस्थित नहीं कर सकते, तब तक हम न उनके साथ न्या है, न कृष्ण-काव्य और उसके द्वारा प्रभावित रीति-काव्‍ समझ सकते हैं।

---

* १. Estoricism.

* २. Estoric interpretation.

१६

सूर और तुलसी

यदि जन-प्रसिद्धि को कवि की महत्ता का माप-दण्ड माना जाय तो सूरदास तुलसीदास से बड़े हैं। "सूर सूर तुलसी ससी[१]" वाला दोहा प्रचलित ही है। परन्तु जन-प्रसिद्धि का संबंध कई बातों से होता है और हम उसे काव्य की अंतिम कसौटी नहीं मान सकते। विद्वानों ने सूर और तुलसी की तुलना की है और उन्हें कुछ निश्चित करने में कठिनता अवश्य पड़ी है। बा० श्यामसुन्दर दास ने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में लिखा है[२]—

"तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। सूरदास के संबंध में कहे गये निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—'सूर सूर तुलसी ससी'[१]—आदि।

परन्तु मिश्रबन्धु लिखते हैं—

"हम लोगों का अब यह मत है कि हिन्दी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि के समान यह हिंदी के प्राचीन सत्कवि हैं...।"

---

१. सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसव दास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

२. हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० ३२७ संशोधित संस्करण सं० १९९८

३. मिश्रबंधु—हिन्दी नवरत्न।

सूरदास की भक्ति-साधना के संबंध में बहुत सी नवीन बातों का अन्वेषण कर सकेंगे। संभव है, अन्य किसी पुस्तक में हम स्वयम् दृष्टकूटों में अंतर्हित साधना पद्धति*[1] पर विशेष प्रकाश डाल सकें और सूर-साहित्य के साधनार्थ का उद्घाटन*[2] कर सकें। जब तक यह काम नहीं हो जाता और हम कृष्ण-भक्तों को साधना की उचित पृष्ठभूमि देकर सामने उपस्थित नहीं कर सकते, तब तक हम न उनके साथ न्याय कर सकते हैं, न कृष्ण-काव्य और उसके द्वारा प्रभावित रीति-काव्य को ठीक-ठीक समझ सकते हैं।

---

* १. Estoricism.

* २. Estoric interpretation.

१६

सूर और तुलसी

यदि जन-प्रसिद्धि को कवि की महत्ता का माप-दण्ड माना जाय तो सूरदास तुलसीदास से बड़े हैं। "सूर सूर तुलसी ससी[१]" वाला दोहा प्रचलित ही है। परन्तु जन-प्रसिद्धि का संबंध कई बातों से होता है और हम उसे काव्य की अंतिम कसौटी नहीं मान सकते। विद्वानों ने सूर और तुलसी की तुलना की है और उन्हें कुछ निश्चित करने में कठिनता अवश्य पड़ी है। बा० श्यामसुन्दर दास ने 'हिंदी भाषा और साहित्य' में लिखा है[२]—

"तुलसी का क्षेत्र सूर की अपेक्षा भिन्न है। व्यवहार दशाओं की अधिकता तुलसी तथा प्रेम की अधिक विस्तृत व्यंजना सूर के काव्य में प्राप्त होती है। पर शुद्ध कवित्व की दृष्टि से दोनों का समान अधिकार है। सूरदास के संबंध में कहे गये निम्नांकित दोहे को हम अनुचित नहीं समझते—'सूर सूर तुलसी ससी'[१]—आदि।

परन्तु मिश्रबन्धु लिखते हैं—

"हम लोगों का अब यह मत है कि हिन्दी में तुलसीदास सर्वोत्कृष्ट कवि हैं उन्हीं के पीछे सूर का नम्बर आता है। महात्मा सूरदास हिंदी के वाल्मीकि हैं। वाल्मीकि के समान यह हिंदी के प्राचीन सत्कवि हैं...।"

---

१. सूर सूर तुलसी ससी, उडगन केसव दास।
अबके कवि खद्योत सम, जहँ तहँ करत प्रकास॥

२. हिन्दी भाषा और साहित्य पृ० ३२७ संशोधित संस्करण सं० १९९४

३. मिश्रबंधु—हिन्दी नवरत्न।

ला० भगवान दीन का कहना है कि श्री गोस्वामी तुलसीदास जी सूरदास जी से दो एक क़दम आगे बढ़े हुए दिखाई पड़ते हैं[१]। डा० जनार्दन मिश्र ने भी तुलसी को सूर से पहले स्थान दिया है। वे लिखते हैं, "सूरदास निस्सन्देह महान हैं, परन्तु उनमें जीवन की वह अन्तर्दृष्टि नहीं जो तुलसी में है। तुलसी ने मानव-जीवन के विभिन्न क्षेत्रों के आदर्शों को काव्य का विषय बनाया है। सूरदास केवल जीवन के कुछ ही अंगों तक सीमित रहते हैं। यही कारण है कि उन्हें वह स्थान नहीं मिला जो तुलसी को मिला"[२]। उनके इस कथन से स्पष्ट होता है कि उन पर पं० रामचन्द्र शुक्ल की तुलसीदास विषयक आलोचना का स्पष्ट प्रभाव है परन्तु बाद की पंक्तियों में उन्होंने तुलसीदास और सूरदास के संबंध में विस्तृत विवेचना करके प्रचलित मतों में सामंजस्य बिठाने की चेष्टा की है। नलिनी मोहन सान्याल ने अवश्य सूर को तुलसी से बड़ा माना है[३]।

सूरदास और तुलसीदास का सबसे विस्तृत तुलनात्मक अध्ययन पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उपस्थित किया है। अन्य आलोचकों के कथन का आधार उन्हीं की तुलना है। नीचे हम उनके अध्ययन का सार संक्षेप में देते हैं—

(१) "तुलसी का ब्रज भाषा और अवधी दोनों काव्य-भाषाओं पर तुल्य अधिकार था और उन्होंने जितनी शैलियों की काव्य-रचना प्रचलित की उन सब पर बहुत उत्कृष्ट रचना की है। यह बात सूर में नहीं है। सूरसागर की पद्धति पर वैसे ही मनोहारिणी और सरस रचना तुलसी की गीतावली में मौजूद है; पर रामचरित मानस और कवितावली की शैली की सूर की कोई कृति नहीं है।[४]"

---

१. सूरपंच रत्न—अन्तर्दर्शन पृ० १६४

२. The Religious poetry of Surdas, p. 147

३. सान्याल—भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास भूमिका पृ० ३

४. भ्रमरगीत सार की भूमिका

(२) "मनुष्य जीवन की जितनी अधिक दशायें, जितनी अधिक वृत्तियाँ तुलसी ने दिखाई है उतनी सूर ने नहीं।[१]"

(३) "तुलसी ने अपने चरित्र-चित्रण द्वारा जैसे विविध प्रकार के ऊँचे आदर्श खड़े किये हैं वैसे सूर ने नहीं।[१]"

(४) "तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी है और सूर की एकमुखी। पर एकमुखी होकर अपनी दिशा में जितनी दूर तक की दौड़ लगाई है उतनी दूर तक की तुलसी ने भी नहीं।[१]"

(५) "सूर में साम्प्रदायिकता की छाप तुलसी की अपेक्षा अधिक है।[१]"

(६) "तुलसीदास में लोक-संग्रह का भाव पूरा पूरा है। उनकी दृष्टि लोक विस्तृत है। शिव और राम को एक दूसरे का उपासक बनाकर उन्होंने शैवों और वैष्णवों में भेद-बुद्धि को रोकने का प्रयत्न किया था। पर सूरदास जी का इन सब बातों की ओर ध्यान नहीं था।[२]"

इसी प्रकार की तुलना के आधार पर शुक्ल जी का कहना है—"न जाने किसने यमक के लोभ से यह दोहा कह डाला कि सूर सूर तुलसी ससी उडगन केसव दास।[१]" इससे यह ध्वनि निकलती है कि वे तुलसी दास को सूरदास से ऊँचा स्थान देते हैं।

अब हम ऊपर दिये गये तर्कों पर विचार करेंगे।

(१) इस कथन में दो तर्क उपस्थित किये गये हैं (क) तुलसी ने ब्रज भाषा और अवधी पर समान अधिकार दिखाया है (ख) उन्होंने अपने समय की सभी प्रचलित शैलियों पर रचना की।

ये दोनों तर्क इन दोनों कवियों के काव्य-पक्ष पर कोई भी प्रकाश नहीं डालते। उनका सम्बन्ध आचार्यत्व से है। इन तर्कों से यह अवश्य जान पड़ता है कि तुलसी में सूर की अपेक्षा पाण्डित्य की मात्रा अधिक थी और वे छंद-शास्त्र से भली भाँति परिचित थे। यदि पाण्डित्य और

---

१. तुलसी ग्रन्थावली: खण्ड ३—प्रस्तावना पृ० २४१

आचार्यत्व की तुलना अभीष्ट होती तो निस्सन्देह यह तर्क ठीक होता किन्तु इनका सम्बन्ध दोनों कवियों के काव्य की आत्मा से न होकर उनके अत्यन्त गौण बाह्य रूप से है जिसके निर्माण करने में शिक्षा-दीक्षा का हाथ हो सकता है कवि-प्रतिभा का नहीं।

(२) यह सत्य है कि तुलसीदास ने राम के जीवन-चरित्र के साथ साथ अन्य चरित्रों का भी चित्रण किया है तथा उनके पारस्परिक-संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। स्वयं उनके राम, पुत्र, भाई, पति, भक्तवत्सल, योद्धा एवं मर्य्यादा-रक्षक हैं। तुलसी के काव्य में जीवन की अनेक दशाओं का स्पर्श किया गया है। इतना सब होने पर भी हम यह नहीं कह सकते कि इसका कितना श्रेय तुलसी को है और कितना परम्परागत राम-कथा को। वास्तव में राम-कथा को काव्य-बद्ध करने वाला कोई भी कवि जीवन के अनेक अंगों को स्पर्श किये बिना नहीं रह सकता। तुलसी के सामने राम-कथा का जो रूप आया उन्होंने वही अपने काव्यों के द्वारा हमारे सामने रक्खा है। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि सूर ने जीवन के इतने अधिक अंगों का स्पर्श क्यों नहीं किया। इसका कारण यह है कि यद्यपि कृष्ण का चरित्र राम के चरित्र से अधिक विशद है परन्तु वह जीवन के इतने अधिक अंगों को नहीं छूता। भागवत के दशम स्कंध के पूर्वार्द्ध की सारी कथा को सूरदास ने अपना लिया है। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध की कथा में कृष्ण मित्र, योद्धा और राजनीतिज्ञ के रूप में आते हैं एवं उनके असुर-नाशक रूप का विकास होता है। महाभारत में कृष्ण का मित्र, योद्धा और राजनीतिज्ञ का रूप भागवत से भी अधिक स्पष्ट है। इनके अतिरिक्त उसमें कृष्ण का ज्ञानी रूप भी हमारे सामने आता है। यदि भागवत और महाभारत के कृष्ण-चरित का संश्लेष किया जाय तो एक ऐसे पूर्ण-मानव का चित्र बनता है जिसने जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम किया है, जो क्रमशः नवनीत प्रिय बालक, चंचल किशोर, तरुण प्रेमी, प्रौढ़ मित्र, योद्धा, राजनीतिज्ञ और ज्ञानी है। परन्तु सूरदास के सामने इस प्रकार का कोई संश्लिष्ट

चित्र उपस्थित नहीं था। वे कोई प्रबंध भी नहीं लिख रहे थे। सूरदास ने जिस छंद में अपनी कथा कहना आरम्भ किया था वह भी जीवन के इतने क्षेत्रों में दौड़ने में असमर्थ था। इस प्रकार अनेक क्षेत्रों को छूने से उनका कोई ध्येय भी सिद्ध नहीं होता था। वे आदर्श चरित्र उपस्थित नहीं कर रहे थे।

कृष्ण-चरित्र की एक विशेषता है। भागवतकार और महाभारतकार दोनों इसे समझते हैं। उनके नायक अलौकिक है। अनेक संबंधों से आबद्ध होते हुये भी वे सदैव उदासीन और अलिप्त रहते हैं। इसी कारण उनका चरित्र विविध रूप धारण करता हुआ भी अनेक लौकिक संबंधों में विकसित नहीं हुआ। वाल्मीकि के राम लौकिक थे, अतः उनके लौकिक जीवन के अनेक अंग विकसित हो पाये हैं। यह कृष्ण-कथा का दोष है कि उसमें मानवीय-संबंध की अनेकता नहीं दिखाई पड़ती। जहाँ मानवीय संबंध हैं भी, वहाँ भी कथा में मनोवैज्ञानिक स्थल नहीं आ पाये हैं। यदि हम राम और कृष्ण की कथाओं का तात्विक भेद बताना चाहें तो हम उसे केवल यह कह कर प्रगट कर सकते हैं कि कृष्ण-कथा लीला मात्र है। परन्तु राम की कथा चरित्र है। कृष्ण-कथा की इसी विशेषता के कारण सूर मनुष्य-जीवन की उतनी अधिक दशायें नहीं दिखा पाये हैं जितनी तुलसी ने दिखाई हैं। दोष उनका नहीं है वास्तव में किसी कवि के काव्य की आलोचना करते समय हमें यह ही नहीं गिनना चाहिये कि उसने जीवन की कितनी दशायें दिखाई हैं। हमें यह देखना होगा कि उसने उन दिशाओं को काव्य और मनोविज्ञान से कितना पुष्ट किया है।

(३) तुलसी का व्यक्तित्व हमारे सामने अनेक रूपों में आता है। वे एक साथ ही भक्त, कवि, दार्शनिक, व्यवस्थापक एवं धार्मिक नेता हैं। उन्होंने इन सभी महत्वपूर्ण क्षेत्रों में काम किया है। इस दृष्टि से उनका व्यक्तित्व अद्भुत है। मध्ययुग में ऐसा कोई भी अन्य व्यक्ति नहीं मिलता जिसका व्यक्तित्व इस प्रकार अनेक क्षेत्रों में प्रस्फुटित हुआ हो उनके रामचरितमानस में उनका यह अनेक रूपी व्यक्तित्व भली-भाँति

प्रकाशित हुआ है। इसी कारण मानस मध्ययुग का सबसे महान ग्रन्थ है। परन्तु सूरदास का यह कोई दोष नहीं कि उनके व्यक्तित्व के केवल दो ही अंग हैं। वे केवल भक्त और कवि हैं। जब हम सूर और तुलसी की तुलना करते हैं तो हमें इन्हीं दो क्षेत्रों तक सीमित रहना पड़ेगा। सूर और तुलसी में कौन बड़ा भक्त था, यहाँ हम यह जांचने नहीं बैठे हैं। हमें यह देखना है कि किसकी रचना में कवित्व अधिक प्रस्फुटित हुआ है। आदर्श-निर्माण का काम व्यवस्थापक का है। सूर से तुलसी की तुलना करते समय हमें उनके चरित्रों के उस अंश को छोड़ देना पड़ेगा जहाँ उनको आदर्श बनाने की चेष्टा की गई है।

(४) तुलसी की प्रतिभा सर्वतोमुखी क्यों है इसका कारण ऊपर हम बता चुके हैं। उनके व्यक्तित्व की विभिन्नता और राम-कथा की अनेक रूपता उनकी प्रतिभा को बहुमुखी बनाने में सहायक है।

(५) साम्प्रदायिकता का संबंध सहृदयता के विकास से भले ही हो, उससे कवित्व शक्ति पर प्रभाव नहीं पड़ता। यह बात भी नहीं कि तुलसी इसलिए अधिक लोकप्रिय हैं कि वे साम्प्रदायिकता से ऊपर उठे हैं। यद्यपि सूर के अधिकांश पदों का संबंध वल्लभसम्प्रदाय की धार्मिक विचार धारा और उसके नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों से है परन्तु उनमें जिस विषय का वर्णन किया गया है उसका एक मानवीय और लौकिक पक्ष भी है। वास्तव में वल्लभ सम्प्रदाय ने सूर-साहित्य पर अमिट छाप छोड़ी है, और सूर-साहित्य में जो कुछ महत्वपूर्ण है वह उसी के अचार-विचारों द्वारा विकसित एवं प्रकाशित हुआ है। सूरदास भी अन्य सम्प्रदायों और धार्मिक मतों के प्रति उतने ही सहिष्णु हैं जितने तुलसी। यह अवश्य है कि उन्होंने तुलसीदास की तरह धार्मिक क्षेत्र की विभिन्नताओं में सामंजस्य उपस्थित करने की चेष्टा नहीं की। वे धार्मिक नेता नहीं थे। इससे उनके काव्य की कोई हानि भी नहीं हुई।

(६) लोक-संग्रह का संबंध व्यवस्थापक और धार्मिक नेता से है।

तुलसी के व्यक्तित्व में अन्य अंगों के साथ इन अंगों का विकास हुआ है। सूर केवल कवि और भक्त हैं। अतः उनके काव्य में लोक-संग्रह की भावना का अभाव है।

उपरोक्त विवेचना के आधार पर हम कह सकते हैं कि जिस किसी ने 'सूर-सूर तुलसी ससी' वाला पद बनाया उसने केवल कवित्व-शक्ति अथवा काव्य-प्रतिभा पर ही विचार किया होगा। यही तुलना का वास्तविक क्षेत्र है। अब हमें यह देखना है कि यह उक्ति कहाँ तक ठीक है।

रस

तुलसी ने वात्सल्य रस का उतना कोमल और पूर्ण उद्घाटन नहीं किया जितना सूर ने। यशोदा की तरह कौशिल्या का कोई भी विरह चित्र उपस्थित नहीं। शृङ्गार-रस के चित्रण में भी तुलसी ने अपनी प्रतिभा का प्रयोग नहीं किया। सूर-साहित्य में रस-राज़ के प्रत्येक अंग को स्पर्श किया गया है। भाव, विभाव, तथा अनुभाव को सूर ने अनेक रूपों से उपस्थित किया है। संचारी भावों की संख्या इतनी अधिक है कि कदाचित् मनोविज्ञान भी प्रेम के संबंध में इतनी मानसिक वृत्तियों का निरूपण नहीं करता। संयोग और विप्रलंभ दोनों को अत्यंत विस्तृत और व्यापक रूप से उपस्थित करना सूरदास की विशेषता है।

रूप-सौन्दर्य

सूर और तुलसी दोनों ने अपने चरित्रों के रूप-सौन्दर्य को अलंकारों से पुष्ट करके हमारे सामने उपस्थित किया है। पुरुष सौन्दर्य का चित्रण करने में तुलसीदास अद्वितीय हैं। उनके चित्र परुष हैं जिनमें सुन्दरता के साथ-साथ शौर्य्य और ऐश्वर्य का अंकन भी हुआ है। सूरदास के पुरुष चित्र भी कोमल हैं। वे स्वभावतः परुष और शौर्य्यपूर्ण चित्र उपस्थि नहीं कर सकते। यद्यपि उन्होंने कृष्ण के द्वारा असुर-वध कराया है परन्तु इन स्थलों पर भी उनके कृष्ण का चित्र साधारण चंचल और रूपवान बालक का ही

है। जान पड़ता है बाल-कृष्ण की साम्प्रदायिक भावना ने उन्हें पक्ष चित्र की ओर नहीं बढ़ने दिया। परन्तु स्त्री-सौन्दर्य के चित्र उपस्थित करने में सूरदास ने अपनी प्रतिभा को अद्भुत रूप से प्रतिष्ठित किया है। सीता के सौन्दर्य को मानस में बहुत ही गौण स्थान मिला है। जहाँ स्थान मिला है, वहाँ भी भाव-चित्र उपस्थित किया गया है रूप-चित्र नहीं। उसकी तुलना राधा के सौन्दर्य से करने पर हमें सूर की महानता स्पष्ट हो जाती है। तुलसी कहते हैं—

सुन्दरता कहँ सुन्दर करई,
छवि गृह-दीप शिखा इव बरई।

अथवा—

जो छवि सुधा पयोनिधि होई,
परम रूपमय कच्छपु सोई।
सोभा रज्जु मंदर शृंगारू,
मथै पानि पकंज निज मारू।
एहि विधि उपजै लच्छि जब, सुन्दरता सुख मूल।
तदपि संकोच समेत कवि, कहहिं सीय समतूल ॥

दोनों महाकवियों ने रूप सौन्दर्य उपस्थित करने में अलंकारिक रूप योजना का प्रयोग किया है। सूर के अलंकार मूर्त्त चित्र उपस्थित करते हैं। तुलसी के अलंकार जटिल अधिक होने के कारण भाव-चित्र ही उपस्थित करके रह जाते हैं। सूर ने राधा के सौन्दर्य[1] के वर्णन में व्यतिरेक का सहारा नहीं लिया और न भाव-प्रधान उत्प्रेक्षा द्वारा एक अस्पष्ट सौन्दर्य की सृष्टि की। उन्होंने उपमा एवं सहज उत्प्रेक्षाओं द्वारा राधा के प्रत्येक अंग का चित्र उपस्थित किया है। दृष्टकूट पदों में रूपकों

---

१. (क) नैन विशाल भाल दिये रोरी।

× × × ×

नील वसन फरिया कटि पहने वेनी पीठ रुचिर झकझोरी ॥

(प्रस्तुत रूप में वर्णन)

के सहारे उन्होंने राधा के रहस्यात्मक, अलौकिक सौन्दर्य की व्यंजना की है।

अलंकार

ऊपर के उप-शीर्षक के नीचे जो कुछ कहा गया है उससे दोनों कवियों की अलंकार-योजना पर भी प्रकाश पड़ता है। तुलसी की अलंकार-योजना अधिक प्रयत्न-प्रकृत है। उसमें उनके पाण्डित्य का पता भले ही लग जाय वह स्वाभाविक, सहज, सुलभ और हृदय के इतना निकट नहीं जितनी सूर की अलंकार-योजना। दोनों कवियों के रूपकों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सूरदास अपने रूपक को अधिक विस्तार नहीं देते। अधिक विस्तार से चित्र अधिक पूर्ण और वस्तु-प्रधान होने के साथ साथ नीरस भी हो जाता है। सूर की उपमायें और उत्प्रेक्षायें अधिक प्रचुर, अधिक स्वाभाविक और पाठक के लिये अधिक मूर्त्त एवं परिचित हैं।

(ख) राधा ये ढंग है री तेरे।
वैसे हाल मथत दधि कीने हरि मनु लिखे चितेरे।
तेरो मुख देखत शशि लाजै और कहौ क्यों बाचै॥
नैना तेरे जलज जिते हैं खंजन ते अति नाचै।
चपला ते चमकहि अति प्यारी कहा करोगी श्यामहिं॥
(व्यञ्जना)

(ग) विराजत अंग-अंग इति गात।
अपने कर धरे विधाता पट खग नव जलजात।
द्वै पतग शशि बीस एक फनि चार विविध रंग धात॥
द्वैयक बिम्ब बतीस वज्रकन एक जलज पर घात।
एक सायक एक चाप चपल अति चिबुक में चित्त बिकात॥
दुइ मृनाल मातुल उभै द्वै कदलि खंभ बिनुपात।
इक केहरि इक हंस गुप्त रहे तिनहि लग्यो यह गात॥
(अलंकारिक रूप-योजना)

पद-छंद के चुनाव के कारण एवं प्रबंधात्मकता के अभाव से सूरसागर में चरित्र-चित्रण को विशेष महत्व नहीं मिला है।

चरित्र-चित्रण परन्तु जो है उस पर सूर के आलोचकों ने ध्यान ही नहीं दिया है। वास्तव में सूर की प्रतिभा इस ओर भी अग्रसर हुई है। चरित्र-चित्रण के समय उन्होंने अपने चरित्रों से देवत्व भाव (अथवा उनका प्रतीक रूप से प्रयोग) एकदम दृष्टि से ओझल कर दिया है। तुलसीदास यह नहीं कर पाये। ऐसा उन्हें अभीष्ट भी नहीं था। वे एक विशेष अर्थ की सिद्धि की बात ध्यान में रखकर रचना कर रहे थे।

तुलसी ने किसी भी एकदम मौलिक चरित्र को हमारे सामने उपस्थित नहीं किया। सूरदास ने हिन्दी काव्य-जगत की राधा का चरित्र दिया जिसे प्रेम की तन्मयता एवं परिपूर्णता की दृष्टि से किसी भी चरित्र के सम्मुख रक्खा जा सकता है। उनके सामने सीता का चरित्र फीका पड़ जाता है, कारण कि राधा के निर्माण में सूर ने हमारे प्रति दिन के परिचित और साथ ही गहरे रंगों का प्रयोग किया है। वह हमारे सामने चंचल बालिका, नव-यौवना विलास-केलि-प्रिय नायिका, विरहिणी एवं पत्नी के रूप में उपस्थित की गई है। उसके चरित्र से कवि को कोई भी आदर्श उपस्थित नहीं करना है इसी से वह चरित्र जीवित और स्पंदित है। यशोदा के चरित्र के सम्मुख कौशिल्या का चरित्र खुलता नहीं दीखता। वह माँ के जीवन के अंगों को इतनी सहृदयता और विशदता से नहीं छूता। आवश्यकता इस बात की है कि राधा और यशोदा के प्रसंगों में वे पद भी ध्यान से पढ़े जायँ जो दशम-स्कंध उत्तरार्द्ध में उनके संबंध में मिलते हैं और जो उनके जीवन की एक नई दिशा को हमारे सामने लाते हैं। नंद से दशरथ की तुलना कीजिये। यह तुलना सूर की यशोदा भी करती है। जहाँ दशरथ प्राण छोड़ सकते हैं वहाँ सूरदास के नंद क्लेश-कष्ट को सहने के लिये अपनी छाती वज्र की बना लेते हैं; पिता का ऐसा सहज, दृढ़ और गम्भीर प्रेम हिन्दी-साहित्य में अन्यत्र नहीं। उसमें दशरथ की भावुकता को स्थान ही नहीं मिला है।

राम के देवत्व की भावना ने तुलसी के अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण को भी अनेक स्थानों पर दुर्बल बना दिया है। दशरथ राम के वियोग में मरते नहीं तो राम-भक्ति की स्थापना किस प्रकार होती! यह राम-भक्ति बार-बार चरित्र-चित्रण और कवि के बीच में आ जाती है। उनके राम अलौकिक हैं, सभी प्रसंगों में अलौकिक हैं, आदर्श हैं। सूरदास ने जिस प्रकार अलौकिक का चित्रण लौकिक रूप में किया उस प्रकार तुलसी नहीं कर सके।

सूर और तुलसी के प्रकृति-चित्रण में यह अंतर विशेष रूप से स्पष्ट हो जाता है। तुलसी ने रामचरितमानस में प्रकृति का प्रयोग राम के देवत्व की प्रतिष्ठा,[१] शीलमयता[२] एवं नीति के स्थापन[३] एवं अलंकार-योजना के ही लिये किया है। उन्होंने स्वतंत्र प्रकृति की कल्पना अधिक नहीं की। यही कारण है कि उनका प्रकृति-चित्रण अध्यात्म एवं ज्ञानोपदेश[४] के बोझ से लदा हुआ है और उनके चित्रों में प्रकृति का रूप पूर्णतः खुल नहीं सका है। आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसी के संश्लिष्ट योजना के चित्रों की बड़ी प्रशंसा की है

प्रकृति

---

१. बोलत जल-कुक्कुट कलहंसा
प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा।

२. फल भारन नमि बिटप सब रहे भूमि नियराइ।
पर उपकारि पुरुष जिमि नवहिं सुसंपति पाइ।
सुखी मीन सब एकरस अति अगाध जलमाहिं।
जथा धर्मसीलहि के दिन सुख संजुत जाहिं।
(पम्पासर-वर्णन)

३. देखिये वर्षाकाल और शरद ऋतु का वर्णन।

४. जहँ तहँ पियहिं बिबिध मृग नीरा।
जनु उदार गृह जाचक भीरा।

परन्तु ये चित्र असम्पूर्ण रह जाते हैं। उनमें अमूर्त काव्य-गुणहीन भावनाओं का समावेश हो जाता है। उदाहरण के लिये चित्रकूट का वह वर्णन उपस्थित किया जा सकता है जो संश्लिष्ट होते हुए भी अपूर्ण रह गया है—

लखन दीख पै उतर करारा
चहुँ दिसि फिरेउ धनुष जिमि नारा।
नदी पनच सर समदम दाना,
सकल कलुष कलि साउज नाना॥
चित्रकूट जनु अचल अहेरी,
चुकइ न घात मार मुठभेरी।

यही नहीं, धर्मभावना की अकारण उपस्थिति मूर्त चित्र को भी पूरी तरह उभरने नहीं देती।

तुलसी का प्रकृति दर्शन काव्य-परंपरा और शास्त्रों के माध्यम से प्राप्त हुआ जान पड़ता है। सम्भव है कि महाकाव्य की परिभाषा ने रामचरित मानस में उनके प्रकृति पर्यावेक्षण को बहुत कुछ बाँध दिया हो। यह भी कहा जा सकता है कि राम-कथा की वीथिका अयोध्या का वैभव है और उनके नायक राजपुत्र हैं अतः उनके सामने प्रकृति-चित्रण के इतने अवसर ही नहीं थे जितने सूरदास के सामने जिनके नायक ग्राम्य निवासी गोपाल थे। परन्तु इस तर्क के विरोध में यह उपस्थित किया जा सकता है कि राम के वन-गमन के प्रसंग से आगे सारी राम-कथा की रंगभूमि दाक्षिणात्य का वन-प्रान्त है। अनुमान यह होता है कि तुलसी की मर्यादा-भावना और उनके भक्ति, लोकनीति, दर्शन-प्रेम[1] तथा रीति-शास्त्रीय ज्ञान ने उनको इतना अवकाश नहीं दिया कि वे स्वतन्त्र रूप से प्रकृति को देखें।

---

१. भूमि परत भा ढावर पानी।
जिमि जीवहिं माया लपटानी॥

इसके अतिरिक्त सूर और तुलसी के प्राकृतिक वर्णन की तुलना करने पर एक नई बात पर भी प्रकाश पड़ता है। सूरदास थोड़ा बहुत भागवत पर आश्रित थे परन्तु उन्होंने भागवत की प्रकृति-वर्णन-शैली को नहीं अपनाया। यह उनकी मौलिकता का एक बहुत बड़ा उदाहरण है। तुलसी ने शरद और वर्षा का वर्णन भागवत की शैली पर ही किया है। यही नहीं, अनेक उदाहरण उन्होंने भागवत के इन प्रसंगों से ज्यों के त्यों उठाकर अपने काव्य में भर दिये हैं।

सूर ने तुलसी की तरह दार्शनिक और धार्मिक कर्मकाण्ड-संबंधी व्यवस्था नहीं दी। पं० बलदेव प्रसाद मिश्र के ग्रंथ तुलसी-दर्शन के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है। तुलसीदास के काव्य के भीतर एक परिपूर्ण उपासना-पद्धति सन्निहित है। वस्तुतः उन्होंने एक बार फिर रामानुजाचार्य्य का काम किया। रामचरितमानस के प्रत्येक महत्वपूर्ण स्थल पर उन्होंने दर्शन और धर्म को कविता से आगे रखने की चेष्टा की है। उन्हें रामोपासना-धर्म (राम-धर्म) को स्थापित करने का उत्साह है। परन्तु सूर ने ऐसा नहीं किया। सम्भव है कि यदि सूर करते भी तो अकृत-कार्य्य होते। उनकी शिक्षा-दीक्षा तुलसी-जैसी पूर्ण नहीं मालूम होती। उनका ग्रंथ अनेक ज्ञान-विज्ञान का कोष नहीं है, न उनको इसका दावा है।

परन्तु सूर को इसकी आवश्यकता भी नहीं थी। आचार्य्य वल्लभ और फिर विट्ठलनाथ दर्शन और धर्म की व्यवस्था के लिये उनके पास ही थे। सूर ने एक मात्र कविता को अपना विषय बनाया परन्तु वह भी साध्य नहीं, साधन मात्र। उसके द्वारा उन्होंने अपने इष्टदेव की आराधना की। तुलसी को वल्लभ नहीं मिले। उन्हें आचार्य्य और कवि दोनों के काम करने पड़े और हमारी सम्मति में यह अधिक श्रेयस्कर नहीं हुआ। यह बात हम केवल काव्यालोचक की दृष्टि से कह रहे हैं। इसमें तुलसी के सर्वाङ्गी व्यक्तित्व को छोटा करने की भावना नहीं है। उन्होंने अपने मानस द्वारा जो अनेक क्षेत्रों में कार्य्य किया

और अपने युग पर प्रभाव डाला उसका महत्त्व हम समझते हैं। हमारा कहना है कि आचार्य्य और कवि का काम एक साथ करने से तुलसीदास की कवि प्रतिभा को विकास का अधिक अवकाश नहीं मिला। मानस के अनेक मानव मनोविज्ञानपूर्ण और कवित्वमय सिद्ध होने वाले स्थलों को उन्होंने यों ही छोड़ दिया है या केवल छू भर लिया है।

इस प्रकार हम यह सिद्ध करते हैं कि तुलसी की कवि-प्रतिभा के बीच में उनका पाण्डित्य अनेक क्षेत्रों में सामंजस्य स्थापित करने की भावना और भक्ति यह तीन विरोधी तत्व आ खड़े होते हैं। इनसे उनका कवित्व दब जाता है। सूर कवि हैं, कवि के क्षेत्र के भीतर ही भक्त हैं, और अन्त तक कवि हैं।

यदि कविता की उत्कृष्टता इस बात में हो कि वह कवि के लिये उतनी ही नैसर्गिक हो जितने वसन्त के पेड़ों को नये पत्ते और अंकुर, तो सूर की जैसी कवि-प्रतिभा तुलसी में नहीं। सहज नैसर्गिक कविता में सूर तुलसी को पीछे छोड़ जाते हैं। जहाँ राम-भक्ति के प्रचार के उत्साह, लोक मर्य्यादा की भावना और साहित्यिक एवं धार्मिक अनेक धाराओं में सामंजस्य उपस्थित करने की प्रेरणा ने तुलसी के काव्य को हिन्दी का सर्व-श्रेष्ठ साहित्य बना दिया है जिसमें मध्ययुग के भारत का हृदय उतर सका है, वहाँ इन्हीं तत्वों के विकास के लिये तुलसी को कुछ मूल्य भी चुकाना पड़ा है। यह मूल्य है सहज कवित्व शक्ति के प्रस्फुटन का। परन्तु यह बात तुलसी के काव्य के लिये श्रेयस्कर न होकर भी भारत के नैतिक और धार्मिक स्वास्थ्य के लिये कितनी अधिक महत्वपूर्ण हुई इसे कौन अस्वीकार करेगा?

परिशिष्ट

(१)

वैष्णव धर्म और पुष्टिमार्ग

वैष्णव मत का मूल सिद्धान्त भक्ति है। ऋग्वेद की वरुण-संबंधी ऋचाओं में पहली बार भक्ति-भावना के दर्शन होते हैं। उसमें कई स्थानों पर परमात्मा को परम-पिता, माता अथवा पुत्र के सदृश प्रिय कहा है। ऋग्वेद में परमात्मा और जीवात्मा की तुलना दो पक्षियों से की गई है जो एक दूसरे के परम मित्र अथवा सखा हैं। इस प्रकार यह दृष्टिगत होता है कि भक्ति की भावना अति प्राचीन है। कुछ विद्वानों का मत है कि परमात्मा-जीवात्मा के संबंध में भक्ति की कल्पना मूलतः द्राविड़ है। यदि यह सत्य है तो भक्ति की कल्पना वेदों से भी प्राचीन होगी। जहाँ तक खोज हुई है यह पता लगता है कि ज्ञान और भक्ति की दो धारायें हमारे देश में प्रागैतिहासिक काल से चली आती हैं।

परन्तु हमने भक्ति के जिस रूप के संबंध में लिखा है उसे वैष्णव भक्ति कहा जाता है। उसमें विष्णु और उसके अवतारों की कल्पना की गई है। उनके प्रति भक्ति करने का आदेश किया गया है। सामान्य-रूप से भक्ति की भावना अत्यन्त प्राचीन होते हुये भी वैष्णव-भक्ति उतनी प्राचीन नहीं है। उसका संबंध भागवत या पंचरात्र धर्म से है जिसका आविर्भाव पाँचवीं शताब्दी पूर्व ईसवी के लगभग हुआ यद्यपि विष्णु का निर्देश ऋग्वेद में ही मिलता है[1]। वह ब्राह्मणों में अधिक विकसित भी हो गया

---

१. इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा नि दधे पदं

है[1]। ऋग्वेद में नारायण का परिचय भी हमें पहिली बार मिलता है। (ऋ० १२—६—१) और ब्राह्मण काल तक पहुँचते-पहुँचते वह भी परम देवत के रूप में माने जाने लगे हैं। ब्राह्मण ग्रंथों में विष्णु तथा नारायण का स्थान लगभग एक-सा दिखाई पड़ता है। महाभारत और पुराणों में दोनों को अभिन्न समझा गया है।

बौद्ध धर्म के आविर्भाव के पूर्व सारस्वतों में उनके जातीय देवता वासुदेव की पूजा प्रधान हो गई थी। जातक कथाओं में एक कथा यह भी है कि बुद्धदेव पूर्व जन्म में वासुदेव थे। इससे यह सिद्ध होता है कि जातक-रचना के समय वासुदेव की बड़ी महिमा थी और बुद्ध की महत्ता स्थापित करने के लिए इस प्रकार की कल्पना की गई। पाणिनी के एक सूत्र से पता लगता है कि वासुदेव उनके समय में देवता समझे जाते थे[2]। पाँचवीं शताब्दी के लगभग महाभारत का पहिला संग्रह हुआ। उस समय वासुदेव नारायण और विष्णु को एक ही देवता समझा जाने लगा था। उसमें वासुदेव कृष्ण के पहिली बार दर्शन होते हैं। ईसा की पाँचवीं शताब्दी के प्रारम्भ से धार्मिक सुधार की तीन धारायें मध्य प्रदेश में बहने लगीं। इनमें वासुदेव-सुधार की धारा सर्व प्राचीन थी। जैन और बौद्ध सुधारों

समूल्हमस्य पांसुरे ॥१७॥

तद्विष्णो परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः

दिवी वा चक्षु राततं ॥२०॥

१. अग्निर वै देवानाम्। विष्णुः परमम्। तदन्तरेण सर्वाः अन्या देवताः।

२. अष्टाध्यायी सूत्र ४—१—९८

पाणिनी का काल ईसा की पाँचवीं और चौथी शताब्दी के बीच का है।

का जन्म उसी समय हुआ था। वासुदेव धर्म के संबंध में अधिक पता नहीं लग सका। परन्तु यह निश्चित है कि वह ईश्वरवादी था और भक्ति को उसमें स्थान मिला करता है। जान पड़ता है कि बौद्ध धर्म के राजधर्म होने के पश्चात् वासुदेव धर्म का क्षेत्र संकुचित हो गया। बहुत काल तक वह पश्चिमीय प्रदेश के मथुरा के आस-पास के ही प्रान्तों में प्रचलित रहा। जैन सुधार भी पश्चिमीय और पश्चिम दक्षिण मध्य-प्रदेश को ही प्रभावित करता रहा। बौद्ध सुधार का प्रारम्भ पूर्वीय प्रदेश से हुआ था लेकिन राजसत्ता का आश्रय मिलने से शीघ्र ही उसका रूप अखिल भारतीय हो गया।

कृष्ण का सबसे पहिला परिचय हमें ऋग्वेद में एक अनार्य सामंत के रूप में मिलता है। इसके उपरांत छान्दोग्य उपनिषद् में भी एक कृष्ण का उल्लेख है। ये ऋषि हैं। इन्हें घोर अंगिरस का शिष्य और देवकी पुत्र भी कहा गया है। विद्वानों ने यह माना है कि गोपाल कृष्ण का रूप ईसा की पहिली शताब्दी के लगभग प्रतिष्ठित हुआ परन्तु ऋग्वेद में जिस कृष्ण का उल्लेख है वे गोपालक हैं और जब इंद्र उनकी गाय चुरा ले जाते हैं तो वह अपने गढ़ से निकलकर उससे युद्ध करते हैं और उसे पराजित करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि गोपाल कृष्ण का बीज-रूप वेदों में भी मिल जाता है। पुराणों और भागवत में पूजा के लिये इंद्र और कृष्ण की जिस प्रतियोगिता का वर्णन है उसका मूल भी कदाचित् इंद्र-कृष्ण का यही युद्ध है। इसके पश्चात् वासुदेव धर्म के उत्थान के साथ वासुदेव के पुत्र कृष्ण की प्रतिष्ठा हुई। ये ऐतिहासिक पुरुष समझे जाते हैं। ये द्वारका के राजा थे। इन्होंने महाभारत में विशेष भाग लिया। इन्हें वृष्णियों का नायक राजपुत्र कृष्ण भी कहा जा सकता है। वैदिक कृष्ण और उपनिषद् के ऋषि कृष्ण से इनका योग हुआ और कदाचित् इस प्रकार महाभारत के ज्ञानी और योद्धा कृष्ण के व्यक्तित्व का निर्माण हुआ। महाभारत का दूसरा संग्रह दूसरी शताब्दी पूर्व ईसवी के लगभग हुआ। उस समय वासुदेव धर्म के पुनरुत्थान के कारण महाभारत के कृष्ण को

परम भागवत मान लिया गया और उन्हें वैदिक देवता विष्णु और नारायण से मिला दिया गया।

कनेडी ने कृष्ण के विकास के तीन भाग किये हैं। उन्होंने उन्हें द्वारका का राजा कृष्ण माना है जो महाभारत में अपने धूर्त कृत्यों के लिए प्रसिद्ध है। यह कृष्ण का राजनीतिज्ञ रूप है। उन्होंने उसे सिंधु-प्रदेश का अनार्य वीर योद्धा माना है जिसकी बहुत कुछ देवता के रूप में प्रतिष्ठा हो चुकी है। इसने राक्षस, पैशाच आदि ब्याह किये थे। अंत में उन्होंने इन्हें मथुरा का बाल-कृष्ण भी माना है। महाभारत में बाल-कृष्ण का कोई परिचय नहीं मिलता। वहाँ कृष्ण वासुदेव भागवत या परम दैवत हैं। उनके द्वारा महाभारतकार ने अनेक उपासना-पद्धतियों के सामंजस्य की चेष्टा की है। महाभारतकार के समय में ज्ञान, भक्ति और कर्म की तीन धारायें चल रही थीं। गीता में भगवान कृष्ण ने इन तीनों धाराओं को एक केन्द्र पर लाने की चेष्टा की है। उन्होंने योग प्राप्ति के अनेक ज्ञान-मार्गों का वर्णन किया है परन्तु अंत में व्यवहार के लिये अनासक्त कर्म और आध्यात्मक के लिए भक्ति की श्रेष्ठता प्रतिपादित की है। उन्होंने कहा है—सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। यही भक्ति का मूल मंत्र है।

बाल-कृष्ण की प्रतिष्ठा के संबंध में विद्वानों में बड़ा मतभेद है। अधिकांश विद्वानों का मत है कि ईसा की पहिली शताब्दी के कुछ पूर्व दक्षिण-पश्चिम प्रदेश में आभीर जाति का उत्थान हुआ था। इसने राजशक्ति भी प्राप्त की थी। मथुरा और द्वारका इसके केन्द्र थे। इसी जाति में एक बाल-देवता की उपासना होती थी। सम्भव है उसका नाम भी कृष्ण रहा हो। महाभारत के कृष्ण से इस बाल-कृष्ण का योग बिठाया गया और इस प्रकार कृष्ण के मध्ययुगीय रूप का निर्माण हुआ। पहिली शताब्दी के लगभग प्राकृत भाषा में जो काव्य-रचना हुई उसमें आभीर जाति की शृङ्गार-कथाओं का वर्णन है। अनेक गाथा-छंदों में गोप-गोपियों का उल्लेख है। इससे यह स्पष्ट होता है कि आभीर जाति

अत्यंत रसिक थी। सम्भव है इसी के प्रभाव के कारण व्रज प्रदेश के लोक-गीतों में कृष्ण के भक्ति पदों में गोपियों की लीला और राधा को स्थान मिल गया। गाथा सप्तशती में राधा शब्द प्रथमबार पाया जाता है जो इस बात को पुष्टि करता है। इसी समय के लगभग भागवत धर्म का पुनरुत्थान हुआ और उसमें विष्णु इस नये परिवर्धित रूप को स्वीकार कर लिया गया।

वासुदेव (भागवत) धर्म के इस पुनरुत्थान का कारण उसका राज्याश्रय प्राप्त करना था। पाटलीपुत्र के गुप्त राजाओं ने इस समय इस धर्म को अपना लिया था। उनके सिक्कों और शिला-लेखों पर उनके नाम के साथ 'परम भागवत' विशेषण मिलता है। परन्तु गुप्त वंश के पतन के साथ-साथ राजाश्रय का लोप हो गया और बौद्ध धर्म ने एकबार फिर सारे पश्चिमी प्रदेश पर आधिपत्य प्राप्त कर लिया। बहुत से विद्वानों का कहना है कि उस समय भागवत धर्म दक्षिण में चला गया जहाँ उसका विशेष विकास हुआ।

परन्तु दक्षिण में भक्तिमार्ग की प्रतिष्ठा कदाचित् ऋग्वेद-समय के आस-पास ही हो चुकी थी। यह सम्भव है कि उत्तर के भागवत धर्म के पुनरुत्थान ने पहिली शताब्दी के लगभग उसे प्रभावित किया हो। जो हो, पाँचवीं शताब्दी के लगभग दक्षिण में भक्ति-प्रधान वैष्णव मत विकसित हो रहा था। दक्षिण में अलवारों ने इसके विकास में विशेष सहयोग दिया। अलवार भक्त-कवि थे। इनके गीत दक्षिण के मंदिरों में गाये जाते थे। पाँचवीं शताब्दी से दसवीं शताब्दी तक इन गीतों का एक बड़ा साहित्य एकत्रित हो गया। दसवीं शताब्दी के अंत में इन अलवारों के एक सम्प्रदाय 'नमालवार' के गीतों का संकलन नाथ मुनि ने किया। इसका नाम 'नालायिर प्रबंधम्' है। इसकी कविताओं में कहीं भगवान के विरह से व्याकुल भक्त-हृदय की वेदना है कहीं गम्भीर दार्शनिक विचार हैं। कहीं ऐसे प्रेम-गीत जो सूफ़ियों के प्रेम-गीतों से मिलते-जुलते हैं।

'प्रबंधम्' में बारह कवियों के गीत संग्रहीत हैं। इन गीतों के कुछ उदाहरण इस प्रकार हैं—

(१) नारायण मेरा स्वामी एवं सखा है। वह मेरे वर्तमान तथा भावी जीवन का एक मात्र आश्रय है। उसने अपने पवित्र करों से मेरे कर का स्पर्श किया है।

(२) ग्राम ग्राम यह चर्चा फैल चुकी कि मैं कुल कलंकिनी हूँ; माता, पिता तथा अन्य कुटुम्बीजनों की उपेक्षा कर अकेली ही उसके पथ पर चलती हूँ। क्या इस अपयश के डर से उसे भूल जाऊँ? नहीं यह नहीं हो सकता—देखो, देखो, वह मायापति आ रहा है। उसकी प्रतिमा मेरे नेत्रों के सामने झलकने लगी है।

(३) समुद्र-मंथन से उद्भूत अमृत से जैसे कोई अपना घड़ा भरे, वैसे ही मेरी भूखी आत्मा ने तुझे पीकर अपने को परिपूर्ण कर लिया है।

(४) जैसे भीत पर चित्र चित्रित किया जाता है, वैसे ही तेरे वैभव को मैंने अपने हृदय पर चित्रित कर लिया है।

(५) न जाने मुझ अभागिनी की पुत्री को क्या हो गया है। जब वर्षा की झड़ी लगती है तब वह 'नारायण आ गये नारायण आ गये' कहती हुई नाचती है।

जब वह वंशीध्वनि सुनती है तब उसे कृष्ण की मुरली का रव समझ कर उसे रोमांच हो जाता है। जब वह ग्वालिनों को दधि ले जाते देखती है तब "यह वही दही है जिसे कृष्ण ने खाया था," यह कह उठती है।

यह किशोरी तुझे देखने की अभिलाषा में घुली जा रही है, परन्तु तुझे दया नहीं आती। अग्नि के सम्मुख रक्खे हुये मोम की सी उसकी दशा है। परन्तु तू हृदयहीन है।

(६) तेरे दर्शन की अभिलाषा से मैं रोता हूँ, प्रार्थना करता हूँ, गाता गाता थक जाता हूँ, चारों ओर प्रतीक्षा के नेत्रों से देखते हुये तुझे न पाकर लज्जित हो जाता हूँ।

(७) हे मायापति ! हे सुन्दर नेत्र वाले ! हे लाल पुष्प से हाथ पैर और नेत्र वाले ! हे स्वामी ! तुम किसी दिन आओ जिससे मैं तुम्हें देख सकूँ !

(८) अगणित पापों का अनुचर मैंने नव जीवन प्राप्त कर लिया है। मैंने तेरी सेवा स्वीकार कर ली है। क्या मैं तुझे कभी छोड़ सकता हूँ !

(९) वह मेरी दृष्टि से दूर नहीं होता; वह मेरे ज्ञान-चक्षुओं में समा गया है। गुप्त रागों के इस माधुर्य ने आज मेरे हृदय में प्रवेश कर लिया है*।

इन गीतों के आधार पर कुछ विद्वानों का मत है कि कृष्ण दक्षिण के भक्तों की ही कल्पना है। यह अवश्य है कि कृष्ण की रूप-कल्पना में दक्षिण के भक्तों का प्रधान हाथ रहा है परन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि कृष्ण का आविर्भाव दक्षिण में हुआ, यह अवश्य सिद्ध हो सकता है कि अलवारों के इन गीतों ने वैष्णव (भागवत) धर्म के पुनरुत्थान के समय उस पर विशेष प्रभाव डाला। बारहवीं शताब्दी के लगभग श्रीमद्भागवत का निर्माण हुआ। यह नहीं कहा जा सकता कि भागवत की रचना दक्षिण में हुई अथवा उत्तर में। परन्तु भागवत के कृष्ण का बहुत कुछ रूप द्राविड़ है और इस ग्रंथ में एक आख्यायिका ऐसी भी मिल जाती है जिससे यह सिद्ध होता है कि भागवतकार भक्ति का जन्म द्राविड़ देश में, उसका लालन पालन महाराष्ट्र देश में और उसकी युवावस्था का समय गुजरात में व्यतीत होना ठीक समझते हैं। इस कथा में नारद जी ने मथुरा के पास एक स्त्री को रोते देखा था जिसके दो बच्चे थे। उसने अपना नाम भक्ति बताया। उसके साथ के बच्चे मृतप्राय थे। इन्हें उसने ज्ञान और वैराग्य बताया। इस कथा-प्रसंग से यह सिद्ध होता है कि बारहवीं शताब्दी के पहले भक्ति क्रमशः द्राविड़

* अलवार गीतों के इस अनुवाद के लिये हम पं० द्वारका प्रसाद मिश्र के एक लेख के आभारी हैं।

प्रदेश, महाराष्ट्र और गुजरात में प्रतिष्ठित हो चुकी थी। उसने ज्ञान और वैराग्य को पदच्युत करके यह स्थान प्राप्त किया था।

ईसा की पहिली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक ऐसे अनेक धर्म ग्रंथ और पुराण बने जिन्होंने विष्णु के अवतारों का वर्णन किया। इन ग्रंथों ने चौदहवीं शताब्दी के अन्त में प्रगट होने वाले भागवत धर्म के दूसरे पुनरुत्थान में विशेष भाग लिया। ये ग्रंथ नारायणीय, नारद पंचरात्र, हरिवंश पुराण, वायु पुराण, वाराह पुराण, अग्नि पुराण, नृसिंह पुराण और भागवत पुराण हैं।

नारायणीय में एक कथा है कि नारद बदरिकाश्रम की यात्रा करते हैं। वहाँ उन्हें नर नारायण के दर्शन होते हैं। वास्तव में ये दोनों एक देवता हैं। नारायण की प्रकृति का ही नाम नर है। इसमें नारायण के चार व्यूहों का उल्लेख है (१) वासुदेव (२) संकर्षण (३) प्रद्युम्न (४) अनिरुद्ध। इनसे ब्रह्मा की उत्पत्ति होती है उससे सारे जड़-चेतन संसार की। वस्तुतः नारायण के ये चार व्यूह दार्शनिक क्षेत्र के आदि ब्रह्म, प्रकृति, मनस् और अहंकार के प्रतीक मात्र हैं। नारायणीय में कंस वध के निमित्त वासुदेव कृष्ण के अवतार का निर्देश है पर उनकी गोकुल लीला का उल्लेख नहीं मिलता। नारायणीय में नारायण के ६ अवतारों का उल्लेख है;—वाराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम और वासुदेव कृष्ण। वायु पुराण अग्नि पुराण और वाराह पुराण में अवतारों की संख्या दस हो गई है यद्यपि इन अवतारों में मतभेद है। वायु पुराण में शेष चार अवतार दत्तात्रैय, अनामी, वेदव्यास और कल्कि हैं। अग्नि पुराण और वाराह पुराण में ये शेष चार अवतार मत्स्य, कूर्म, बुद्ध और कल्कि हैं। नृसिंह पुराण में विष्णु के इन दश अवतारों के साथ कृष्ण और बलराम का भी नाम जोड़ दिया गया है। भागवत पुराण में अवतारों की संख्या आशातीत बढ़ गई है। उसमें कुल मिलाकर ६१ अवतारों का निर्देश है। हरिवंश पुराण के ६ अवतारों के अतिरिक्त सनत्कुमार, नारद, कपिल, दत्तात्रैय, ऋषभ और धन्वन्तरि मुख्य हैं।

इन सब पुराणों में अनेक अवतारों की कथा का होना एवं उनकी संख्या का क्रमशः बढ़ते जाना हमारे लिए एक महत्वपूर्ण अर्थ रखता है। इससे पता चलता है कि पहली शताब्दी से बारहवीं शताब्दी तक भागवत धर्म जन समाज में प्रचलित अनेक देवताओं की सत्ता को स्वीकार करके और उन्हें विष्णु का अवतार मानकर उन धर्मों को अपने प्रभाव-क्षेत्र में ला रहा था। इस प्रकार बारहवीं शताब्दी तक वैष्णव धर्म अपने को पुष्ट करता रहा। यद्यपि उसने इस प्रक्रिया में अनेक देवताओं को अपनी उपासना-पद्धति में स्थान दिया तथापि उसने मुख्य रूप से केवल दो अवतारों की प्रतिष्ठा की। फलतः वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान के समय केवल दो व्यक्तित्व प्रधान रूप से धार्मिक क्षेत्र में प्रतिष्ठित थे और तत्कालीन आचार्यों और भक्तों ने इन्हीं को लेकर दर्शन, धर्म और काव्य की रचना की।

वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान का सबसे प्रधान कारण यह था कि उस समय बौद्ध धर्म का पतन हो रहा था और धार्मिक क्षेत्र एक प्रकार से रिक्त हो गया था। सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धों का अंतिम आश्रय था। उसके साथ ही भारतवर्ष से बौद्ध धर्म का लोप हो गया। बौद्ध धर्म के पतन के बाद भारतीय धार्मिक क्षेत्र में धर्म की तीन धारायें चलीं। पूर्व में महायान ने तंत्र-मार्ग और शक्ति-पूजा को जन्म दिया। पश्चिम में राजपूत राजाओं के आश्रय में शैव धर्म का विकास हुआ। समस्त दाक्षिणात्य में विष्णु-पूजा प्रचलित हो गई। कुछ ही समय बाद वैष्णव मत उत्तर भारत में भी आगया। उसने शिव को विष्णु की ही शक्ति माना। सारे पश्चिमीय प्रदेश और दक्षिण भारत में विष्णु के तीन रूपों—ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—की भक्ति-पूर्ण उपासना प्रचलित हो गई।

आठवीं शताब्दी तक कुमारिल भट्ट के प्रयत्नों से बौद्ध धर्म के अवशेष चिन्ह भी लुप्त हो गये। कुमारिल भट्ट के पश्चात् आचार्यों का युग प्रारम्भ होता है। इन आचार्यों ने वेद, उपनिषद् और पुराणों की एक बार फिर प्रतिष्ठा की। ये सब आचार्य दक्षिण से आये थे और वहाँ

के अलवार भक्तों एवं उनके साहित्य से प्रभावित हो चुके थे। शंकराचार्य ने जीव और ब्रह्म की एकता स्थापित करके ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा की। किन्तु उन्होंने नारायण और शिव के प्रति अनेक भक्ति के छंदों की भी रचना की है। इससे स्पष्ट है कि उन पर भी भक्ति का प्रभाव था। उस युग में अनेक मत मतान्तर धार्मिक क्षेत्र में विजय प्राप्त करने के लिये युद्ध कर रहे थे। इसलिये उस समय ज्ञान मार्ग की प्रतिष्ठा की व्यावहारिक आवश्यकता थी जिसे शंकराचार्य ने भली भाँति समझ लिया था।

वैष्णव धर्म में भक्ति मार्ग के प्रवर्तक रामानुजाचार्य हैं। इनका संबंध नेमालवार गीतों के संकलनकर्त्ता नाथ मुनि से जोड़ा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि वे अलवारों की भक्ति से ही प्रभावित हुये। नाथ मुनि के पौत्र श्री यामुनाचार्य थे जो ग्यारहवीं शताब्दी में हुये। नाथ मुनि श्री सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य थे। यामुनाचार्य के बाद रामानुजाचार्य इसी सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य हुये। उन्होंने दक्षिण के तामिल संतों के ज्ञान और भावों का वेद, उपनिषद् और गीता के प्राचीन ग्रंथों से सामंजस्य स्थापित किया और अपने नये मत की नींव डाली। इस मत में भक्ति की प्रधानता नहीं थी किन्तु उसे एक विशेष स्थान अवश्य प्राप्त था।

रामानुजाचार्य का जन्म सं० १०७४ (स० १०१७ ई०) में हुआ था। उनकी मृत्यु सं० ११६७ (सन् ११२० ई०) में हुई। उनके समय में धार्मिक क्षेत्र में उच्छृङ्खलता फैली हुई थी। दार्शनिकों में शंकर के मायावाद का प्रचार था। व्यवहार में अनेक मत मतान्तर फैले हुये थे। शिव, विष्णु और शक्ति की उपासना होती थी। मायावाद की आड़ में नाथ सम्प्रदाय अपने योग-मार्ग का प्रचार कर रहा था। पूर्व में एक वाम मार्गी स्त्री-उपासक सहज मत का जन्म हो गया था। त्रिपुरी सुंदरी की पूजा प्रचलित थी। ऐसे समय में रामानुजाचार्य ने वैष्णव धर्म का एक नये प्रकार से संगठन किया। उन्होंने उन सब धर्म-सम्प्रदायों को स्वीकार कर लिया जो शास्त्र-विहित थे और उनका वैष्णव धर्म से संबंध स्थापित किया। शंकराचार्य के मायावाद का खंडन करने में उन्हें अपनी शक्ति

विशेष रूप से लगानी पड़ी। शंकराचार्य ने बौद्ध शून्यवाद के खंडन में ज्ञान का आश्रय लिया था, अतः उनका भक्ति-धर्म आगे नहीं बढ़ पाया। परन्तु रामानुजाचार्य का नया मत जनसाधारण के लिये था; इसलिये उन्होंने अपनी उपासना-पद्धति में भक्ति को भी स्थान देने की आवश्यकता समझी। वह मुक्ति के लिये ज्ञान को उपादेय मानते थे। परन्तु सभी मनुष्यों का ज्ञानी होना असम्भव है। जो ज्ञानी नहीं थे उनके लिये उन्होंने भक्ति की योजना की। वैष्णवधर्म में द्विजातियों को विशेषाधिकार प्राप्त था उन्हें भक्ति का आदेश मिला। शूद्रों के लिये रामानुजाचार्य ने एक नई कल्पना की। उन्होंने उनके लिए प्रपत्ति का उपदेश दिया। प्रपत्ति का अर्थ है ईश्वर पर सर्वथा आश्रित होकर अपना विस्मरण कर देना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि रामानुजाचार्य ने उत्तरी भारत के धर्म-क्षेत्र में भक्ति का बीज बोया परन्तु उस बीज ने वृक्ष का रूप ग्रहण करने में कई शताब्दियों का समय लिया।

रामानुजाचार्य के कुछ ही पश्चात् (बारहवीं शताब्दी) आंध्र देश में निम्बार्क उत्पन्न हुये। उन्होंने भक्ति और प्रपत्ति को एक माना। इस प्रकार भक्ति के क्षेत्र को विस्तृत किया। रामानुजाचार्य ने नारायण तथा लक्ष्मी को अधिक महत्व दिया था परन्तु निम्बार्क ने कृष्ण तथा राधा को उपास्य माना। उनके कुछ ही समय पश्चात् उनके मतानुयायियों की संख्या व्रज और बंगाल प्रदेश में यथेष्ट होगई होगी। राधा और कृष्ण की अवतारणा भक्ति आंदोलन की एक बड़ी घटना है। उसने पहिली बार मधुरभाव की उपासना को जन्म दिया यद्यपि इससे मिलती जुलती एक उपासना पद्धति सूफ़ियों द्वारा इसी क्षेत्र में अंकुरित हो रही थी। बंगाल में शक्ति की उपासना के कारण इस प्रकार की मधुरभाव की भक्ति के लिए पृष्ठभूमि पहले से बन चुकी थी। व्रज-भूमि तो कृष्ण की लीला-भूमि ही समझी जाती थी।

रामानुजाचार्य के लगभग दो सौ वर्ष बाद (सं० १३६४ या सन्

१२३७ ई०) मध्वाचार्य का जन्म हुआ। इन्होंने वैराग्य तथा नवधा भक्ति का प्रचार किया। इन्होंने विष्णु को परमात्मा माना और उनके राम तथा कृष्ण अवतारों को उपास्य ठहराया। उन्होंने कृष्ण पर अधिक बल दिया। तदनंतर विष्णु स्वामी ने महाराष्ट्र में विष्णु की भक्ति विशेष रूप से प्रतिष्ठित की।

दक्षिण के आचार्यों के भक्ति मत को अधिक सार्वजनिक रूप देकर उत्तर भारत में प्रचलित करने का श्रेय रामानंद को प्राप्त है। उन्होंने रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय को व्यापक और लोकप्रिय बनाया। उन्होंने स्त्रियों और अछूतों को भी भक्ति का अधिकार दिया। विष्णु अथवा नारायण के स्थान पर उन्होंने उनके अवतार रूप राम की भक्ति का उपदेश किया। रामानंद का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यह था कि उन्होंने अपने मत के प्रचार के लिए संस्कृत का आश्रय छोड़कर प्रचलित भाषा का प्रयोग किया। उस समय के हिन्दी में लिखे हुये उनके कुछ पद भी प्राप्त हुये हैं। वैष्णव मत के लिये जन-भाषा का प्रयोग एक दूसरी महत्त्वपूर्ण घटना है।

रामानंद के समय में उत्तर भारत में भक्ति की एक लहर दौड़ गई। उसके कई कारण थे। रामानंद ने भक्ति के रूप को सामान्य तथा जन साधारण के लिये अधिक सुलभ बना दिया था। शूद्रों और स्त्रियों को भी भक्ति का अधिकार मिल गया था। और भाषा के प्रयोग के कारण दर्शन और धर्म के ऊँचे सिद्धान्त सर्वसाधारण तक छन कर पहुँचने लगे थे।

यद्यपि मध्वाचार्य ने राधा के साथ कृष्ण की कल्पना करके भक्तों को मधुर भाव की भक्ति का थोड़ा बहुत आभास दे दिया था परन्तु उसका पूर्ण विकास आगे के युग में हुआ। हम अनुमान कर सकते हैं कि जिन केन्द्रों में राधा-कृष्ण की भक्ति चलती रही होगी वहाँ शीघ्र ही इस भक्ति ने शृङ्गार भाव को जन्म दिया होगा। इस भाव के विकास में भागवत ने विशेष सहायता की होगी। यह भी सम्भव है कि परवर्त्ती संस्कृत और

प्राकृत साहित्य की शृङ्गार-भावना ने भक्तों की भक्ति को मधुर रस का पुट दे दिया हो। जो हो, पंद्रहवीं शताब्दी तक शृङ्गार भाव अथवा मधुर रस की उपासना इतनी अधिक प्रचलित हो गई थी कि वल्लभाचार्य को इसके लिये शास्त्रीय व्यवस्था देनी पड़ी। थोड़े ही समय में सारा उत्तरी भारत मधुर रस की कृष्ण-भक्ति से प्लावित हो गया। इसका एक केन्द्र बंगाल में था और दूसरा व्रज, राजस्थान एवं गुजरात में। इस समय पंढ़ारपुर में विष्णु (विट्ठल नाथ) की भक्ति और अयोध्या में राम-भक्ति के केन्द्र थे। कृष्ण-भक्ति के मधुर भाव की प्रतिष्ठा होने के बाद पढ़ारपुर का केन्द्र उसी के रंग में रंग गया। अयोध्या के केन्द्र पर भी विशेष प्रभाव पड़ा। तुलसीदास की कविता में यह प्रभाव स्पष्ट है। बंगाल में कृष्ण-भक्ति को दृढ़ करने वाले महाप्रभु चैतन्य थे। उनका जन्म सं० १५४२ (सन् १४८५ ई०) में हुआ। वे माधवेन्द्र पुरी के शिष्य थे। यही माधवेन्द्र पुरी वल्लभाचार्य के भी गुरु थे परन्तु कुछ समय पश्चात् उनके शिष्य हो गये। चैतन्य ने राधा-भाव से कृष्ण की उपासना की। उन्होंने राधा-कृष्ण के अनन्य प्रेम से सारे बंगाल को ओत-प्रोत कर दिया। उनका जीवन विरह तन्मयासक्ति का उत्कृष्ट उदाहरण है।

वल्लभाचार्य का जन्म सं० १५३५ (सन् १४७८ ई०) में हुआ। ये चैतन्य से सात आठ वर्ष बड़े थे। ये उनके गुरु भाई भी थे। दोनों ने अपने समय के प्रचलित भक्ति मार्ग को ही पुष्ट किया। अतः चैतन्य और वल्लभ के मतों में बहुत कुछ ऐक्य है। दोनों में मधुर भाव की भक्ति का विशेष स्थान है। दोनों में राधा-कृष्ण की भक्ति को एक ही महत्व दिया गया है। अन्तर केवल इतना है कि चैतन्य सम्प्रदाय में भावुकता को अधिक स्थान मिला है। कृष्ण की रास लीला के अनुकरण में चैतन्य सम्प्रदाय में गान, वाद्य, नृत्य और कीर्तन को विशेष स्थान मिला। सम्भव है कि उस पर सूफ़ी मत का प्रभाव पड़ा हो। वल्लभ सम्प्रदाय की भक्ति अधिक संयत है। उसमें पूजा विधि का महत्वपूर्ण स्थान है। वार्ता से पता चलता है कि वल्लभाचार्य ने कीर्तन का प्रबन्ध

श्रीनाथ जी की स्थापना के कई वर्ष बाद किया। सम्भव है कि इसका कारण चैतन्य सम्प्रदाय का प्रभाव हो क्योंकि चैतन्य ने स्वयं ब्रज की यात्रा की थी तथा जीव गोस्वामी आदि उनके अनुयायी ब्रज में बहुत दिन तक रहे थे। श्रीनाथ जी के मंदिर का प्रबन्ध भी लगभग बीस वर्ष तक बंगालियों के हाथ में रहा। इस प्रकार चैतन्य सम्प्रदाय की भावुकता और रसिकता वल्लभ सम्प्रदाय को बहुत समय तक प्रभावित करती रही।

वैष्णव धर्म के द्वितीय पुनरुत्थान में वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का विशेष हाथ है। सूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का अध्ययन करते समय वल्लभ के सिद्धान्तों और पुष्टिमार्ग पर प्रकाश डाला गया है अतः यहाँ सामान्य रूप से उसकी चर्चा की जायगी।

संवत् १५४८ (सन् १४९२ ई०) में वल्लभाचार्य ब्रज में आये और श्री गोवर्धन जी पर श्रीनाथ जी की मूर्ति की स्थापना की। श्रीनाथ जी की पूजा का उत्तरदायित्व अपने कुछ शिष्यों पर सौंप कर वे फिर यात्रा को निकले। तीस वर्ष की आयु में उन्होंने तीन बार भारत-भ्रमण किया। उनकी यात्राओं ने उनके मत-प्रचार के लिये मार्ग प्रशस्त किया। सहस्रों लोग कृष्ण-भक्त हो गये। दूसरी यात्रा के समय उन्होंने काशी में अपना विवाह किया। तीसरी यात्रा समाप्त करने के बाद वे प्रयाग के समीप अड़ैल नामक ग्राम में घर बना कर गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने लगे। वहीं उनके दो पुत्र हुये। अंत समय में वे सन्यासी हो गये। देहावसान काशी में हुआ। वल्लभाचार्य ने वैष्णव धर्म को दो विशेष प्रकार की भक्ति-पद्धतियाँ दीं। एक तो राधा-कृष्ण की मधुरभाव की उपासना जो चैतन्य सम्प्रदाय में भी प्रधान रूप प्राप्त कर चुकी है। दूसरे प्रकार की भक्ति वल्लभाचार्य की मौलिक कल्पना है। यह अवश्य है कि भागवत में श्री कृष्ण की बाल-लीला का वर्णन है और पंचरात्र में वात्सल्य भक्ति को भी भक्ति का एक अंग माना गया है। परन्तु व्यवहार में वात्सल्य भक्ति की स्थापना करने का श्रेय सम्पूर्ण रूप से वल्लभाचार्य को है। भक्ति के इन दो प्रकारों ने वैष्णव

धर्म का रूप ही बदल दिया, वह सर्व साधारण के लिये अत्यन्त सहज हो गया। उसमें वात्सल्य हृदय प्रौढ़ स्त्री पुरुषों और प्रेम संस्कारपूर्ण युवती-युवतियों—सभी के लिये स्थान था। यही कारण था कि लगभग चार सौ बरस तक सारा उत्तर भारत राधा कृष्ण के नाम से गूँजता रहा और उत्तर भारत की सभी भाषाओं का साहित्य उसी में रंग गया। उनके आंदोलन ने भारतीय चित्रकला में राजस्थानी और कांगड़ा शैली को जन्म दिया। भगवान कृष्ण के जन्म से लेकर उनके स्वर्गारोहण तक की सभी लीलाएँ साहित्य, चित्रकला, मूर्तिकला और जन-गीतों के द्वारा सहस्रों वार अभिव्यक्त हुईं।

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग में मध्य-युग की संस्कृति के निर्माण में विशेष रूप से भाग लिया। उसके बाल-कृष्ण प्रत्येक घर में जन्म लेने लगे। उसकी राधा कृष्ण के संवन्ध की मधुर कल्पना ने भारतीय घरों में प्रेम के परिष्कृत रूप की प्रतिष्ठा की। बाद के शृङ्गार काव्य की धारा ने राधा-कृष्ण को लेकर साहित्य और धर्म का कुछ उपकार भी किया परन्तु इसके लिये वल्लभाचार्य और उनका पुष्टि-मार्ग उत्तरदायी नहीं है। यह उस युग की मनोवृत्ति का प्रभाव है जिसमें वल्लभाचार्य के शिष्यों का जन्म हुआ था तथा जिसमें उन लोगों ने काम किया था।

स्वयं वल्लभाचार्य के इष्टदेव बालक कृष्ण हैं। उन्हें श्रीनाथ जी का बाल-कृष्ण, गोपाल कृष्ण और नवनीत प्रिय रूप ही अधिक रुचि कर प्रतीत हुआ। वल्लभ सम्प्रदाय की पूजा-विधि से अब भी यह बात स्पष्ट हो जाती है। भगवान का दैनिक कार्यक्रम बालक का ही है। प्रातः काल सो कर उठने से रात्रि में शयन तक की दिनचर्या में आठ दर्शन होते हैं—(१) मंगलाचरण (२) शृङ्गार (३) ग्वाल रूप (४) राज भोग (५) उत्थापन (६) भोग (७) संध्या आरती (८) शयन। वल्लभ सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र गोकुल है। उसके मुख्य मंदिर में नवनीत प्रिय भगवान की ही प्रतिष्ठा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है

कि यद्यपि वल्लभाचार्य की सारी लीला कृष्ण-प्रिय थी और उन्होंने राधा को अपने मत में स्थान देकर मधुर भावना की उपासना को स्वीकार भी कर लिया था तथापि उनके इष्टदेव नवनीत प्रिय बालक कृष्ण ही थे।

वल्लभाचार्य की मृत्यु के पश्चात् उनके सम्प्रदाय में राधा का महत्व अधिक बढ़ा होगा। सम्भव है कि यह चैतन्य मत का प्रभाव हो। वल्लभाचार्य के समय में ही श्रीनाथ के मंदिर में बंगाली वैष्णव पूजा के लिये नियुक्त किये गये थे। सम्भव है कि उस युग की शृङ्गार-प्रियता के कारण ऐसा हुआ हो, जिसकी झाँकी मुग़ल सम्राटों के वैभव में मिलती है। जो हो पुष्टि मार्ग ने हिन्दी में जिस साहित्य को जन्म दिया उसमें राधा-कृष्ण के प्रेम को लेकर शृङ्गार रस ही अधिक प्रस्फुटित हुआ। 'अष्टछाप' के कवियों की जीवनियों के पढ़ने से यह स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रदाय में दीक्षित होने से पहले उनमें रसिकता की मात्रा अधिक बढ़ी हुई थी। राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला सम्बन्धी शृङ्गारिक पद गाकर उन्हें अपनी मनोवृत्ति के विपर्यय का अच्छा अवसर मिला। विट्ठलदास के समय में तो सम्प्रदाय ने राधा को और भी अधिक महत्व दे दिया। उस समय के अन्य धर्म-सम्प्रदायों और युग की सामान्य प्रवृत्ति को देखकर यह नहीं कहा जा सकता की परवर्तीकाल में अनाचार बढ़ाने का कितना दोष वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग पर डाला जा सकता है। परन्तु दो शताब्दियों बाद इस सम्प्रदाय के आचारों में शिथिलता अवश्य आ गई थी।

संक्षेप में, वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग तथा अष्ट-छाप द्वारा प्रकाशित उसकी कविता ने मध्ययुग के मानव जीवन को सरस और सौन्दर्य प्रिय बनाया। निर्जीव हिन्दू साहित्य, संगीत और कला एक नये जीवन से ओत प्रोत हो गये। उसने मानव संस्कृति के ऐसे कोनों का स्पर्श किया, जिनकी ओर उस समय तक भारतीय धर्म व्यवस्थापकों, साहित्यिकों और कलाकारों की दृष्टि नहीं पहुँची थी।

२

राधा

राधा का व्यक्तित्व ऐतिहासिक नहीं है। वह दार्शनिक धर्म-ग्रन्थों और कवियों की सूझ है। उसके व्यक्तित्व का निरंतर विकास होता गया है, यहाँ तक कि हमें सूरदास के काव्य में उसका एक पूर्ण चित्र मिल जाता है। सूरदास के समय से अब तक राधा के चरित्र में कोई विकास नहीं हुआ है।

महाभारत में कृष्ण के जीवन का पहला पूर्ण चित्र हमारे सामने उपस्थित होता है। परन्तु इसमें गोप-लीला का अभाव है। महाभारत में न गोपियाँ हैं, न राधा। गोप-लीला का परिचय हमें पहिली बार श्रीमद्भागवत में मिलता है, परन्तु कृष्ण की प्रेम-लीला में भाग लेने वाली असंख्य गोपियों में राधा कहीं भी नहीं है। सारे भागवत में कहीं उसका नाम भी नहीं आया है। इस ग्रन्थ में एक स्थान पर कृष्ण की एक विशेष प्रिय गोपिका का उल्लेख है। इस गोपी ने पूर्व जन्म में कृष्ण की आराधना की थी। उसके विशेष प्रिय होने का कारण भी यही है। सम्भव है कि इसी बात से बाद में राधा नाम की एक विशेष गोपी की कल्पना की गई हो जो कृष्ण को विशेष प्रकार से प्रसन्न करती है[1]। हरिवंश पुराण और विष्णु पुराण में भी राधा के चिन्ह नहीं मिलते। ईसा की दूसरी शताब्दी में लिखे गये भास के नाटकों में भी राधा का नाम नहीं आया है[2]।

---

१. राधा शब्द संस्कृत धातु राध् से बना है जिसका अर्थ है सेवा करना अथवा प्रसन्न करना।

२. कृष्ण की बाल-लीला के संबंध का एक नाटक बाल चरित्र है।

परन्तु खोज द्वारा पता चलता है कि राधा की कल्पना पहिली शताब्दी अथवा उससे भी पूर्व काल में हो चुकी थी। संस्कृत ग्रन्थों में राधा का पहला परिचय दसवीं शताब्दी में मिलता है परन्तु देशी भाषाओं में राधा का उल्लेख इससे पूर्व आ जाने के कारण उनका इतना महत्व नहीं रह जाता। देशी भाषा लोक-भावना के अधिक निकट थी। अनुमान यह होता है कि राधा के संबंध में जन-गीत प्रचलित रहे होंगे। देशी भाषा के कवियों ने अपने काव्य में उनके प्रभाव को ग्रहण किया। दसवीं शताब्दी के लगभग जब कृष्ण के लिए उनकी शक्ति के नारी-रूप की कल्पना करने की आवश्यकता पड़ी तो धर्म-व्यवस्थापकों ने जन-समाज में प्रचलित और कृष्ण से संबन्धित राधा को कृष्ण की पत्नी के रूप में ग्रहण कर लिया।

भाषा-काव्य में सबसे पहले राधा शब्द प्राकृत की 'गाथा सप्तशती' में पाया जाता है जिसका निर्माण काल विक्रम संवत् के आविर्भाव काल के निकट है। इससे कुछ ही समय बाद के ग्रंथ 'पंचतंत्र' में इसी राधा का नाम आता है।

धर्म ग्रन्थों में राधा का पहला विशद चित्र ब्रह्मवैवर्त पुराण में मिलता है जो भागवत के बाद का ग्रंथ है[1]। इसके कुछ ही समय बाद निम्बार्क और जयदेव का काल आता है। निम्बार्क ने राधा को

उसके अन्य नाटक दूत-वाक्य और दूत घटोत्कच हैं। भास के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान उन्हें ईसा-पूर्व का रचा हुआ समझते हैं अन्य विद्वान उन्हें तीसरी शताब्दी के अन्त अथवा चौथी शताब्दी के अन्त में लिखा हुआ स्वीकार करते हैं। हमने उनका निर्माण काल बीच का मान लिया है। विशेष परिचय के लिये देखिये जैसवाल और स्टेनकोनो की खोजें और विन्टरनीज़ का ग्रन्थ—Some Problems of Indian Literature p. 135.

१. दसवीं शताब्दी के लगभग।

कृष्ण की मूल-प्रकृति कहा है[1]। जयदेव के ग्रन्थ 'गीत-गोविंद' में राधा का जो केलि विलासमय चित्र उपस्थित होता है; उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि उस युग में राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप में हो चुकी थी[2]। इस समय तक राधा का कृष्ण की बाल-लीला के साथ सम्बन्ध नहीं जोड़ा गया था। इससे पहले राधा को वैष्णव धर्म की उपासना-पद्धति में स्थान नहीं मिला था[3]। काव्य में अवश्य राधिका का प्रचलन हो गया था। जयदेव के कुछ ही परवर्ती आनंदवर्धनाचार्य के ध्वन्यालोक में दो श्लोक राधा के सम्बन्ध में मिलते हैं।

इस प्रकार हम चौदहवीं शताब्दी में पहुँचते हैं। इस समय भागवत सम्प्रदाय का नये रूप से विकास हुआ। आचार्यों ने कृष्ण के साथ राधा की उपासना को भी मान्य समझा। कवियों एवं भक्तों ने राधा कृष्ण का संबंध पूर्णतः जोड़ दिया। इस समय के 'गोपाल तापनी उपनिषद्' में राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसी के रूप में हुआ है।

अगली शताब्दी में राधा कृष्ण का काव्य में प्रचुर प्रयोग हुआ है। विद्यापति और उनसे कुछ पहिले उमापति ने राधा-कृष्ण की शृङ्गारिक लीलाओं को अपने गीति-काव्य का विषय बनाया। यह मध्य प्रदेश के पूर्वी भाग की बात है। अधिक पूर्व बंगाल में इसी समय चंडीदास

---

१. अंगे तु वामे वृषभानुजां मुदा।
विराजमाना मनु रूप सौभगाम्॥
सखी सहस्रैः परिसेवितां सदा;
स्मरेमृदेवीम् सकलेष्ट कामदाम्॥

दश श्लोकों (स्तोत्र)

२. जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी है।

३. निम्बार्क के पहले भागवत पुराण के आधार पर माधव सम्प्रदाय की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। परन्तु इसमें द्वैतवाद के सिद्धान्त पर कृष्णोपासना को ही स्थान दिया गया है।

ने कृष्ण काव्य की रचना की। दक्षिण-पश्चिमी भारत में भी राधा-कृष्ण का चरित्र काव्य का विषय बना। गुजरात में नरसी मेहता ने राधा-कृष्ण विषयक रचनायें कीं। मीराबाई ने राजस्थान में मधुर भाव से कृष्ण की उपासना की। उनकी कविता में वे स्वयं राधा-रूप से उपस्थित हैं। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त तक राधा-कृष्ण की युगल जोड़ी की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। उनके विषय में जो रचनायें की गईं उनसे यह भी स्पष्ट है कि राधा-कृष्ण का सम्बन्ध गोपियों के सम्बन्ध के बाद हुआ जब कि दोनों तरुण हो चुके थे। बाल-लीला और तरुण कृष्ण की प्रेम लीला में संबंध अगली शताब्दी में सूरदास ने जोड़ा। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पश्चिम में राधा कृष्ण का रूप धार्मिक अधिक था। वह भक्ति और उपासना का विषय बनाया गया था। परन्तु पूर्व में उसके काव्यात्मक अंग अधिक विकसित हुये थे। सम्भव है कि इसका कारण यह हो कि राधा की उपासना पहले भागवत पुराण के आधार पर वृन्दावन में आरम्भ हुई[1] और वहीं से वह बंगाल तथा अन्य स्थानों में पहुँची। बंगाल में पहुँचते पहुँचते उसमें उपासना भाव से अधिक काव्य और रस की प्रतिष्ठा हो गई। महाराष्ट्र के व्रज केन्द्र से निकट होने के कारण उसमें उपासना का भाव अधिक रहा।

तत्पश्चात् चैतन्य महाप्रभु और वल्लभाचार्य का जन्म हुआ। ये दोनों अपने पूर्ववर्ती कवियों तथा आचार्यों से प्रभावित हुये। वल्लभाचार्य ने विष्णु स्वामी से प्रभावित होकर राधा की उपासना की प्रतिष्ठा की। उन्होंने बाल-कृष्ण को अपना उपास्यदेव माना और नवनीत प्रिय के नाम से उनकी स्थापना की। उनके सम्प्रदाय में राधा नवनीत प्रिया हो गई। इस प्रकार कृष्ण की बाल-लीला एवं तरुण-प्रेम-लीला के सामंजस्य उत्पन्न करने का अवसर उपस्थित हुआ। सूरदास ने राधा-कृष्ण के प्रसंग पर अपनी कल्पना का प्रकाश डाला और किशोर-किशोरी की प्रथम भेंट मे

---

१. फर्कुहर के मतानुसार ११०० ई० शताब्दी के लगभग

लेकर कुरुक्षेत्र से लौटने पर कृष्ण द्वारा राधा को पत्नी-रूप में स्वीकार करने की कथा तक एक पूर्ण विकसित जीवन-चरित्र उपस्थित किया। चैतन्य महाप्रभु ने भी अपने सम्प्रदाय में राधा को महत्त्वपूर्ण स्थान दिया। राधा के महाभाव को प्राप्त करना भक्त का सर्वोत्तम लक्ष्य था।

परवर्ती काल में राधा को लेकर भक्ति मार्ग में अनेक दोष आ गये। एक मत राधा को ही अन्यतम उपास्य मान कर उठ खड़ा हुआ[1]। बंगाल में शक्ति-पूजा तथा तंत्रवाद ने राधा की भक्ति को विशेष रूप से कलुषित किया[2]। स्वयम् वल्लभ सम्प्रदाय में वल्लभाचार्य की मृत्यु के उपरांत विट्ठलनाथ ने सम्प्रदाय में राधा को विशेष स्थान दिया और अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में भी अपनी प्रतिष्ठा की।

जयदेव की राधा

जयदेव की राधा प्रेम-विह्वला है। कृष्ण की अनेक गोपियों में से एक वह भी है। वे जानती है कि उसके कृष्ण विलास चतुर हैं। उनके सौन्दर्य[3] पर वह रीझ गई है। वह जानती है कि कृष्ण अनेक सुंदरियों के साथ रमण करते हैं[4]। परन्तु उसे उनसे कोई ईर्ष्या नहीं वह यह सब सहन कर सकती है। उसे केवल कृष्ण चाहिये जिनके सौन्दर्य और विलास चातुर्य ने उसे मुग्ध कर लिया है। वह स्वयं विलास-केलि-प्रिय है। वह प्रगल्भा है परन्तु प्रेमाधिक्य के कारण उसकी लज्जा बाढ़ के टूट जाने पर नदी के जल की तरह उछृङ्खल रूप में बह जाती है। उसके प्रेम का वेग अगाध है अतः उसकी निरंकुशता भी उसका सौन्दर्य है।

---

१. राधा स्वामी मत।

२. बंगाल में प्रचलित सहजिया वैष्णव सम्प्रदाय की धारणाओं से इस बात की पुष्टि होती है। बंगाल में परकीया-रूप से राधा की उपासना भी प्रचलित है।

३. प्रचुर पुरन्दर धनुरनु रंजित मेदुर मुदिर सुवेशम्।

४. गोप कदम्ब नितम्बवती मुख चुंबन..........।

जिस प्रकृति के बीच में जयदेव ने राधा-कृष्ण की विलास-लीला का चित्रण किया है वह विलास और काम की उद्दीपन सामग्री से भरी पड़ी है। इस प्रकार वह राधा-कृष्ण की लीला के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि उपस्थित करती है[1]।

जयदेव ने विलासिनी, प्रेमाकुला और यौवन प्राप्त राधा का चित्रण है। विद्यापति अपनी राधा को वयःसन्धि की अवस्था में उपस्थित करते हैं। उनकी यह सृष्टि अद्भुत[2] है।

विद्यापति की राधा

---

१. मेघर्मेदुरम्बरं वन भुवः श्यामास्तमालद्रुमै—
रक्तभीर्नैरयं त्वमेव तमिदं राधे गृहं प्रापय।
इत्थं नंद निदेशश्चलितयोः प्रत्यध्व कुंज द्रुमं—
राधा माधवयोर्जयन्ति यमुना कूलेरहः केलयः।
ललित लवंग लता परिशीलन कोमल मलय समीरे।
मधुकर निकर करंवित कोकिल कूजित कुंज कुटीरे।
विहरति हरिरिह सरस वसन्ते।

२. शैशव यौवन दुहु मिलि गेल।
श्रवनक पथ दुहुँ लोचन मेल।
वचनक चातुरि लहु लहु हास।
धरनीए चाँद करत परकास।
छने-छने नयन कोन अनुसरइ।
छने-छने वसन धूलि तनु भरइ।
छने-छने दसन छटा-छट हास।
छने-छने अधर आोज करु वास।

तथा—

जाहाँ-जाहाँ पद युग धरइ।
ताँहा-ताँहा सरोरुह भरइ।
जाहाँ-जाहाँ झलकत अंग।
ताहाँ-ताहाँ बिजुरि तरंग।

उस समय राधा भोली किशोरी है। कुछ समय बाद अज्ञात यौवना हो जाती है। उसी समय उसका परिचय कृष्ण से होता है। यह मिलन भी अद्भुत है[१]। इसके बाद राधा-कृष्ण के अनेक संयोग-वियोग के अनेक चित्र हमारे सामने उपस्थित होते हैं। विद्यापति ने दूती-कर्म का विस्तृत चित्रण किया है। कृष्ण के मिलन और विरह दोनों अवसरों पर दोनों पक्ष की दूतियाँ अपने काम में बड़ी तत्परता से लगी दिखाई देती हैं। अंत में जब राधा-कृष्ण का मिलन होता है तो राधा के आनंद का पूछना ही नहीं, वह निकल पड़ती है—

कि कहब रे सखि आनंद ओर।
चिर दिने माधव मंदिर मोर॥
दारुन वसन्त जात दुख देत।
हरि मुख हेरइते सब दुख गेल॥
पाप सुधाकर जत दुख देल।
पिया मुख दरसने तत सुख भेल॥
यतहुँ आछिल मोर हृदयक साध।
से सब पूरल हरि परसाद॥
रभस आलिंगने पुलकित भेल।
अधरक पाने विरह दुर गेल॥

संक्षेप में विद्यापति की राधा आरम्भ में किशोरी है, बीच में मुग्ध एवं विलास प्रिय है, अंत में हृदय मन से कृष्णमय हो गई। उस समय उसकी परिसमाप्ति अनिर्वचनीय उल्लास में हुई है। यह कृष्ण के लीलामय क्रीड़ानंद-प्रधान रूप का अविभाजित अंग है।

---

१. आध आँचर खसि आध वदन हसि आधहिं नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आँचर भरि तब धरि दगधे अनंग।
दसन मुकता पांति अधर मिलायत मृदु मृदु कहतहि भाषा।

चण्डीदास की राधा जयदेव तथा विद्यापति की राधा से भिन्न है[1]।

चण्डीदास की राधा

उसका निर्माण अधिक कोमल एवं भावुक तत्वों से हुआ है। आदि से अंत तक वह अश्रु से गढ़ी हुई मूर्ति है। उसके प्राण कृष्ण में हैं[2]। उसकी प्रीति अद्‌भुत है। वियोग की तनिक सी आशंका से वह पागल हो जाती है। उसे कृष्ण की अनंतसंगिनी होने की ही अभिलाषा है। उनके साथ विलास-रत होने की नहीं। चण्डीदास ने राधा-कृष्ण के मिलन में गुरु जन, ननद आदि द्वारा बाधा पड़ने की कल्पना करके राधा को परकीया बना दिया[3]। परन्तु इन्हीं बाधाओं के कारण राधा के प्रेम में जिन अत्यंत कोमल और सूक्ष्म मानसिक परिस्थितियों और हृदय-गत भावों का चित्रण हो सकता है, वह विद्यापति में नहीं है। चण्डीदास की राधिका तन्मयता में अद्वितीय हैं। कलंक-भय, गुरु-जन बाधा, स्वभाव-जन्य

---

१. "विद्यापति की राधा कई चित्रों का समष्टि रूप है। जयदेव की राधा की भाँति उसमें शरीर का भाग अधिक है, हृदय का कम × × × × चंडीदास की राधा में मान करने की क्षमता भी नहीं है। दसों इद्रियाँ तो मुग्ध है मन मान कैसे करे! वह अपूर्व तन्मयता है"

(डा० दिनेश चंद सेन)

"विद्यापति की राधा में प्रेम की अपेक्षा विलास अधिक है; उसमें गम्भीरता का अटल स्थैर्य नहीं है......"

महाकवि रवींद्रनाथ टाकुर

२. तुम मोर पति तुम मोर गति मन नाहिं आन भय।
कलंकी बलिया डाके सब लोके तहाते नाहिक दुख।
तो भार लागिया कलंकेर हार, गलाय परिते सुख।

३. घरे गुरु जन ननदी दारुन, बिलंबे बाहिर है नू।
अहा मरि-मरि, संकेत करि, यत ना यातना दिनू।

आ जाओ,[1] मिलन-भय और भावी संयोगानंद की कल्पना से भी उनके प्रेममय व्यक्तित्व का निर्माण किया है। विद्यापति की चंचल, मधुर तथा नव यौवना राधा से चंडीदास की प्रेम-गम्भीर, व्याकुल और कलंक भय से पद-पद पर आशंकित राधा का चित्र ही अधिक उज्ज्वल और अलौकिक हुआ है। उसमें परमात्म-तत्त्व के लिए व्याकुल जीवात्मा की वेदना बड़ी सफलता से प्रस्फुटित हुई है। चंडीदास की राधा कृष्ण की प्रेयसी ही नहीं है, उनकी भक्त है। अधिकांश काव्य में वह भक्त को छोड़कर और कुछ भी नहीं है[2]।

जयदेव, विद्यापति, चंडीदास और सूरदास इन समस्त महात्माओं ने राधा के चरित्र को अपने हृदय के सारे रस और अपनी सारी कवित्व शक्ति से मंडित किया है। उन्होंने राधा-कृष्ण की प्रेम लीला में कोई भी बात गर्हित एवं वर्जित नहीं समझी। उनके काव्य का आधुनिक पाठक आश्चर्य में पड़ जाता है—क्या ये महापुरुष भक्त हैं? अथवा घोर शृङ्गारिक? यदि वे भक्त हैं, तो वे अपने उपास्यदेव के इस प्रकार के वासना-प्रधान चित्र क्यों उपस्थित करते हैं?

यह प्रश्न आज हमारे मन में इसलिये उठता है कि हम विश्वास की भूमि से दूर जा पड़े हैं। दूसरे मध्ययुग की पृष्ठभूमि को छोड़ कर हम इन कवियों के काव्य को अपने सामने रखते हैं। इसीलिये यह प्रश्न हमारे मन में प्रधान है। क्या हम यह नहीं समझ सकते कि मध्ययुग के कवि और भक्त दो अलग सत्ता नहीं रखते थे और जिस शृङ्गार का वर्णन उन्होंने किया है, वह एक अलौकिक व्यक्ति का शृङ्गार है? क्या हम राधा कृष्ण के शृङ्गार के पीछे उत्सुकता, प्रेम और विह्वलता से भरे भक्त

---

१. एइ भय उठे मने एइ भय उठे।
ना जानि कानूर प्रेम तिले जनि छुटे।

२. गोप गोयालि की हाम अति दिना ना जानि भजन पूजन।
पीरीति रसते, ढालि तनुमन दियछि तोमार पाय।

हृदय की झाँकी नहीं पाते ? जयदेव अपने काव्य को "सरस हरि स्मरण" कहते हैं। विद्यापति अपूर्व रूपवती राधा के चरणों में अपने काव्य को पुष्पांजलि के रूप में उपस्थित करते हैं।

देख देख राधा रूप अपार।
अपरुव के विह आनि मिलाओल खिहितल लावनि सार॥
अंगहि अंग अनंत मुरछायत हेरिये पड़इ अधीर।
मनमथ कोटि मथन करु जे हरि से हरि महिमह गीर।
कत कत लछमी चरन तल ने उछे रंगनि हेर विभोर॥
करु अभिलाष मनहिं पद पंकज अहो निशि केरि अगोरि॥

चंडीदास की राधा तो प्रेम-विह्वल, आकुल-हृदय, तन्मयासक्त भक्त का ही रूप है।

कानू से जीवन जाति प्रान धन ए दुइ आँखिर तारा।
परान अधिक हियार पुतली निमिषे निमिषे हारा।

उधर सूरदास राधा के चरणों में प्रणत होते हैं और उनसे कृष्ण की भक्ति माँगते हैं।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि शृङ्गार-चित्रण के समुद्र के केन्द्र में पहुँच कर भी मध्ययुग के इन कवियों ने अपने ध्रुव लक्ष्य को भुला नहीं दिया। उनका मुँह उसी ओर रहा। यह अवश्य है कि उन्होंने प्रत्येक पद में इस शृङ्गार-लीला की अलौकिकता का रोना नहीं रोया। वे एक बार संकेत करके सामने से हट गये। यद्यपि उन्होंने स्वयम् उस संकेत को नहीं भुलाया। आज हम भले ही यह बात न समझें, मध्ययुग का भक्त और विश्वासी श्रोता इस तत्व को समझता था।

वास्तव में, राधा ने मध्ययुग की भक्ति को एक नया रूप दे दिया। उसने मधुर रस की सहज साधना को जन्म दिया। इस साधना में कठिन ज्ञान, तप, योग अथवा उपासना के वेद-विहित पुरातन नित्य अथवा नैमित्तिक कर्मों (यज्ञ, याग मंत्रादि) को कोई स्थान नहीं मिला। यदि

स्थान मिला भी तो गौण। भक्त को केवल अपने इन्द्रियों की आसक्ति के केन्द्र का विपर्यय करना पड़ता था। उसकी लौकिक प्रीति (वासना) ही अलौकिक सत्ता की ओर उन्मुख की जाती थी[1]। उसका ध्येय विद्यापति की इन पंक्तियों में स्पष्ट है—

जनम अवधि हम रूप निहारलु
नयन न तिरपित भयल।
सेइ मधुर बोल श्रवणहि सुनलु,
श्रुतिपथ परसे न गेल॥

इसी अपूर्व रूप और स्वर को मध्ययुग के मनुष्य ने भक्ति-भाव, रस, अलंकार, भाषा और अपनी ऐन्द्रिय वासनाओं के द्वारा अपने लिये सुलभ और साकार बनाने की चेष्टा की है। यही उसकी साधना है। यही उसकी भक्ति है। यही उसकी कविता है। यहीं पर उसने राधा के महत्व को समझा है जो कहीं उसके लिए कृष्ण की लीला के रस को प्राप्त करने का साधन है और कहीं स्वयं साध्य है।

पुनश्च

लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० दीनदयालु गुप्त ने 'अ
का अध्ययन' में सूरदास की जीवनी और रचनाओं
उपस्थित की है। उन्होंने इस ग्रंथ में सूरदास का साहित्य
नहीं किया है, वे परमानन्द और नंददास की ही वृह
है। इस नवीन सामग्री की ओर इंगित करते हुए
निष्कर्षों को यहाँ रख देते हैं।

डा० गुप्त ने उस सारी सामग्री की विशद परीक्ष
पुस्तक के सूर के जीवन-चरित
सामग्री ब्रह्मभट्ट वाले साहित्य लहरी के
और अप्रामाणिक ही मानते हैं।
भी उपस्थित की है जो प्रधानतया वल्लभ-सम्प्रदाय से
श्री गुसाईं जी के सेवकन की वार्ता, वल्लभ-दिग्विजय, नि
तथा चौरासी वैष्णवन के चरित्र, श्री द्वारिकानाथ जी प्रा
गिरिधर लाल जी महाराज के १२० वचनामृत, नागर
की वार्ता, चौरासी भक्तनाममाला (संतदास कृत)
इसके अतिरिक्त उन्होंने व्यासवाणी को भी वाह्यसामग्री
किया है। इन नामावलियों से सूर के जीवन तथ्यों में वे
कारी निश्चय बना चुके हैं। इनमें सबसे मुख्य ग्रंथ ८४
और चौरासी वार्ता पर हरिराय जी का 'भावप्रकाश' है:

१—हरिराय जी ने सूर के पदों की संख्या 'लक्षावधि

२—वार्ता से सूर की केवल एक रचना (सू
मिलता है और उनकी कविता के जो भिन्न-भिन्न रूप हि
समावेश इसी एक ग्रंथ में हो गया है।

३—'अष्टसखान की वार्ता' में सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। संतदास कृत 'चौरासी भट्टनाम माला' से इस बात की पुष्टि होती है कि सूर जन्मांध थे। 'वल्लभ-दिग्विजय' से सूरदास के दीक्षाकाल पर प्रकाश पड़ता है। 'मूलगोसाईं चरित्र' में दिए हुए सूरदास के वृत्तांत को श्री गुप्त हमारी तरह ही असंगत मानते हैं। सम्प्रदाय की अनेक जनश्रुतियों से भी इन्होंने सहारा लिया है जैसे—

(१) सूर सारस्वत ब्राह्मण थे।
(२) सूरदास वल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे।
(३) सूरदास जन्मांध थे।
(४) सूरदास ने सवा लाख पद बनाये।
(५) सूरदास ने साहित्य लहरी की रचना नंददास के लिये की।
(६) सूरदास एक बार अकबर से मिले थे।
(७) सूरदास का जन्म सीही ग्राम में हुआ था।

इन सब जनश्रुतियों का समर्थन सम्प्रदाय ग्रंथों से हो जाता है। इन सब आधारों की सहायता से डाक्टर गुप्त ने सूर के जीवनवृत्त के पूर्णतया निर्माण की चेष्टा की है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार है :—

सूरदास का जन्मस्थान दिल्ली से ४ कोस ब्रज की ओर स्थित सीही ग्राम था। वैराग्य के बाद वे गऊघाट पर रहते थे और कभी कभी रुनकता भी चले जाते थे। वास्तव में प्राचीन रुनकता गऊघाट से लगा हुआ ग्राम था। बाद में वे गोवर्धन पर रहे और मृत्यु के समय पारसोली में रहने लगे थे। बीच-बीच में मथुरा, वृन्दावन आदि भी जाते रहे होंगे, परन्तु वे व्रजभूमि के बाहर कभी नहीं गये।

१. जन्मस्थान और निवास स्थान

'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार

२. जाति वे सारस्वत ब्राह्मण थे।

पुनश्च

लखनऊ विश्वविद्यालय के डा० दीनदयालु गुप्त ने अपने थीसिस 'अष्टछाप का अध्ययन' में सूरदास की जीवनी और रचनाओं पर नवीन सामग्री उपस्थित की है। उन्होंने इस ग्रंथ में सूरदास का साहित्यिक अध्ययन उपस्थित नहीं किया है, वे परमानन्द और नंददास की ही बृहद् समीक्षा कर सके हैं। इस नवीन सामग्री की ओर इंगित करते हुए हम कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्षों को यहाँ रख देते हैं।

सामग्री

डा० गुप्त ने उस सारी सामग्री की विशद परीक्षा की है जिसका इस पुस्तक के सूर के जीवन-चरित भाग में निर्देश है। ब्रह्मभट्ट वाले साहित्य लहरी के पद को वे प्रक्षिप्त और अप्रामाणिक ही मानते हैं। उन्होंने नवीन सामग्री भी उपस्थित की है जो प्रधानतया वल्लभ-सम्प्रदाय से संबंध रखती है जैसे श्री गुसाईं जी के सेवकन की वार्ता, वल्लभ-दिग्विजय, निज वार्ता, घरू वार्ता तथा चौरासी वैष्णवन के चरित्र, श्री द्वारिकानाथ जी प्राकट्य की वार्ता, श्री गिरिधर लाल जी महाराज के १२० वचनामृत, नागर समुच्चय, अष्टसखान की वार्ता, चौरासी भक्तनाममाला (संतदास कृत) सम्प्रदाय कल्पद्रुम। इनके अतिरिक्त उन्होंने व्यासवाणी को भी वाह्यसामग्री के रूप में उपस्थित किया है। इन वाह्यसामग्रियों से सूर के जीवन तथ्यों में वे कुछ मौलिक क्रांतिकारी निश्चय बना सके हैं। इनमें सबसे मुख्य ग्रंथ ८४ वैष्णवन की वार्ता और चौरासी वार्ता पर हरिराय जी का 'भावप्रकाश' है :—

१—हरिराय जी ने सूर के पदों की संख्या 'लक्षावधि' कही है।

२—वार्ता में सूर की केवल एक रचना (सूरसागर) की सूचना मिलती है और उनकी कविता के जो भिन्न-भिन्न रूप दिये हैं, उन सबका समावेश इसी एक ग्रंथ में हो गया है।

३—'अष्टसखान की वार्ता' में सूरदास को सारस्वत ब्राह्मण कहा गया है। संतदास कृत 'चौरासी भट्टनाम माला' से इस बात की पुष्टि होती है कि सूर जन्मांध थे। 'वल्लभ-दिग्विजय' से सूरदास के दीक्षाकाल पर प्रकाश पड़ता है। 'मूलगोसाईं चरित्र' में दिए हुए सूरदास के वृत्तांत को श्री गुप्त हमारी तरह ही असंगत मानते हैं। सम्प्रदाय की अनेक जनश्रुतियों से भी उन्होंने सहारा लिया है जैसे—

(१) सूर सारस्वत ब्राह्मण थे।
(२) सूरदास वल्लभाचार्य से १० दिन छोटे थे।
(३) सूरदास जन्मांध थे।
(४) सूरदास ने सवा लाख पद बनाये।
(५) सूरदास ने साहित्य लहरी की रचना नंददास के लिये की।
(६) सूरदास एक बार अकबर से मिले थे।
(७) सूरदास का जन्म सीही ग्राम में हुआ था।

इन सब जनश्रुतियों का समर्थन सम्प्रदाय ग्रंथों से हो जाता है। इन सब आधारों की सहायता से डाक्टर गुप्त ने सूर के जीवनवृत्त के पूर्णतया निर्माण की चेष्टा की है। उनके निष्कर्ष इस प्रकार है :—

सूरदास का जन्मस्थान दिल्ली से ४ कोस ब्रज की ओर स्थित सीही ग्राम था। वैराग्य के बाद वे गऊघाट पर रहते थे

१. जन्मस्थान और निवास स्थान और कभी कभी रुनकता भी चले जाते थे। वास्तव में प्राचीन रुनकता गऊघाट से लगा हुआ ग्राम था। बाद में वे गोवर्धन पर रहे और मृत्यु के समय पारसोली में रहने लगे थे। बीच-बीच में मथुरा, वृन्दावन आदि भी जाते रहे होंगे, परन्तु वे ब्रजभूमि के बाहर कभी नहीं गये।

'वल्लभ दिग्विजय' के अनुसार

२. जाति वे सारस्वत ब्राह्मण थे।

३. माता-पिता और कुटुम्ब

हरिराय जी की वार्ता के अनुसार सूरदास के माता पिता निर्धन ब्राह्मण थे। इनसे बड़े तीन भाई और थे। सूरदास अंधे थे। वे छोटी आयु में घर को छोड़ कर अपने गाँव से ४ कोस की दूरी पर तालाब के किनारे रहने लगे थे। उन्होंने विवाह नहीं किया था।

४. सूर जन्मांध थे या नहीं

सूर जन्मांध थे—"जन्म पाछे नेत्र जाय तिनको आंधरो कहिये, सूर न कहिये, और ये तो सूर हैं" (हरिराय)। वे हमारी इस बात से सहमत नहीं हैं कि सूर वृद्धावस्था में अंधे हुए थे। वे अनेक प्रसंगों में उनकी दिव्य दृष्टि पर विश्वास करते हैं।

५ शिक्षा, पांडित्य, व्यक्तित्व

शिक्षा-दीक्षा का विशेष उल्लेख नहीं मिलता; परन्तु उनका कंठ अच्छा था और सत्संग से वह अच्छे गायक हो गये थे। वे शकुन भी बताते थे। 'स्वामी' होने से पहले वे गीत और शकुन के लिए प्रसिद्ध हो गये थे। उनका व्यक्तित्व विनम्रतापूर्ण एवं आकर्षक रहा होगा।

६—वल्लभ-सम्प्रदाय में प्रवेश के बाद सूरदास के जीवन पर विशेष सामग्री मिलने लगती है। परन्तु महत्त्वपूर्ण जो है, वे तत्संबंधी तिथियाँ हैं।

(क) जन्म तिथि

डा० गुप्त सूरसारावली की रचना साहित्य लहरी से लगभग ४—५ वर्ष पहले मानते हैं, इस प्रकार सूरसारावली की रचना सूर की ६७ वर्ष की अवस्था में और साहित्य लहरी की रचना ७२ वर्ष की अवस्था में (१६०७)। इस प्रकार जन्म संवत् १५३५ ठहरता है जो उस जनश्रुति से मेल खा जाता है जो सूर को वल्लभ से १० दिन छोटा बताता है (वल्लभ का जन्म सं० १५३५ वि० है)। नाथद्वारे में सूरदास का परंपरागत जन्मोत्सव वैशाख सुदी ५ को मनाया जाता है।

सूरदास लगभग सं० १५६६ में श्रीवल्लभ की शरण में आये। इस समय उनकी आयु लगभग ११ वर्ष थी। 'निज वार्ता' से पता लगता है कि सं० १५७२ में विट्ठलनाथ का जन्म हुआ और जब उन्हें लेकर श्रीनाथजी के मंदिर में वल्लभ आये तो सूर ने अपने के। ढाढी रूप मान कर बधाई दी—

(ख) शरणागति-समय

नंन्द जू मेरे मन आनन्द भयो
हो सुनि गोवर्धन आयो

लेखक का कहना है कि सूरदास की मृत्यु लगभग १६३८ अथवा १६३६ वि० में हुई। उस समय सूर की आयु लगभग १०३ वर्ष की थी। वे श्रीविट्ठलनाथ का निधन सं० १६४२ में मानते हैं।

(ग) गोलोक-वास-तिथि

उनका कहना है कि अकबर ने सन् ई० १५७६ में सूर से भेंट की। भेंट मथुरा में हुई। सूर उस समय वहीं थे। भेंट की एक दूसरी वैयक्तिक तिथि १५७७ ई० भी उन्होंने अनुमानित की है।

(घ) अकबर से भेंट

सूरदास के ग्रंथों का लेखक ने विशद विवेचन किया है। कुछ नए सूर कथित ग्रंथो का भी उल्लेख है जैसे सूर रामायण, मानलीला, राधारस केलि कौतूहल, सूरशतक, हरिवंश टीका, भँवरगीत, दानलीला, सूरसाठी, सेवाफल। इनमें से वे निम्नलिखित ग्रंथों के सूरसागर का ही रूप या अंश मानते हैं—दशम स्कंध, पद, नागलीला, गोवर्द्धन-लीला, सूर रामायण, सूरसाठी, मानलीला आदि। 'प्राण प्यारी' के वे सूर-कृत नहीं मानते या अधिक से अधिक संदिग्ध रचना कहते हैं। नल दमयंती के वे सूर का लिखा नहीं समझते। हरिवंश टीका के भी वे अष्टछाप वाले सूरदासकृत नहीं मानते क्योंकि यह संस्कृत में है और सूर भाषा में ही टीका करते। 'सेवाफल' के सूर-कृत मानते हैं। 'रामजन्म' के वे किसी रामोपासक सूरदास का लिखा

मानते हैं और कुछ वैसे ही कारणों से 'एकादशी माहात्म्य' को भी उसी श्रेणी में रखते हैं। वास्तव में सूर के प्रामाणिक ग्रंथ तीन ही हैं—सूरसागर, साहित्य लहरी और सारावली। सूरसागर में फुटकर शीर्षक ग्रंथों का समाहार हो जाता है। इन पुस्तकों का रचनाकाल उन्होंने निर्धारित नहीं किया, परन्तु साहित्य लहरी के संग्रह की तिथि (१६०७) और सूरसारावली की रचना तिथि (१६०२) उन्होंने जीवन-संबंधी विवेचना में दी है।

पुष्टिमार्ग और अष्टछाप कवियों के काव्य की अन्तर्धारा समझने के लिए डा० दीनदयालु गुप्त का अष्टछाप-विषयक अध्ययन विशेष उपयोगी है। आशा है, वे अन्य अष्टछाप कवियों का अष्टछापी अध्ययन उपस्थित करके इस विषय को पूरा कर देंगे।